काव्यशास्त्रीय निबन्ध

डॉ० वेंकट शर्मा

काव्यशास्त्रीय निबन्ध

डॉ० वेंकट शर्मा

पल्लव प्रकाशन दिल्ली

KAVYASHASTRIYA NIBANDH

Dr. VENKAT SHARMA

मूल्य : 90 रुपये / संस्करण : प्रथम / प्रकाशन वर्ष : 1987
प्रकाशक : पल्लव प्रकाशन, 1458, मालीवाड़ा, दिल्ली-110006
मुद्रक : मानस प्रिंटिंग प्रेस, IX/4753, पुराना सीलमपुर, दिल्ली-110031

काव्यशास्त्रीय निबंध — डॉ० वेंकट शर्मा

पुरोवाक्

काव्यशास्त्रीय निबन्धों का यह संकलन मुख्यतः शाब्दबोध विमर्श तथा रस-मीमांसा जैसे गुरुगम्भीर और विचारणीय विषयों के अन्तर्भाष्य की प्रेरणा से अनुप्राणित है। इसमें प्रथमतः शाब्दबोधविमर्श के उन प्रमुख पक्षों का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है जो व्याकरण, न्याय और मीमांसा दर्शन के सुधी-चिंतकों द्वारा तर्कसंगत प्रणाली से उद्घाटित किये गये हैं। शब्दब्रह्म के साक्षात् प्रतिरूप काव्य साहित्य की रसचर्वणा अर्थप्रतीति की आवश्यकता और उपयोगिता असंदिग्ध है, क्योंकि उसकी प्रक्रिया के माध्यम से ही हमारा आत्मसंवित् रसबोध की सत्वोद्रेकमयी भूमिका में प्रवेश करता है। उस भूमिका का साधारणीकृत प्रत्यय हमारे भावलोक की अनन्त संवेदनाओं से संसिक्त होकर रसदशा की जिस पराकोटि तक पहुँचता है, वही ब्रह्मानन्दसविध काव्यानन्द का लोकोत्तर क्षेत्र है। शब्दार्थ प्रतीति की विवेचना के पश्चात् भावऔर रस का अन्तर्सम्बन्ध निरूपित करते हुए उन दोनों के पारस्परिक आश्रयाश्रयि भाव की मीमांसा की गयी है, जिसके अन्तराल में काव्यरस का अनन्त सागर तरंगायित होता है। तत्वतः रस ही काव्य का आत्मपक्ष है जिसे तैत्तिरीय उपनिषद् (2-7) में 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति' जैसे महावाक्यों में सूत्रबद्ध किया गया है। उसकी महत्ता और प्रतिष्ठा से अभिभूत होकर मैंने इन निबन्धों के अनुक्रम में 'रस का स्वरूप और आस्वाद', 'काव्यरस का अधिष्ठान', 'रसों की सुखदुःख-रूपता' तथा 'रस-विघ्न और उनका निराकरण' जैसे विषयों की शास्त्रसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की है। इस विवेचना में रस के स्वरूप, आस्वाद, अधिष्ठान, अन्तराय तथा उसकी निष्पत्ति से संबद्ध विविध मत-मतान्तरों तथा ऊहापोहों का सारगर्भित विश्लेषण तथा विवेकसम्मत निर्णय करने की चेष्टा भी उपबृंहित है, जिसके द्वारा इस तथ्य की उपलब्धि की जा सकती है कि रसानुभूति मूलतः आनन्द विधायिनी है अथवा मुख्यतः सुखदुःखमयी संवेदनाओं की समन्विति। यह विवेचन मुख्यतः आनन्दवादी आचार्य अभिनवगुप्त तथा उपचयवादी आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र जैसे तत्व चिन्तकों की मान्यताओं पर आधारित है जिन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोणों से रस मीमांसा के क्षेत्र में अनेक प्रकार की विचारोत्तेजक सामग्री संयोजित की है। विवेचना के इसी क्रम में करुण रस का आस्वाद्य पक्ष तथा 'उपनिषद्' विशेष रूप से व्याख्यात हुआ है, जिसे 'एको रसः करुण एव' कहने में महाकवि भवभूति को किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं हुआ था।

संकलन के परवर्ती निबंध काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पक्षों के 'तालमेल' से सघटित हैं जिनमें क्रमश भक्तिरस और शीतरस का 'रूप विमर्श' तथा उनकी 'आस्वाद्यता एव स्थिति' का विश्लेषण आचार्य रूप गोस्वामी और अभिनवगुप्त की मान्यताओं के अनुरूप किया गया है। 'प्रबन्ध काव्य की रसभिव्यजकता' का उद्घाटन करने म मैंने आचार्य आनन्दवर्धन के विचारो को प्रमुखता दी है क्योंकि इस विषय का तत्व चिन्तन करने म वे अग्रणी रहे हैं। 'काव्य पुरुष का तत्व निष्पन्द' तथा कवि-समय अथवा काव्यरूढियों' की विवेचना म आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमासा' सर्वाधिक प्रामाणिक समझी जाती थी, अत इन निबन्धो का कलेवर उनकी मान्यताओ के अधिक अनुरूप है। 'सस्कृत काव्यशास्त्र का वैचारिक विकास' तथा 'नाट्य शास्त्र का व्याख्यान' मेरी अधीन उपलब्धियों का परिणाम है। सकलन के अन्तिम दो निबन्ध 'काव्य सर्जना म प्रतिभा का महत्व' तथा 'भारतीय जीवन दर्शन और काव्य' विशुद्ध विवेचनात्मक तथा परिचयमूलक हैं, जिनमे इस बात का विश्लेषण किया गया है कि कवि प्रतिभा ही काव्य सर्जना की मूल शक्ति है, जिसका अनन्त प्रसार 'भारतीय जीवन दर्शन और काव्य' के अणु-परमाणुओं म भी सचलित हुआ है। सक्षेप म इस सकलन के ये ही प्रमुख विचारकण हैं, जिन्हे पन्द्रह निबन्धो की एकावली मे सग्रथित कर मैंने इसे 'काव्यशास्त्रीय निबन्ध' की अभिधा से अलकृत किया है।

फोर्ट रोड, सागर चौक,
जोधपुर (राजस्थान)

वेंकट शर्मा

अनुक्रमणिका

1

शाब्दबोध विमर्श

शाब्दबोध परिचय

भारतीय साहित्य में शाब्दबोधविमर्श अथवा काव्यार्थप्रतीति का विवेचन अत्यंत व्यापक एवम् गम्भीर दृष्टि से किया गया है। उसका मुख्य सम्बन्ध व्याकरण, न्याय और मीमांसा संज्ञक शास्त्रों से है जिनमें क्रमशः पदों, प्रमाणों और वाक्यार्थों का विश्लेषण विशेष रूप से होने के कारण उन्हें 'पदशास्त्र', 'प्रमाणशास्त्र', और 'वाक्यशास्त्र' भी कहा जाता है। शाब्दबोध में इन तीनों शास्त्रों की आवश्यकता पड़ती है, अतः इन तीनों शास्त्रों के निष्णात विद्वान् 'पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ' की गौरवमयी उपाधि से विभूषित किए जाते हैं। अन्य शास्त्रों में तो वाचक और लक्षक संज्ञक दो प्रकार के शब्द माने गए हैं, किन्तु साहित्यशास्त्र में उन दोनों के साथ 'व्यंजक' नामक तृतीय शब्द जोड़कर उनकी तीन संख्याएँ निर्धारित कर दी गई हैं। शब्दों की इस क्रमबद्धता का भी एक विशेष कारण है। 'वाचक' शब्द मुख्यार्थ का बोधक है अतः उसे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। 'लाक्षणिक' शब्द वाचक शब्द के आश्रित रहता है अतः उसे द्वितीय स्थान पर रखा गया है और 'व्यंजक' शब्द में वाचक और लक्षक नामक दोनों प्रकार के शब्दार्थ अपेक्षित होते हैं, अतः वह तृतीय स्थान का अधिकारी है। यद्यपि व्यंजक शब्द की विवेचना काव्येतर शास्त्रों में नहीं हुई है तथापि काव्यशास्त्र का तो वह सर्वस्व है क्योंकि उसी के आधार पर कालांतर में ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो सकी है। यों तो वाचक, लक्षक और व्यंजक नामक तीनों शब्द-प्रकार शाब्दबोधविमर्श के अन्तर्गत विवेचित किए जाते हैं, किन्तु तत्वतः वे शब्द के भेद न होकर उसकी उपाधियाँ हैं। इसका कारण यह है कि वृत्तिभेद से एक ही शब्द कहीं वाचक हो सकता है तथा कहीं लक्षक तथा व्यंजक भी रह सकता है। इस बात को इस उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है कि जिस प्रकार एक ही व्यक्ति उपाधि-भेद से भिन्न-भिन्न स्थलों और परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रखता है, उसी प्रकार एक ही शब्द अनेक प्रकार के प्रयोगों में विविधरूपा शक्तियों से अभिहित किया जा सकता है। उपाधि-कृत भेद से

शब्दों की त्रिविधता की भाँति उनके अर्थों के भी तीन प्रकार हैं, जिन्हें क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ कहते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि मीमांसक शब्द के उपर्युक्त तीन अर्थों के अतिरिक्त 'तात्पर्यार्थ' नामक उसका एक चतुर्थ भेद भी मानते हैं। ये मीमांसक 'अभिहितान्वयवादी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मीमांसकों से विरोधी विचारधारा रखने वाले मीमांसक (प्रभाकरगुरु तथा शालिकनाथ मिश्र आदि) 'अन्विताभिधानवादी' कहलाते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त और भी मीमांसक हैं जो वाक्यार्थ के विषय में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं, किन्तु उनकी स्थिति सामान्य श्रेणी की है अतः उनके मतों में उल्लेखनीय वैशिष्ट्य न होने के कारण उन्हें प्रमुखता प्राप्त नहीं हुई है। चूँकि अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने 'तात्पर्यार्थ' नामक चतुर्थ अर्थ की परिकल्पना पर अपना अभिमत विवचित किया है अतः हम सर्वप्रथम तात्पर्यवृत्ति और अभिहितान्वयवाद का अभिप्राय स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं। तदुपरांत अवशिष्ट तीन प्रकार के शब्दों और अर्थों की विवेचना की जाएगी, जिनका प्रयोग और उपयोग काव्य-रचना और काव्य-विवेचना के संदर्भ में पद-पद पर किया जाता है।

तात्पर्य वृत्ति और अभिहितान्वयवाद

'तात्पर्यवृत्ति' को पृथक् शक्ति मानने वाले आचार्यों ने वाक्यबोध के लिए अभीष्ट 'आकांक्षा', 'योग्यता' और 'सन्निधि' नामक त्रिविध वाक्य-धर्मों की अनिवार्यता पर बल देकर उन तीनों के योग में उसका अस्तित्व स्वीकार किया है। उनका कहना है कि आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के कारण पदार्थों का अन्वय होने पर जो वाक्यार्थ प्रकट होता है, वह उक्त तीनों पदार्थों से पृथक् एवम् विशिष्ट रूपयुक्त होता है, जिसे केवल तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही बोधगम्य किया जा सकता है। वस्तुतः तात्पर्यवृत्ति का कार्य अभिधा आदि शब्द-वृत्तियों द्वारा उद्बुद्ध पदों और उनके अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित कर उनके माध्यम से वाक्यार्थ का ज्ञान कराना है जिसका अर्थ यह है कि वाक्यार्थ ही तात्पर्यार्थ है अर्थात् वाक्य ही तात्पर्यार्थ का वाचक है। तात्पर्यवादियों की मान्यता का स्पष्टीकरण 'घट करोति' जैसे उदाहरणों द्वारा सहज दृष्टि से किया जा सकता है। *इस विषय में भाट्टमीमांसक, नैयायिक तथा वैशेषिक आचार्यों के अभिमत* विशेषतः उल्लेखनीय हैं। मीमांसकों का कहना है कि प्रत्येक वाक्य का पर्यवसान क्रिया-बोध में होता है अर्थात् प्रत्येक वाक्य किसी न किसी प्रकार की क्रिया के विषय में कुछ निर्देश करता है। यदि कोई व्यक्ति 'घटम् करोति' जैसे वाक्य का प्रयोग करे तो उसका अर्थ घटरूप कर्म से सम्बद्ध क्रिया ही होगा। उक्त वाक्य में 'घटम्' और 'करोति' नामक जो दो पद हैं, उनमें 'करोति' पद क्रिया का वाचक है तथा 'घटम्' पद 'घट' प्रकृति और 'अम्' प्रत्यय से बना है, जिनके

योग से 'घट' नामक वस्तु का ज्ञान होता है। 'घटम्' पद में प्रयुक्त 'अम्' प्रत्यय कर्मत्व का वाचक है, अत. 'घटम्' पद का अर्थ 'घटाश्रित कर्मत्व' अथवा 'घटरूप कर्म' है। 'घटम् करोति' वाक्य में जब हमें क्रमश. 'घटाश्रित कर्मत्व' तथा 'करोति' क्रिया के अर्थ अभिधा-शक्ति द्वारा ज्ञात हो जाते हैं तो उन दोनों पदों का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए हमें 'तात्पर्य' नामक स्वतंत्र वृत्ति की परिकल्पना करनी पड़ती है क्योंकि उन दोनों का सम्बन्ध निर्दिष्ट करने वाला कोई भी शब्द उक्त वाक्य में नहीं है। मीमांसकों का कहना है कि तात्पर्यवृत्ति में ही ऐसी शक्ति है जो योग्यता, आकांक्षा तथा सन्निधि द्वारा प्रवृत्त होकर पदों द्वारा बोधित पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान करा सकती है। उस वृत्ति से बोधित होने वाला अर्थ ही तात्पर्यार्थ है, जिसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वाक्य तात्पर्यार्थ का बोधक होता है।

तात्पर्यवृत्ति का समर्थन करने वाले अभिहितान्वयवादी आचार्यों के मत में दो बातें विशेषत. उल्लेखनीय हैं। उनकी प्रथम मान्यता तो यह है कि पदों के द्वारा 'विशेष' का बोध न होकर केवल 'जाति' का ही बोध होता है। 'घटम् करोति' वाक्य का अर्थबोध निरूपित करते हुए उन्होंने लिखा है कि उस वाक्य में 'घटम्' पद द्वारा 'यह घट' अथवा 'वह घट' जैसा बोध न होकर घटत्व जाति का तथा 'करोति' पद द्वारा सामान्य क्रिया का ही बोध होता है जिनके सामान्य अर्थों की पारस्परिक सम्बद्धता तात्पर्यवृत्ति द्वारा संयोजित की जाती है। इन आचार्यों की दूसरी मान्यता यह है कि तात्पर्यवृत्ति का कार्य पदों में पारस्परिक सम्बन्ध निर्दिष्ट करना न होकर पदार्थों में सम्बन्ध प्रदर्शित करना है। उनका कहना है कि 'घट' प्रकृति और 'अम्' प्रत्यय में जो आश्रयाश्रयिभाव-सम्बन्ध है, वह तात्पर्य-वृत्ति से ज्ञात नहीं होता अपितु प्रकृति और प्रत्यय की समीपता से ही ध्यान में आता है। अभिप्राय यह है कि तात्पर्यवादियों के मत से वाक्यार्थ-बोध में तात्पर्यार्थ की सत्ता अनिवार्य है।

दार्शनिक प्रतिपत्ति के विचार से तात्पर्यवृत्ति से सम्बद्ध अभिहितान्वयवाद का सिद्धांत अत्यंत जटिल है। उसका स्पष्टीकरण करने के लिए विद्वानों ने जिस प्रकार की शब्दावली प्रयुक्त की है, उससे उसकी दुरूहता और भी अधिक बढ़ गई है, किन्तु हमें उसके सूक्ष्म विवेचन से विशेष प्रयोजन नहीं है। हम तो यहाँ पर उसका सामान्य स्वरूप ही निरूपित करना चाहते हैं जिससे यह स्पष्ट हो सके कि इस सिद्धांत के अनुसार वाक्यार्थ का बोध किस प्रकार होता है? यह तो एक स्पष्ट बात है कि वाक्यों का निर्माण पदों से होता है और पदार्थों द्वारा ही उनका तात्पर्य समझा जाता है किन्तु प्रश्न यह है कि उस अर्थ-बोध की प्रक्रिया क्या है? अभिहितान्वयवादियों का मत है कि हमें किसी भी वाक्य में सर्वप्रथम पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है। उस प्रतीति के पश्चात् उन पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध, जो पदों से उपस्थित नहीं हो सका हो, वाक्यार्थ की मर्यादा

से प्रस्तुत होता है। इसका अभिप्राय यह है कि पहले पदों द्वारा अभिधाशक्ति से पदार्थों का ज्ञान होता है और तदुपरान्त वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध समझा जाता है जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ-बोध के लिए अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण ही यह मत 'अभिहितान्वयवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत की मुख्य विचारणा यह है कि पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों से न होकर वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है इसलिए उसे 'तात्पर्यार्थ' कहना समीचीन है। इस प्रकार का अर्थ-बोध कराने वाली शब्द-शक्ति का नाम 'तात्पर्याख्याशक्ति' है जो अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीन प्रकार की शक्तियों से पृथक श्रेणी की है। चूंकि कुमारिल भट्ट आदि मीमांसक व्यंजना शक्ति को नहीं मानते, अतः उनकी दृष्टि से 'तात्पर्याख्याशक्ति' चतुर्थ शब्द शक्ति न होकर तृतीय शब्द-शक्ति ही है।

आचार्य मम्मट ने अपने सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में अभिहितान्वयवाद का जो परिचय दिया है, वह अपनी क्लिष्ट रचना-शैली के कारण कुछ दुरूह सा बन गया है। उनके कथन का सारांश यह है कि पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदार्थों द्वारा उपस्थित न होने पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल से आभासित होता है जिसे तात्पर्यार्थ कहते हैं। यदि मम्मट के कथन का अनुवाद किया जाय तो वह अनुवाद इस प्रकार होगा—

'जिन पदार्थों का स्वरूप आगे कहा जाएगा, ऐसे (पदों द्वारा अभिहित केवल) पदार्थों का आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से परस्पर सम्बन्ध होने से पदों से प्रतीत होने वाला अर्थ न होने पर भी (तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ होने के कारण) विशेष प्रकार का तात्पर्यार्थरूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है, ऐसा अभिहितान्वयवादियों का मत है।'[1]

मम्मट ने उक्त वाक्य में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि सरीखे पदों का जो प्रयोग किया है, वह विशेष महत्व रखता है। आकांक्षा का अर्थ है 'श्रोता का जिज्ञासारूप', योग्यता का अर्थ है 'पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध' में बाधा का अभाव और सन्निधि से तात्पर्य है 'एक ही व्यक्ति द्वारा अविलम्ब रूप से पदों का उच्चारण'। वस्तुतः वाक्य में ये तीन गुण रहने आवश्यक हैं, क्योंकि इन विशेषताओं से युक्त होने पर ही कोई पद-समूह वाक्य कहा जाता है। इन तीनों का समर्थन करते हुए अभिहितान्वयवादी कहते हैं कि सर्वप्रथम पदों से केवल अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं, तदुपरान्त पदों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल से तात्पर्याख्याशक्ति द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध-रूप वाक्यार्थ का बोध होता है।

---

1. आकांक्षायोग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति अभिहितान्वयवादिनां मतम्।

अन्विताभिधानवाद के अनुसार वाक्यार्थबोध

'अन्विताभिधानवाद' सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य प्रभाकर गुरु और शालिकनाथ मिश्र आदि हैं। उनके मतानुसार अभिहितान्वयवादियों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि पहले केवल पदार्थ अभिहित होते हैं और तदुपरांत उनका अन्वय होने से वाक्य का अर्थ-बोध होता है। इन आचार्यों के विचारानुसार प्रथमतः अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध किया जाता है और पदार्थों का अन्वय पूर्व सिद्ध होने के कारण 'तात्पर्याख्याशक्ति' की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए इन आचार्यों ने लिखा है कि पदों से पदार्थों की जो प्रतीति होती है, वह 'सकेतग्रह' के पश्चात् होती है और संकेत का ग्रहण व्यवहार से होता है जिसका अभिप्राय यह है कि यह सकेत-ग्रह केवल पदार्थ मे न होकर किसी 'अन्वित पदार्थ' में होता है, अतः अन्वित का ही अभिधान अर्थात् अभिधा से बोध न होने के कारण 'अन्विताभिधान' मानना उचित है न कि 'अभिहितान्वय' मानना। मम्मट ने अन्विताभिधानवादियों का मत 'वाच्य एव वाक्यार्थः इति' सूत्र द्वारा व्यक्त किया है जिसका अभिप्राय यह है कि पदों द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है, अतएव पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध-रूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है, जिसे तात्पर्याख्याशक्ति का अनुवर्ती मानना उचित नहीं है।

शास्त्र-जगत् में अभिहितान्वयवाद की प्रतिष्ठा पहले हुई और अन्विताभिधानवाद की तदुपरांत काल में। प्रथम सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक आचार्य कुमारिल भट्ट हैं तो द्वितीय सिद्धान्त के प्रवर्तक उन्हीं के शिष्य श्रीप्रभाकर गुरु। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रभाकर गुरु' यद्यपि कुमारिल भट्ट के ही शिष्य थे, किन्तु अपनी अलौकिक विवेक-शक्ति के कारण वे आचार्य द्वारा भी समादृत किये गये और उनके लिए 'गुरु' पद एक घटना-विशेष के कारण रूढ़ हो गया। उनकी प्रतिभा से अभिभूत होकर स्वयम् आचार्य कुमारिल भट्ट ने उन्हें 'गुरु' पद से गौरवान्वित किया था। कालान्तर में 'गुरु' शब्द उनका पर्याय बन गया और उनका मत 'इतिगुरुमतम्' पद से ही उद्धृत किया जाने लगा।

अन्विताभिधानवादियों का मत है कि 'चैत्र गामानय', 'देवदत्त अश्वमानय', 'देवदत्त गां नय' अर्थात् 'चैत्र, गाय लाओ', 'देवदत्त, घोड़ा लाओ, देवदत्त, गाय ले जाओ' आदि विभिन्न वाक्यों के प्रयोगों और उनकी क्रियाओं को देखकर ही बालक शब्द-विशेषों से अर्थ-विशेषों का निश्चय करता है, जिसका आशय यह है कि इस प्रकार की *अन्वय-व्यतिरेक की पद्धति से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति करने वाला* वाक्य ही प्रयोगार्ह होता है। अतः वाक्य में स्थित अन्वित पदों का ही अन्वित पदार्थों के साथ संकेत-ग्रहण किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि 'अन्वय-विशिष्ट' अथवा 'परस्परान्वित पदार्थ' ही वाक्यार्थ है न कि 'अनन्वित पदार्थों का वैशिष्ट्य।'

सूत्र रूप से कहा जा सकता है कि यदि अन्विताभिधानवादियों के मतानुसार 'विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थाः' हैं तो अभिहितान्वयवादियों की विचारधारा में 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' मानना उचित है। व्यावहारिक दृष्टि से हम अन्विताभिधानवादियों का मत ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है क्योंकि अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होते हैं न कि पदार्थों की उपस्थिति के पश्चात् उनका अन्वय होता है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि वाक्यार्थ-बोध के जिन दो मतों का विश्लेषण 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद' के नाम से किया गया है उनके समन्वय की चेष्टा भी कतिपय आचार्यों ने की है। आचार्य मम्मट ने 'शब्द-व्यापार-विचार' के अन्तर्गत दोनों के समुच्चय का प्रतिपादन किया है तो आचार्य मुकुल भट्ट ने 'अभिधावृत्ति-मातृका' नामक ग्रंथ में इस सिद्धान्त पर बल दिया है कि यों तो पदों का अपना-अपना सामान्यभूत वाच्य अर्थ होता है किन्तु वाक्यों में पदार्थ परस्पर अन्वित ही होते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि यदि केवल पदों की अपेक्षा से अभिहितान्वयवाद उत्पन्न होता है तो वाक्य की अपेक्षा से अन्विताभिधानवाद की सिद्धि होती है। इस प्रकार इन दोनों के समुच्चय का सिद्धान्त ही ग्राह्य है। इस विषय में 'अभिधावृत्ति-मातृकाकार के शब्द उल्लेखनीय है —

'अन्येषां मते तु पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्यार्थः वाक्यस्य तु परस्परान्वित-पदार्थाः इति पदापेक्षया अभिहितान्वयः वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम्। एवं च तयोः अभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चयः इति।'

'सामान्य-विशेष' में ही 'संकेतग्रह' कराने की शक्ति है

'अन्वित पदार्थ में ही संकेतग्रह हो सकता है, केवल पदार्थ में नहीं' यह बात तो व्यवहारसंगत है, किन्तु शाब्दबोध की प्रक्रिया को समझने के लिए इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह अन्वय या सम्बन्ध किसी विशेष अर्थ के साथ होता है अथवा सामान्य अर्थ के साथ? यदि विशेष अर्थ के साथ अन्वित अर्थ में 'शक्तिग्रह' माना जाए तो 'गाय लाओ' आदि के व्यवहार से होने वाला शक्तिग्रह केवल 'गो-विशिष्ट आनयन' पर्यन्त ही सीमित हो जाएगा और उसमें 'अश्वमानय' अर्थात् घोड़ा लाओ जैसे प्रयोगों का अर्थज्ञान नहीं हो सकेगा। इसका परिणाम यह होगा कि किसी एक अर्थ के साथ अन्वित रूप में शक्ति-ग्रह मानने पर प्रत्येक शब्द का भिन्न-भिन्न वाक्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ होने वाला प्रयोग अन्य वाक्यों में प्रयुक्त उसी शब्द से अर्थ-बोध नहीं करा सकेगा। वस्तुतः सामान्य रूप में अन्वित अर्थ में ही संकेतग्रह माना जा सकता है, किन्तु इस सिद्धान्त में किसी प्रकार की भ्रान्त भावना से बचने के लिए यह कहना अधिक उचित है कि यों तो सामान्यतः अन्य पदार्थ के साथ

अन्वित पदार्थ से ही सकेतग्रह होता है, विशेष मे अन्वित रूप मे नही, तथापि परस्पर सम्बद्ध पदार्थो के तथाभूत विशेष रूप ही होने से 'निर्विशेष न सामान्य' इस नियम के अनुसार सामान्य से अवच्छेदित होने पर ही वह सकेतग्रह विशेष रूप मे परिणत हो जाता है। अन्विताभिधानवादियो का यह मत यथेष्ट रूप मे माननीय है, क्योकि विशेष के बिना कोई सामान्य नही रहता और सामान्य रूप मे अन्वित अर्थ का पर्यवसान भी विशेष मे ही होता है। ऐसी परिस्थिति मे 'सामान्य विशेष' मे ही सकेतग्रह मानना समुचित है।

'अतिविशेष' मे 'सकेतग्रह' मानना उचित नहीं है

सकेतग्रह अथवा अर्थबोध की प्रक्रिया के विश्लेषण मे सामान्य और 'सामान्य-विशेष' के अतिरिक्त 'अतिविशेष' पद का भी उपयोग किया जाता है। यदि सामान्य का अर्थ 'साधारण रूप से अन्वितत्व मात्र' माना जाए तो 'सामान्य-विशेष' का अर्थ 'कर्मत्वादि रूप से अन्वितत्व' कहा जा सकता है। उस स्थिति मे 'अतिविशेष' का अर्थ होगा 'गो-अश्व आदि व्यक्ति-विशेष के साथ अन्वितत्व'। व्यजनावादियों का मत है कि सामान्य रूप से अन्वित अर्थ मे संकेतग्रह मानने से काम नही चल सकता, क्योकि ऐसा मानने पर तो यह व्यवहार हो जाएगा कि यदि किसी को घडा मँगाना अभीष्ट है और वह 'घडा लाओ' कहने के स्थान पर 'वस्तु लाओ' कहे तो उससे आनयन-क्रिया करने वाला व्यक्ति 'घडा लाओ' यह अर्थ नही समझ सकेगा। यो तो 'वस्तु' शब्द से सभी वस्तुओं का बोध होने के कारण वह घडे का भी बोधक हो सकता है, किन्तु 'वस्तु लाओ' इस वाक्य मे सामान्य रूप से घट के ग्राहक 'वस्तु' शब्द से काम नही चलता। उसके लिए विशेष रूप से 'घट' शब्द का ही प्रयोग करना होगा। इस दोष से बचने के लिए ही अन्विताभिधानवादियो ने 'सामान्य-विशेष' मे सकेत-ग्रह माना है। 'अतिविशेष' रूप मे सकेतग्रह मानना उचित नही है, क्योकि वैसा मानने पर उसमे 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' सज्ञक दोष आ जाते है। इस विषय मे व्यजनावादियो का कहना है कि किसी वाक्यार्थ मे व्यक्तिरूप 'अतिविशेष' अर्थ असकेतित होने से वाक्यार्थ नही हो सकता, अत. उसका बोध कराने के लिए अभिधाशक्ति से भिन्न शब्द-शक्ति की आवश्यकता होती है। वस्तुत. वह शक्ति 'व्यजना' ही है, क्योकि उसी मे व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने की क्षमता रहती है।

शब्द-शक्ति और अर्थप्रतीति के विविध रूप

प्रयोग अथवा अनुभव से सिद्ध है कि काव्य में प्रयुक्त किए गये प्राय: तीनो प्रकार के शब्दों और अर्थों का व्यजकत्व भी होता है जो कही वाच्यार्थ की व्यंजना से व्यक्त होता है तो कही लक्ष्यार्थ कि ध्वनि से निरूपित किया जाता है। काव्य-साहित्य मे ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध होते है जहाँ व्यंग्यार्थ का भी व्यजकत्व

होता है। इन भिन्न भिन्न अर्थों के व्यंजकत्व का विवेचन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम प्रथमत वाचकादि शब्दो के स्वरूप तथा उनकी शक्तियो से परिचित हो जाएँ जिनसे हमे वाच्यादि अर्थों की बोध-प्रक्रिया का ज्ञान हो सके और उसी क्रम मे शब्द-शक्ति और अर्थ-प्रतीति के विविध रूपो की व्यंजकता का ज्ञान करने मे भी सुविधा रहे।

अभिधा: शब्दबोध की प्रमुख शक्ति

शब्द-बोध की प्रमुख शक्ति के रूप मे अभिधावृत्ति की महत्ता सभी आचार्यों ने स्वीकार की है। उस शब्द-शक्ति द्वारा ज्ञात होने वाले अर्थ को अभिधेयार्थ अथवा वाच्यार्थ भी कहा जाता है। शब्द की प्रमुख शक्ति के रूप मे व्याख्यात होने के कारण उसमे अभिहित अर्थ मुख्यार्थ भी कहलाता है। उससे बोधित होने वाले शब्द की सज्ञा 'वाचक' है, जिससे सकेतग्रह को ध्यान मे रखते हुए आचार्यों ने अर्थ-प्रतीति के अनेक साधन निरूपित किए हैं।

अभिधा शक्ति, वाचक शब्द और सकेतग्रह अथवा अर्थ प्रतीति के साधन

अभिधा-शक्ति मे सर्वप्रथम वाचक शब्द का विचार किया जाता है, जिसका सामान्य लक्षण यह है कि वह शब्द अभिधा शक्ति द्वारा साक्षात् सकेतित अर्थ व्यक्त करता है।[1] लोक-व्यवहार से प्रकट है कि सकेत-ग्रह आदि द्वारा ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है जिसका अर्थ यह है कि सकेत की सहायता से ही कोई शब्द किसी अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करता है। सुतराम् जिस शब्द का जहाँ जिस अर्थ मे अव्यवधान से सकेत-ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है।

छोटे बालकों को किस प्रकार सकेतग्रह होता है, इस विषय के अनेक उदाहरण लोक-व्यवहार से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अन्विताभिधानवादियों ने इसका विवेचन विशेष रूप से किया है। उनका मत है कि छोटे बालक जब बड़ों के मुख से कोई वाक्य सुनते हैं और उसके अनुसार अपने अग्रज या अनुचर आदि को क्रिया करते हुए देखते हैं तो उनके मन पर श्रूयमाण समष्टिवाक्य के समष्टि-भूत अर्थ का एक सस्कार बनता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रसगो मे अनेक बार के शब्द-व्यवहारो द्वारा वे शब्दो के पृथक-पृथक अर्थ समझने लगते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि व्यवहार से सकेतग्रह होता है। सकेतग्रह की उस प्रक्रिया को 'आवापोद्वाप' की प्रक्रिया कहते हैं जिसका अर्थ है 'व्यवहार' मे एक

---

1. साक्षात्सकेतित यो ऽर्थमभिधत्ते स वाचक: (काव्यप्रकाश 2/7)

शब्द को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग करते हुए एक अर्थ के स्थान पर दूसरे अर्थ का अभिनिवेश करना।' उदाहरणार्थ यदि कोई उत्तम वृद्ध किसी मध्यम वृद्ध को पुस्तक लाने की आज्ञा दे और तदुपरांत पुस्तक रखकर लेखनी लाने का आदेश दे और मध्यम वृद्ध उसी के अनुसार क्रिया करे तो उन दोनों प्रकार की क्रियाओं को देखने वाला बालक व्यवहार द्वारा संकेतग्रह करेगा और वह ग्रहण 'आवापोद्वाप' की प्रक्रिया से सम्पन्न होगा। वस्तुतः यह लोक-व्यवहार संकेतग्रह का प्रधान साधन है।

लोकव्यवहार के अतिरिक्त संकेत-व्यवहार के और भी अनेक साधन हैं जो व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्य-शेष, विवृति तथा सिद्ध-पद के सान्निध्य द्वारा अर्थ-बोध या संकेतग्रह कराते हैं।[1] नागेशभट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'परमलघुमंजूषा' में व्याकरण आदि उपर्युक्त आठों (साधनों) का विवेचन किया है जिससे इस बात का पता चलता है कि संकेत का ज्ञान किन-किन उपायों अथवा साधनों से होता है? 'व्याकरण' द्वारा होने वाले संकेत-ज्ञान के उदाहरण में 'भू सत्तायाम्' आदि धातुपाठ तथा 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्र रखे जा सकते हैं जिनसे भू-धातु तथा करण कारक आदि पदों का संकेतग्रह व्याकरण द्वारा होता है। 'उपमान' द्वारा होने वाले अर्थबोध का उदाहरण 'यथा गौस्तथा गवयः' है। इसका यह अभिप्राय है कि जो व्यक्ति गाय को तो जानता है किन्तु गवय (नीलगाय) को नहीं जानता, उसके सम्मुख यदि उपर्युक्त वाक्य कहा जाए तो वह उपमान-प्रमाण की सहायता से 'गवय' पद का भी संकेतग्रह (अर्थबोध) कर लेगा। 'कोष' द्वारा किये जाने वाले संकेतग्रह के निरूपण की कोई आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि कोषकृत अर्थबोध से तो सभी परिचित हैं। 'आप्तवाक्य' द्वारा होने वाले संकेतग्रह के उदाहरण माता-पिता और गुरुजनों के वाक्य हैं जिनके अनुसार बालक संकेतबोध करता है। 'व्यवहार' से होने वाले संकेत-ग्रह का विवेचन हम अन्विताभिधानवादियों की मान्यता के स्पष्टीकरण के प्रसंग में कर ही चुके हैं। 'वाक्यशेष' से अर्थ-बोध होने का अर्थ है किसी शब्द के अर्थ के विषय में संदेह होने पर आगे आने वाले संदर्भ से अर्थ का निश्चय किया जाना। उदाहरणार्थ यदि कोई यह कहे कि 'यव का चरु बनाओ' तो श्रोता को 'यव' पद का अर्थ जानने में कठिनाई होती है, किन्तु जब इसी वाक्य के पश्चात् आने वाले इस वाक्य से कि 'जब अन्य वनस्पतियाँ सूख जाती हैं तो भी यव हरे-भरे होते हैं', श्रोता को 'यव' शब्द का अर्थ अविलम्ब रूप से ज्ञात हो जाता है। 'विवृति' का अर्थ है विवरण या व्याख्या। यह भी अर्थबोध का एक साधन है। उदाहरणार्थ कालिदास की 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' नामक

1. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य। (काव्यप्रकाश 2/8)

पंक्ति का अर्थ-बोध हमें मल्लिनाथ की विवृति (व्याख्या) से होता है, जिसमें 'अत्रिनयन समुत्थ-ज्योति' का अर्थ 'चन्द्रमा' किया गया है। 'सान्निध्य' के द्वारा किए जाने वाले संकेत-बोध का उदाहरण 'रामकृष्णौ' और 'राम लक्ष्मणौ' पद हैं जिनमें प्रयुक्त 'राम' शब्द के अर्थ क्रमश बलराम' और 'दशरथतनय राम' हैं। इसी प्रकार 'रामार्जुनौ' पद में प्रयुक्त राम' का अर्थ 'परशुराम' है। इन अर्थों का निश्चय सन्निध-स्थित पदों के कारण ही होता है।

संकेतबोध के विषय में दार्शनिक प्रतिपत्तियाँ

'संकेतबोध' अथवा शक्तिग्रह का विषय अत्यंत रुचिकर है। विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रतिपत्तियों द्वारा इसकी विवेचना की है। नैयायिकों ने 'अस्मात् शब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरेच्छा संकेत' द्वारा 'संज्ञाओं का संकेत ईश्वरेच्छा से उत्पन्न होता है' ऐसा माना है तो नव्य नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित 'इच्छामात्र संकेत' के आधार पर यह सिद्ध होता है कि संकेत की उत्पत्ति म हमारी इच्छा ही कारण होती है। स्फोटवादी वैयाकरणों की मान्यता है कि न तो ईश्वर की इच्छा ही शब्दार्थों में सम्बन्ध निर्माण कर सकती है और न मनुष्य की कामना ही। वस्तुत पद और पदार्थ में वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है जिसका निर्माण इतरेतराध्यास द्वारा उत्पन्न हुए तादात्म्य के कारण होता है। इस विषय म महर्षि पतञ्जलि का मत है कि किसी पदार्थ को लक्ष्य करके उच्चरित शब्द', जिस पदार्थ को लेकर उस शब्द का उच्चारण किया गया है, वह उसका अर्थ एवं उस शब्द से उस अर्थ का हमें जो बोध होता है वह उसका 'प्रत्यय'—ये तीनों एक दूसरे से वस्तुत भिन्न हैं, किन्तु उनका एक दूसरे पर अध्यास होता है, अत तीनों का संकर होने पर (शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकर पातञ्जलसूत्र 3/17) वे एकरूप से भासमान होते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई अध्यापक अपने विद्यार्थी को यह आज्ञा दे कि 'पुस्तक लाओ' तो इस वाक्य को सुनते ही विद्यार्थी को जो बोध होता है, वह श्रुतिरूप प्रत्यय कहा जा सकता है। विद्यार्थी जिस वस्तु को लाता है, वह पदार्थ और उसका यह प्रत्यय एक दूसरे से भिन्न है। पुस्तक-शब्द, पुस्तक-बोध और 'पुस्तक'—पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होने पर भी उसी प्रकार एकरूप लगते हैं, जिस प्रकार हम 'गौरिति शब्द गौरित्यर्थ , गौरिति ज्ञानम्' का अनुभव करते हैं।

वस्तुत शब्दार्थों का इतरेतराध्यास ही संकेत है, जिसके कारण होने वाला तादात्म्य ही शब्दार्थगत सम्बन्ध है। वास्तव में जो एक दूसरे से भिन्न हैं, उनकी अभेद से प्रतीति होना ही तादात्म्य है। शब्द और अर्थ परस्पर भिन्न होने पर भी अभिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। उनमें भेद वास्तविक होता है और अभेद अध्यस्त, अतएव भेद और अभेद के एकत्र होने पर भी उनमें विरोध नहीं होता। अभिप्राय यह है कि शब्दार्थों का इतरेतराध्यास ही संकेत का स्वरूप है। वह

संकेत स्मृतिरूप भी होता है। वैयाकरणों ने संकेत को स्मृत्यात्मक कह कर यह तथ्य निरूपित किया है कि संकेत का पूर्वज्ञान होने से ही अर्थ का बोध नहीं होता, अपितु शब्द के साथ उसका स्मरण भी होना चाहिए, क्योंकि संकेत का ज्ञान होने पर भी यदि स्मृति न हो तो अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा। यों तो आचार्यों ने वाच्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ में भी एक दृष्टि से शब्द का संकेत माना है, किन्तु लक्ष्यार्थ में शब्द का 'व्यवहित संकेत' होता है, जबकि वाच्यार्थ में शब्द का 'अव्यवहित संकेत'। वस्तुतः अव्यवहित संकेत ही साक्षात् संकेत है, अतएव वाच्यार्थ को साक्षात् संकेतितार्थ भी कहते हैं। जिस शब्द का जिस अर्थ से साक्षात् संकेत रहता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक है और वह अर्थ उस शब्द का वाच्य, अतः उन दोनों में वाच्यवाचक सम्बन्ध है।

संकेतित अर्थ के भेद

जिस संकेतित अर्थ का पूर्व अनुच्छेद में विवेचन किया गया है, उसके भेदों की संख्या के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। वैयाकरणों के अनुसार संकेतितार्थ के 'जाति', 'गुण', 'क्रिया' और 'द्रव्य' नामक चार भेद हैं तो मीमांसकों के मतानुसार संकेतितार्थ का केवल एक ही रूप है और वह है 'जाति'। नैयायिकों के मत से संकेत जाति-विशिष्ट व्यक्ति में निहित है तो बौद्धों के अनुसार वह 'अन्यापोह' रूप है। कतिपय नैयायिक उसे केवल 'व्यक्ति-निहित' ही मानते हैं। इन मान्यताओं का विवेचन करने से पूर्व हम यहाँ एक मुख्य संकेत करना चाहते हैं और वह यह है कि संकेत-विषयक मतों में वैयाकरणों का मत ही साहित्यशास्त्रियों को अधिक सुग्राह्य प्रतीत हुआ है।

मीमांसकों [redacted] मतानुसार 'जाति' में संकेतग्रह

मीमांसकों के मतानुसार संकेतित अर्थ जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा रूप नहीं होता, अपितु वह तो केवल 'जाति' में ही रहता है। उनका कथन है कि केवल 'जाति' को ही शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त या संकेतग्रह मानना चाहिए। उनकी धारणा है कि जाति-शब्दों के समान गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दों में भी 'जाति' में ही संकेतग्रह मानना समीचीन है, क्योंकि 'अनुगत' या 'एकाकार प्रतीति' के कारण को ही 'सामान्य' या 'जाति' कहते हैं। गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसंधान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ हिम, दुग्ध और शंख आदि शुक्ल पदार्थों में 'शुक्लः शुक्लः' यह अनुगत या एकाकार प्रतीति होती है जिसका कारण 'शुक्लत्व-सामान्य' या 'शुक्लत्व जाति' है। इसी प्रकार गुड और तण्डुल आदि पदार्थों में रहने वाली पाकक्रिया में अनुगत प्रतीति का कारण 'पाकत्व सामान्य' है। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित यदृच्छा शब्द और प्रतिक्षण परिणाम के कारण विद्यमान उनके

अर्थों में भी 'सामान्य' का अनुसंधान किया जा सकता है। इसलिए जाति-शब्दों के समान गुण और क्रिया आदि में भी संकेतग्रह मानना चाहिए, क्योंकि जाति ही उन शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त है।

मीमांसकों ने 'जाति' या 'सामान्य' के लक्षण में दो बातें आवश्यक बतलाई हैं—एक सामान्य ही अनुवृत्ति—प्रत्यय अर्थात् एकाकार-प्रतीति का कारण होता है (अनुवृत्ति प्रत्ययहेतु सामान्यम्।) दूसरे वह नित्य और अनेक में समवेत धर्म होता है (नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वमासामान्यम्)। इन लक्षणों के अनुसार शुक्लत्व आदि को 'सामान्य' या 'जाति' मानने में किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहने वाले 'शुक्ल' रूप भिन्न-भिन्न हैं। मीमांसकों का मत है कि भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्लत्व आदि धर्मों को अभिन्न मानना अनुभवसिद्ध नहीं है क्योंकि प्रत्येक की प्रतीति में कुछ-न-कुछ अन्तर रहता ही है। अतः उन्हें तत्वतः भिन्न मानते हुए ही उनमें अनुगत या एकाकार प्रतीति का कारण शुक्लत्व-जाति को मानना युक्तिसंगत है। इसी प्रकार पाक आदि क्रियाओं में भी पारमार्थिक भेद होने के कारण उनमें भी पाकत्व आदि जाति को प्रवृत्ति निमित्त मानना ही उचित है। इससे स्पष्ट है कि गुण (शुक्लत्व) तथा क्रिया (पाकत्व) शब्दों में भी जाति को ही प्रवृत्ति-निमित्त मानकर उसी में संकेतग्रह किया जाता है।

मीमांसकों ने 'जाति' या 'सामान्य' के लक्षण में जिस 'अनेकसमवेतत्व' का समावेश किया है, उससे यदृच्छा शब्दों में जाति को प्रवृत्ति-निमित्त मानने में कुछ कठिनाई होती है, किन्तु मीमांसकों ने उसके निराकरण का भी उपाय अनुसंधित कर लिया है। वस्तुतः उनके सम्मुख विरोधी विचारकों द्वारा विवेचित यह प्रश्न भी उपस्थित रहा है कि जाति में 'अनेकसमवेतत्व' धर्म मानने से यदृच्छा शब्दों का जातित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जाति तो अनेक व्यक्तियों में रहने वाला अनेक समवेतधर्म है किंतु यदृच्छा शब्दों में स्फोट रूप शब्द तथा उसका वाच्यार्थ व्यक्ति-विशेष भी एक है, अतः उसमें जाति की कल्पना कैसे की जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है कि उच्चारण करने वाले व्यक्तियों के भेद से शब्दों में एवम् प्रतिक्षण होने वाले वृद्धि या ह्रासरूप परिवर्तन के आधार पर व्यक्तियों में भी भेद की कल्पना करना सहज संभव है। उदाहरणार्थ 'डित्थ' आदि यदृच्छा शब्दों का उच्चारण बालक, वृद्ध स्त्रियाँ और शुक आदि प्राणी अपने-अपने ढंग से करते हैं जिनके कारण एक ही व्यक्तिवाचक शब्द उच्चारण-भेद के कारण भिन्न-भिन्न या अनेकस्वरूप होता है, किन्तु उनके द्वारा बोधित पदार्थ में अनुगत-प्रतीति कराने वाली 'डित्थत्व' आदि जाति की सामान्य कल्पना भी की जा सकती है। मीमांसकों ने "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्ते." सिद्धान्त के अनुसार भी यदृच्छा शब्दों का संकेतग्रह

'जाति' में सिद्ध किया है क्योंकि एकमात्र चेतन आत्मा को छोड़कर अन्य समस्त पदार्थों में प्रतिक्षण परिणाम और परिवर्तन होता रहता है जिससे स्पष्ट है कि उनके कारण यदृच्छा-शब्दों के वाच्यार्थ व्यक्तियों में भी भेद की कल्पना करते हुए उनमें अनुगत-प्रतीति के कारणरूप में 'जाति' को माना जा सकता है। सारांश यह है कि मीमांसकों के मतानुसार जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा नामक चार शब्दों के स्थान पर केवल 'जाति' में ही शक्ति या संकेतग्रह मानना पर्याप्त है। मीमांसकों की इस मान्यता का निरूपण करने के लिए ही आचार्य मम्मट ने वैयाकरणों की मान्यता के अनुसार 'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादि' कहकर उसके साथ 'जातिरेव वा' पद का भी प्रयोग किया है जो मीमांसकों की मान्यता की ओर संकेत करता है। मम्मट के शब्दों में मीमांसकों के मत का सारांश निम्नलिखित है—

"हिमदुग्धशंखाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतंडुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि मम्मट ने उक्त विवेचन में 'अन्य' पद का प्रयोग मीमांसकों के लिए किया है जिनके विचारों के प्रति उन्हें आस्था नहीं थी और जिनका उन्होंने उत्तरपक्ष के रूप में खंडन किया है।

नैयायिकों और बौद्धों के संकेतग्रह-विषयक अभिमत

संकेतग्रह के सम्बन्ध में नैयायिकों का मत मीमांसकों से भिन्न है। उनका कहना है कि संकेतग्रह न तो केवल जाति में ही माना जा सकता है और न केवल व्यक्ति में ही। केवल व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानने से उसमें 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' नामक दोष आ जाते हैं तो केवल जाति में शक्तिग्रह (संकेतग्रह) मानने पर शब्द से केवल जाति की उपस्थिति होने के कारण व्यक्ति का बोध नहीं हो पाता। यदि जाति में शक्ति मानकर आक्षेप से व्यक्ति का बोध किया जाय तो उसका शब्द-बोध में अन्वय नहीं हो सकेगा क्योंकि 'शाब्दी हि आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते' के अनुसार शब्द-शक्ति से लभ्य अर्थ का ही शाब्द-बोध में अन्वय हो सकता है। ऐसी स्थिति में नैयायिकों का मत है कि व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः (न्यायसूत्र २,२,६८) के अनुसार जाति तथा आकृति से भिन्न, विशिष्ट व्यक्ति-पद में ही संकेतग्रह किया जाता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार शब्द का अर्थ 'अपोह' या 'अतद्व्यावृत्ति' है। उनका मत 'क्षणभंगवाद' पर स्थित है जिसका आशय यह है कि संसार के समस्त पदार्थ

क्षणिक हैं, अतः 'सामान्य' जैसे किसी नित्य पदार्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। वे मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित अनुगत-प्रतीति का कारण 'अपोह' को मानते हैं। उनका अपोह 'तद्भिन्न-भिन्नत्व' का पर्याय है जिसका अर्थ यह है कि दस घट-व्यक्तियों में 'घट घट' इस प्रकार की जो अनुगत-प्रतीति होती है उसका कारण 'अघट-व्यावृत्ति' या 'घटभिन्नभिन्नत्व' है। प्रत्येक घट-अघट अर्थात् घट-भिन्न सम्पूर्ण जगत् से भिन्न है इसलिए उसमें 'घट घट' यह एक सी प्रतीति होती है। बौद्धों के मत में 'अपोह' ही शब्द का अर्थ होता है और उसी में सङ्केतग्रह मानना चाहिए।

वैयाकरणों का अभिमत

सङ्केतग्रह के विषय में वैयाकरणों ने जो अभिमत व्यक्त किया है, वह काव्यशास्त्रियों को भी मान्य है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने "चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दा, गुणशब्दा, क्रियाशब्दा, यदृच्छा शब्दाश्चतुर्थाः" लिख कर शब्दों के चार प्रकार (जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा) माने हैं। व्यक्ति में शक्ति मानने पर उपर्युक्त चारों प्रकार का शब्द-विभाग नहीं बन सकता अतः व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप धर्मों में ही सङ्केतग्रह मानना उचित है। महाभाष्यकार का मत है कि 'गौ शुक्लश्चलो डित्थ', अर्थात् 'सफेद रंग की चलती हुई डित्थ नामक गाय' वाक्य में जाति-शब्द के रूप में 'गौ' पद का, गुण-शब्द के रूप में 'शुक्ल' पद का, क्रिया शब्द के रूप में 'चल' पद का और यदृच्छा शब्द के रूप में 'डित्थ' पद का प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार की होती है। इस विषय में आचार्य मम्मट ने भी विविध तर्कोपस्थिति द्वारा यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सङ्केतग्रह का आधार व्यक्ति नहीं, अपितु उसके उपाधिभूत पूर्वोक्त चारों धर्म ही हैं। यहाँ पर प्रश्न केवल इतना ही है कि क्या सङ्केतग्रह के लिए जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा नामक चारों पदार्थों की सत्ता मानना आवश्यक है? इसका उत्तर हम इस विषय का तत्वपूर्ण विमर्श करके ही देना उचित समझते हैं।

सङ्केतग्रह का तात्विक विमर्श

व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर इस विषय का सहज ही बोध किया जा सकता है कि संसार में आनयन तथा अपनयन आदि रूपों में जितनी भी अर्थ-क्रियाएँ की जाती हैं, उन सबका निर्वाहक व्यक्ति ही है और वही सब प्रकार के प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप व्यवहार करने की क्षमता रखता है। इससे स्पष्ट है कि मूलतः व्यवहार द्वारा होने वाला सङ्केतग्रह व्यक्ति में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह मान्यता भी निर्दोष और समुचित नहीं जान पड़ती, क्योंकि इसको मानने पर उक्त सिद्धान्त में 'आनन्त्य' तथा

'व्यभिचार' संज्ञक दोष आ जाते हैं। आनन्त्य दोष की स्थिति का आधार यह है कि यदि किसी व्यक्ति-विशेष में ही संकेतग्रह माना जाय तो उस दशा में शब्द दोवारा केवल उस व्यक्ति-विशेष की उपस्थिति होगी जिसमें संकेतग्रह किया गया है। इसका परिणाम यह होगा कि एक 'गो' शब्द से प्रतीत होने वाली सभी 'गो-व्यक्तियों' में पृथक्-पृथक् संकेतग्रह मानना पड़ेगा जिसके फलस्वरूप अनंत शक्तियों की कल्पना करनी होगी। वस्तुत. 'आनन्त्य' दोष का यही अभिप्राय है। यदि इस दोष से बचने के लिए यह कहा जाय कि समस्त व्यक्तियों में अलग-अलग संकेत-ग्रह मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि दो चार व्यक्तियों में ही व्यवहार से संकेतग्रह हो जाता है और शेष व्यक्तियों का बोध संकेत-ग्रह के बिना भी होता रहता है तो भी उचित नहीं है क्योंकि इस स्थिति में 'व्यभिचार-दोष' आ जाता है। व्यभिचार का अर्थ ही है 'नियम का उल्लंघन'। प्रस्तुत विवेचन में व्यभिचार अथवा नियम के उल्लंघन की बात उस समय उपस्थित होजाती है जब हम यह मान लेते हैं कि गौ शब्द से गो-व्यक्तियों का बोध बिना संकेतग्रह के ही हो जाता है। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने में एक कठिनाई यह भी है कि व्यवहारिक दृष्टि से तो वर्तमान देश और काल के गौ इत्यादि व्यक्तियों में भले ही संकेतग्रह हो सके किन्तु भूत, भविष्य और देशांतर या कालांतर के समस्त गौ-व्यक्तियों में संकेतग्रह सम्भव भी नहीं है, इसलिए व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं हो सकता।

तो फिर संकेतग्रह किसमें माना जाय ? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि व्यक्ति के उपाधिभूत धर्म, जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में। वैयाकरणों की भाँति मम्मट ने भी उपाधि के दो रूप माने हैं- १. वस्तुधर्म और २. वक्ता-की यदृच्छा से सन्निवेशित रूप। वस्तुधर्म भी दो प्रकार का है—१. सिद्ध रूप २. साध्यरूप। सिद्धरूप के दो भेद हैं—१ पदार्थ का प्राणप्रद या जीवनाधायक रूप और २. विशेषता के आधान का हेतु-रूप। इनमें से पहला अर्थात पदार्थ का प्राणप्रद सिद्ध धर्म 'जाति' कहलाता है"। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी लिखा है कि "गौ स्वरूपत. न गौ होती है और न अ-गौ। वह तो गौत्व जाति के सम्बन्ध से गौ कहलाती है"। इसका अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु के प्राणप्रद जीवनाधायक धर्म का ही नाम 'जाति' है।

वस्तु का विशेष आधान-हेतु-सिद्ध-धर्म 'गुण' कहलाता है क्योंकि शुक्ल आदि गुणों के कारण से ही सत्ताप्राप्त वस्तु अपने सजातीय अन्य पदार्थों से विशेष भिन्नता प्राप्त करती है। उदाहरणार्थ 'गौ' के साथ संयुक्त किया गया गुणवाचक 'शुक्ल' विशेषण अन्य गायों की अपेक्षा उसकी विशेषता अथवा उसका भेद सूचित करता है। साध्यरूप वस्तुधर्म 'दाल' आदि पकाने के लिये चूल्हा जलाकर उस पर बटलोई रखने की क्रिया से लेकर उसके उतारने पर्यन्त आगे-पीछे किया जाने वाला पूर्वापरीभूत समस्त क्रिया-कलाप' 'क्रिया पद से वाच्य होता है। 'डित्थ' आदि किसी व्यक्ति-विशेष के वाचक रूढ़ि शब्दों का (स्फोट की पूर्वप्रदर्शित क्रिया

के अनुसार पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित संस्कार सहकृत चरम वर्ण के श्रवण से) अन्त्य बुद्धि (चरम वर्ण के श्रवण) से गृहीत होने वाला (डकार, औकार और विसर्जनीय आदि के नाम के) क्रमभेद से रहित (बिना क्रम के बुद्धि में एक साथ उपस्थित होने वाला पदस्फोट रूप) स्वरूप को वक्ता की अपनी स्वेच्छा द्वारा 'डित्थ' आदि पदार्थों में (उसके वाचक) उपाधि रूप से सन्निविष्ट किया जाता है। अर्थात् किसी पदार्थ या व्यक्ति-विशेष का नाम रखने वाला व्यक्ति रूढ संज्ञारूप शब्द का इस अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है कि यह व्यक्ति इस नाम से बोधित होगा। इस प्रकार यह रूढ संज्ञारूप यदृच्छात्मक शब्द होता है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार सकेतग्रह व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मों में होता है।

वर्णित विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तु के प्राणप्रद धर्म का नाम 'जाति' और उसके विशेष आधान-हेतु धर्म का नाम 'गुण' है। वैशेषिक दर्शन इस मान्यता का विरोध करता है। उसका मत है कि 'शुक्ल' आदि 'रूप' के समान 'परिमाण' को भी 'गुण' मानना चाहिये। यह 'परिमाण' 'अणु' और 'महत्' नाम से दो प्रकार का होता है जिनमें 'परम' शब्द जोड़कर उसके चार भेद किये जा सकते हैं। उनमें 'परम अणु परिमाण' केवल परमाणु-संज्ञक पदार्थ अथवा पृथ्वी आदि द्रव्यों के अविभाज्य और सूक्ष्मतम अवयव में रहता है जो 'परमाणु' रूप सूक्ष्मतम पदार्थ का प्राणप्रद धर्म है न कि विशेषाधान का हेतु। इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार 'परमाणु परिमाण' जाति शब्द सिद्ध होता है, किन्तु वैशेषिक दर्शन में उसे गुण माना गया है। वैयाकरणों और साहित्य शास्त्रियों का मत है कि वस्तुतः 'परम अणु परिमाण' जातिवाचक शब्द ही है, किन्तु जिस प्रकार लोक में अन्य अर्थों में प्रसिद्ध 'गुण' और 'वृद्धि' आदि शब्दों का व्याकरणशास्त्र में विशेष अर्थ में प्रयोग होता है, उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में भी 'परम अणु परिमाण' को गुणों के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है। आचार्य मम्मट ने इसी सिद्धान्त को 'परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्' तथा 'गुण-क्रिया यदृच्छानां वस्तुनः एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते' वृत्ति द्वारा विवेचित किया है और अन्त में अपना यह निर्णय दिया कि यद्यपि शुक्ल आदि गुण और पाक आदि क्रियाएँ भिन्न भिन्न पदार्थों में भिन्न भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु उनका यह भेद पारमार्थिक न होकर औपाधिक मात्र है। उनका तो स्पष्ट मत है कि जिस प्रकार विभिन्न गो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति में 'संकेतग्रह' मानने में 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं, उसी प्रकार शंख, हिम और दुग्ध आदि में आश्रित शुक्ल आदि गुणों और पाक आदि क्रियाओं में भेद देखकर उनमें आनन्त्य तथा व्यभिचारी दोष का आरोप नहीं करना चाहिये। क्योंकि शुक्ल आदि गुणों और पाक आदि क्रियाओं का भिन्न भिन्न पदार्थों में

प्रदर्शित होने वाला भिन्न-भिन्न रूप वास्तविक न होकर उपाधिमात्र है। उन्होंने 'यथैकस्य मुखस्य खंग-मुकुर-तैलाद्यालम्बनभेदात्' द्वारा अपने कथन की पुष्टि की है जिसका आशय यह है कि जिस प्रकार तलवार, दर्पण और तैल आदि के आलम्बन से एक ही मुख का उसके प्रतिबिम्बों मे भेद-सा प्रतीत होता होता है, उसी प्रकार गुण आदि मे प्रतीत होने वाला भेद भी औपाधिक है। अत. आचार्य मम्मट के मत से गुण आदि मे सकेत ग्रह मानने मे आनन्त्य तथा व्यभिचार नामक दोषो की कुछ भी सम्भावना नही मानी जानी चाहिये।

शक्तिग्रह की व्यावहारिक प्रक्रिया

शक्तिग्रह के सामान्य उपायो का विवरण वाचक शब्द की विवेचना के अन्तर्गत दिया जा चुका है। यहाँ केवल एक बात और उल्लेखनीय है और वह यह है कि छोटे बालको के लिये तो संकेत का एकमात्र साधन व्यवहार ही है, किन्तु बड़े व्यक्तियो के लिये व्याकरण और उपमान आदि भी संकेत ग्रह के साधन हो सकते हैं। शक्तिग्रह की व्यावहारिक प्रक्रिया को पादटिप्पणी में उद्धृत कारिकाओं[1] से स्पष्टत बोधगम्य किया जा सकता है। उन कारिकाओ मे मुख्य बात यही कही गई है कि संकेतग्रह में प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति नामक त्रिविध प्रमाणो का उपयोग होता है। सकेतग्रह अथवा अर्थबोध करते समय बालक अनुमान और अर्थापत्ति की प्रक्रिया से भले ही परिचित न हो, किन्तु ये प्रमाण भी यथाप्रसंग उसके ज्ञान मे सहायक होते ही हैं। उत्तम वृद्ध द्वारा आदिष्ट और मध्यम वृद्ध द्वारा अनुपालित क्रिया को प्रत्यक्षतः देखता हुआ बालक मध्यम वृद्ध की 'गवानय' आदि चेष्टाओ का आर्थापत्ति आदि प्रमाणों से निश्चय करके अखण्ड वाक्य और अखण्ड वाक्यार्थ के वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है।

मुख्यार्थ और अभिधाशक्ति

शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्यार्थ है। जिस प्रकार शरीर के अन्य अंगो अथवा अवयवो के पूर्व हमारा सर्वप्रथम ध्यान मुख-भाग की ओर आकृष्ट होता है, उसी प्रकार शब्द का मुख्यार्थ भी वह अर्थ है जिसकी ओर हम अन्य अर्थों के पूर्व अपना ध्यान आकर्षित करते हैं। जिस मुख्य व्यापार के कारण मुख्यार्थ का बोध होता है उसे 'अभिधा' शक्ति कहते हैं। अभिधा के लक्षण मे

---

1. शब्द वृद्धाभिधेयाश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
   श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥1॥
   अन्यथा यनुपपत्यातु बोधेच्छक्तिं द्वयघेरिमकाम्।
   अर्थापत्या अवबोधेत सम्बन्धं. त्रिप्रमाणकम् ॥ 2 ॥

'मुख्य व्यापार' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा 'अभिधा' और 'अभिधा-मूलव्यंजना' का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। बात यह है कि अभिधा में तो केवल एक ही मुख्य व्यापार रहता है, किन्तु अभिधामूलाव्यंजना में मुख्य व्यापार के अतिरिक्त एक अमुख्य व्यापार भी होता है जिसका कार्य मुख्यार्थ के साथ-साथ अप्रकृत अर्थ का भी बोध कराना होता है। यों तो शब्द का दूसरा अर्थ भी उस शब्द का स्वतन्त्र रूप से मुख्य अर्थ ही होता है, किन्तु वह प्रकृत न होने के कारण वहाँ शब्द-व्यापार अमुख्य होता है। अभिधा वृत्तिमातृका में मुख्यार्थ तथा अभिधा का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

शब्दव्यापाराद्यस्या वगतिस्तस्य (अर्थस्य) मुख्यत्व। न हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्यो अवयवेभ्य पूर्वमुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्य प्रतीयमानेभ्यो अर्थान्तरेभ्य पूर्वमवग म्यते। तस्मात् "मुखमिव मुख्य" इति शाखादिभ्योयस्तेन मुख्य शब्देवमिधीयते।'

काव्य प्रकाशकार मम्मट ने भी 'स मुख्योऽर्थो, तत्रमुख्यो व्यापारो अस्या भिधोच्यते' द्वारा यही बात प्रकट की है कि यह साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्य अर्थ कहलाता है और उसका बोध कराने में इस शब्द का जो व्यापार होता है, वह अभिधा-व्यापार या अभिधा-शक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। कारिका में प्रयुक्त 'स' पद का अर्थ साक्षात् संकेतित और 'अस्य' पद का अर्थ 'शब्द का' ग्रहण करना चाहिए। वस्तुत अर्थ में जो भेद (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य) कहे जाते हैं, उनमें वाच्यार्थ ही मुख्यार्थ है क्योंकि 'मुखमिव मुख्य' के विग्रह में शाखादिभ्यो य (5-2-103) सूत्र से 'य' प्रत्यय होकर इस शब्द की सिद्धि होती है।

अभिधा शक्ति या वाचक शब्द के भेद

अभिधा शक्ति के तीन भेदों (१. योग २. रूढ़ि और ३. योग रूढ़ि) की भाँति वाचक शब्द के भी तीन भेद (१. यौगिक, २ रूढ और ३. योगरूढ) हैं। 'यौगिक' शब्दों में अवयव-शक्ति होती है जिसका अभिप्राय यह है कि जिन प्रकृति प्रत्ययों से यौगिक शब्द बनता है, उनके अर्थों से उस शब्द का अर्थ सम्बद्ध रहता है। 'पाठक' 'पाचक,' 'सौमित्र' और 'गांगेय' आदि शब्द इसी प्रकार के शब्द हैं। 'रूढ' शब्दों में अवयव-शक्ति नहीं होती। इनमें केवल समुदाय शक्ति ही रहती है जिसका आशय यह है कि यदि उन शब्दों के प्रकृतिप्रत्ययरूप अवयव किये जाएँ तो उनके अर्थों से इन शब्दों के अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इन शब्दों का संकेत इनके योग में बद्ध न होकर उनके वर्ण-समुदाय से ही बद्ध होता है। 'मण्डल' और 'आखण्डल' आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं। इनके अतिरिक्त 'योगरूढ' शब्द वे हैं जिनका अर्थ उनके प्रकृति-प्रत्ययों के अर्थ से सुसम्बद्ध तो रहता है, किन्तु उनके अर्थ की व्याप्ति रूढ़ि से सीमित हो जाती है। 'पंकज' और 'वक्षोज' आदि शब्द योगरूढ़ि हैं जिनका स्पष्टीकरण 'पंकज' शब्द की

व्युत्पत्ति द्वारा इस प्रकार किया जा सकता है कि यों तो पंक अर्थात् कीचड़ में 'ज' अर्थात् 'जायमान' पदार्थ पंकज कहलाता है जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ पंक मे उत्पन्न होने वाले किसी भी पदार्थ, जन्तु अथवा कीटाणु के लिए घटित हो सकता है, किन्तु व्यवहार मे रूढि ने 'पंकज' का अर्थ 'कमल' के लिये ही सीमित कर दिया है। इस उदाहरण में अभिधा-शक्ति के योग और रूढ नामक दो भेद एकत्र हो गये हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि योगरूढ शब्दो मे अवयवशक्ति और समुदाय-शक्ति दोनो का ही योग रहता है। विद्वानो ने शब्द का यौगिकरूढ नामक चतुर्थ भेद भी माना है। ऐसे शब्दो में दो अर्थ होते हैं—१. यौगिक और २ रूढ। इसका उदाहरण 'उद्‌भिद्' शब्द है। जब 'उद्‌भिद्' का अर्थ 'वनस्पति' लिया जाता है तब तो वह यौगिक शब्द है, किन्तु जब उसका अर्थ एक 'योग-विशेष' से लिया जाता है तो वह अर्थ रूढि से प्राप्त होने के कारण 'रूढ' कहलाता है। 'योगरूढ' और यौगिक रूढ शब्दों में यह अन्तर है कि 'योगरूढ' शब्द मे योग से प्राप्त अर्थ रूढि से सीमित हो जाता है, किन्तु यौगिकरूढ मे यौगिक अर्थ और रूढ अर्थ स्वतन्त्र रहते हैं। काव्य मे प्रयुक्त किये जाने वाले वाचक शब्दों के इन चारों रूपों का यथाप्रसंग ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि काव्य के शब्दार्थबोध की प्रक्रिया मे इनका ज्ञान होना परम प्रयोजनीय है। जब तक शब्द का तत्त्वपूर्ण ज्ञान नहीं होता, तब तक न तो उसकी शक्ति का ही बोध हो सकता है और न ही इस बात का पता चलता है कि उसका विस्तार किस प्रकार दीर्घतर तथा दीर्घतम रूप मे हो सकता है। शब्दार्थबोध की प्रक्रिया मे इस विषय की अत्यधिक उपयोगिता है।

लक्षणा शक्ति शाब्दबोध की द्वितीय वृत्ति

'लक्षणा' का रूप और उसके अस्तित्वभूत कारण

काव्यार्थ-बोध मे अभिधा के पश्चात् जिस शब्द-शक्ति का उपयोग किया जाता है, उसे लक्षणा-शक्ति कहते हैं। इस शब्द-शक्ति की आवश्यकता उस समय पड़ती है जब काव्य के मुख्यार्थ-बोध मे बाधा आती है और वाक्य के अन्य पदो के साथ उसका निर्बाध अन्वय न होने के कारण तात्पर्य की उपपत्ति नही हो पाती। उस स्थिति मे रूढि अथवा प्रयोजन द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति की जाती है। साहित्य-शास्त्र मे उस अन्य अर्थ को लक्ष्यार्थ तथा उसकी बोधिका शक्ति को लक्षणाशक्ति कहा गया है। लक्षणाशक्ति के व्यापार के लिये मुख्यार्थ बाध, लक्षणार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध तथा रूढि या प्रयोजन मे से अन्यतर, इन तीन कारणो की आवश्यकता पड़ती है। विद्वानो ने 'लक्षणा' शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। एक व्याख्या के अनुसार 'यथा' शब्द-

शक्त्या अन्योऽर्थो लक्ष्यतेसा लक्षणा' अर्थात् जिस शब्द शक्ति से अन्य अर्थ लक्षित हो वह लक्षणा है तो दूसरी व्याख्या के अनुसार 'अन्यार्थप्रतिपत्ति हेतु शब्द-व्यापारो लक्षणा' अर्थात् मुख्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु शब्द-व्यापार लक्षणा कहलाता है। कुछ विद्वानों ने लक्षणा की व्याख्या "यत् लक्ष्यते यत् प्रतिपाद्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा" भी की की है, किन्तु वह ग्राह्य प्रतीत नहीं होती क्योंकि प्रतिपत्ति (ज्ञान) का नाम 'लक्षणा' न हो कर शब्द की शक्ति का नाम 'लक्षणा' है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट द्वारा निरूपित श्लोक-वार्तिक ("अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते") के आधार पर व्याख्याकारों ने 'प्रतिपत्ति' और 'लक्षणा' को एक ही समझ लिया था जबकि वास्तविकता तो यह है कि इस प्रकार का आशय मीमांसादर्शन में भले ही युक्तियुक्त माना जा सके, किन्तु साहित्यशास्त्र में उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। आचार्य मम्मट ने शब्द के उस आरोपित व्यापार को लक्षणा कहा है जो मुख्यार्थ का बाध अर्थात् अन्वय या तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर, उस मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन विशेष से लक्षित होता है। लक्षणा शक्ति के द्वारा ही वह अन्य अर्थ लक्षित किया जाता है। लक्षणा का निरूपण करते हुए मम्मट ने लिखा है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितो अथ प्रयोजनात्
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥[1]

लक्षणा का मुख्य कारण 'मुख्यार्थबाध' है। मुख्यार्थबाध की व्याख्या 'अन्वयानुपपत्ति' तथा 'तात्पर्यानिनुपपत्ति' के अनुसार दो प्रकार से की जाती है। उदाहरणार्थ 'गंगायां घोषः' का मुख्यार्थ है गंगानदी में अभीरो की पत्नी अर्थात् घोसियों की बस्ती। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो गंगा की धारा पर आभीरपल्ली का होना सम्भव नहीं है जिसका अभिप्राय यह है कि इस उदाहरण का अन्वय अनुपपन्न है और उसे उपपन्न बनाने के लिए हमें 'गंगा' पद को लक्षणा शक्ति द्वारा 'तट' रूप अर्थ का बोधक मानना पड़ता है। इस मत के अनुसार अर्थ की अनुपपन्नता को लक्षणा- शक्ति की आवश्यकता का प्रथम हेतु माना गया है।

मुख्यार्थ बाध का अर्थ तात्पर्यानुपपत्ति मानने वाले विद्वानों ने लक्षणाशक्ति का विवेचन कुछ भिन्न प्रकार से किया है। इस प्रकार का दृष्टिकोण लेकर चलने वाले विद्वानों में आचार्य नागेशभट्ट प्रमुख हैं। उन्होंने 'परमलघुमंजूषा' नामक ग्रन्थ में 'तात्पर्यानिनुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज हेतु मानते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया है कि यदि अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना

1. काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास, कारिका संख्या 9, सूत्र संख्या-12

जाय तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' जैसे प्रयोग में लक्षणा नही हो सकती क्योंकि इस प्रयोग में सब पदो का अन्वय सम्भव है जिसके कारण इसमे अन्वयानुपपत्ति के लिए कोई अवकाश हो नही है। नागेशभट्ट के अनुसार 'काक' पद का लक्षणागत अर्थ दध्युपघातक' है जिसे स्वीकार किये बिना वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति नही हो सकती, अत: अन्वय मे बाधा न होने पर भी 'काक' पद के मुख्यार्थ से काम नही चलता और लक्षणा का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है जिसका अभिप्राय यह है कि 'अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज न मानकर 'तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानना समुचित है।

लक्षणा के भेद

रूढि और प्रयोजनवती लक्षणा

काव्य शास्त्र के आचार्यों ने रूढि अथवा प्रयोजन से होने वाली लक्षणा का स्पष्टीकरण 'कर्मणि कुशलः तथा 'गगायां घोष' आदि प्रयोगगत उदाहरणो द्वारा किया है।' कर्मणि कुशलः मे प्रयुक्त 'कुशल' शब्द की मूल व्युत्पत्ति है'कुशान् लाति आदत्ते वा इति कुशल, अर्थात् जो कुशो को लाता है, वह कुशल है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्मणि कुशलः जैसे उदाहरण में प्रयुक्त 'कुशल' शब्द का कुशो के लाने से कोई सम्बन्ध नही है, अतः उसके मुख्यार्थ में बाधा आती है। वैसी स्थिति मे 'कुशल' पद का रूढिपरक अर्थ 'दक्ष' लेना पड़ता है। इसी प्रकार 'गंगायां घोष' इत्यादि प्रयोगो मे गगापद के जल प्रवाह रूप मुख्यार्थ आदि मे "घोष" आदि का आधारत्व सम्भव न होने से मुख्यार्थ मे बाधा आती है और सामीप्य सम्बन्ध मानकर उसका अर्थ ग्रहण गगा के किनारे अहीरो की बस्ती करना पड़ता है। उस अर्थ बोध मे गगा के शैत्य तथा पावनत्व आदि धर्म प्रयोजनीभूत है जिनके प्रतिपादन 'स्वरूप प्रयोजन से मुख्य अर्थ से अमुख्य अर्थ लक्षित होता है। शब्द का वह व्यवहितार्थ, विषयक आरोपित व्यापार 'लक्षणा' कहलाता है। प्रयोजनवती लक्षणा का विवेचन करने के लिए प्राय: सभी आचार्यों ने 'गगायां घोष' वाक्य का आधार ग्रहण किया है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि काव्य शास्त्र ने जिस प्रकार 'ध्वनि' तथा 'चतुष्टयी, शब्दाना प्रवृत्ति, के सिद्धान्त व्याकरण-शास्त्र से ग्रहण किये हैं, उसी प्रकार 'गगाया घोष' का सुप्रसिद्ध उदाहरण भी महाभाष्यकर पतञ्जलि द्वारा प्रयुक्त 'पुयोगादाख्यायाम्' /(4-148-सूत्र मे 'गगाया घोष' तथा 'कूपे गर्गकुलम्' जैसे लक्षणा के दो उदाहरणो से लिया गया है। इस विषय में काव्यशास्त्र व्याकरणास्त्र का अत्यधिक ऋणी है।

लक्षणा के अन्य दो भेद :

उपादान लक्षणा—1. लक्षणा के अन्य दृष्टि से मुख्य दो भेद हैं—उपादान लक्षणा तथा २. लक्षण लक्षणा। जहाँ शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य

अर्थ का आक्षेप कर लेता है तथा स्वयम् भी बना रहता है, वहाँ उपादान लक्षणा होती है। चूंकि उसमें मुख्यार्थ का भी उपादान या ग्रहण रहता है, अतः उसे उपादान लक्षणा कहा जाता है। इस लक्षणा का प्रसिद्ध उदाहरण है, 'कुन्ताः प्रविशन्ति' अर्थात् भाले प्रवेश कर रहे हैं। इस उदाहरण में कुन्त आदि पदों द्वारा अपने अचेतन रूप में प्रवेश क्रिया की सिद्धि के लिए अपने से सयुक्त अर्थात् कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप द्वारा बोध कराया गया है, अतः स्वार्थ का परित्याग किये बिना ही अन्य अर्थ का ग्रहण होने से यहाँ उपादान लक्षणा है।

उपादान लक्षणा के स्वरूप के विषय में काव्यशास्त्रियों और मीमांसकों की दृष्टि में मौलिक विभेद है। प्रसिद्ध मीमांसक मुकुलभट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' में 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' जैसे उदाहरणों में उपादान लक्षणा मानी है जिसका मम्मट आदि काव्याचार्यों ने विरोध किया है। मुकुल भट्ट का कहना है कि 'गौरनुबन्ध्यः' जैसे वैदिक प्रयोग में उपादान लक्षणा माननी इसलिए उचित है कि गो शब्द का वाच्यार्थ 'गोत्व' जाति होता है और उस जाति में बन्धन अथवा आलम्भन रूप क्रिया सम्भव न होने के कारण मुख्यार्थ का बाध होता है। अतः गो शब्द बन्धन के साथ अपने गोत्व जाति रूप अर्थ की अन्वय सिद्धि के लिए व्यक्ति का बोध आक्षेप क्रिया से कराता है। उनके मतानुसार 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' इस उदाहरण में दिन में न खाने वाला देवदत्त मोटा हो सकता है, यह बात साधारणतः सम्भव नहीं है। अतः मुख्यार्थ का बाध होने पर यह वाक्य अपने अन्वय की सिद्धि के लिए आक्षेप द्वारा रात्रि भोजन का बोध कराता है, अतः इसमें उपादान लक्षणा है।

आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट के दोनों उदाहरणों का खण्डन किया है। उनका मत है कि 'गौरनुबन्ध्यः' में किसी भी प्रकार उपादान लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि इस उदाहरण में लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं में से न तो यहाँ कोई विशेष प्रयोजन ही है और न यह रूढ़ि ही है। वस्तुतः व्यक्ति के बिना जाति नहीं रह सकती, इसलिए इस उदाहरण में अविनाभाव के कारण जाति में व्यक्ति का अनुमान-आक्षेप किया जाता है जिसके कारण इस उदाहरण में किसी भी प्रकार की लक्षणा ही नहीं मानी जा सकती। मम्मट ने मुकुलभट्ट के दूसरे उदाहरण में भी उपादान लक्षणा स्वीकार नहीं की है। उनका कथन है कि मीमांसक विद्वान् अर्थवादी वाक्यों की प्रासंगिकता में लक्षणा मानने के साथ-साथ पूरे वाक्य में भी लक्षणा मान लेते हैं जिसके अनुसार 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' में भले ही उपादान लक्षणा सिद्ध करने की चेष्टा की जाय किंतु वास्तव में यहाँ उपादान लक्षणा न होकर अर्थापत्ति है। 'देवदत्त मोटा रहा है किंतु दिन में नहीं खाता है' इस कथन में उसके रात्री-भोजन का बोध लक्षणा द्वारा न होकर श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थापत्ति द्वारा किया जाता है। मीमांसकों के मत से अर्थापत्ति का लक्षण ही

"अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनं' है जिसके अनुसार 'अर्थापत्ति उस प्रमाण का नाम है जिसके द्वारा किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देख कर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना कि जाती। उपर्युक्त उदाहरण में 'देवदत्त मोटा है, यह अनुपपद्यमान अर्थ है और 'रात्रिभोजन' उसका उपपादकीभूत अर्थ, स्पष्ट है कि यदि देवदत्त न तो दिन में खावे और नरात्रि में तो मोटा नहीं हो सकता। अतः दिन में न खाने वाला व्यक्ति रात्रि-भोजन के बिना मोटा नही हो सकता, इस बात के का विचार कर यहीं यही कहना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि उक्त उदाहरण में अनुपपद्यमान अर्थ 'दिवा अभुजान का पीनत्व' देखकर उसके उपपादक रात्रि-भोजन की 'कल्पना' अर्थापत्ति द्वारा होती है। मम्मट का कथन है कि अर्थापत्ति को लक्षणा नही माना जा सकता, अतः इस उदाहरण में उपादान लक्षणा मानना उचित नहीं है।

लक्षणलक्षणाः

जहां किसी वाक्य का कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त दूसरे शब्द की अन्वय सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ का बोधक हो जाता मे वहा लक्षणलक्षणा होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'गंगायां घोष.' है जिसमें प्रयुक्त 'घोष' पद के आधेयत्व रूप से अन्वय का उपादान करने के लिए 'गंगा' शब्द अपने 'जलप्रवाह' रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य-सम्बन्ध से 'तट' रूप अन्य अर्थ बोधित करता है। अतएव यह प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा का उदाहरण है। मुकुलभट्ट आदि मीमांसको ने भी 'गंगायां घोषः' को ही लक्षण-लक्षणा का उदाहरण माना है और उपादान लक्षणा की भांति उसे उपचारमिश्रित लक्षणा न मान कर शुद्ध लक्षणलक्षणा कहा है।

'लक्षणलक्षणा' का विवेचन विभिन्न विचारकों, दार्शनिकों और काव्यशास्त्रियों ने विशद रूप से किया है। वेदांत-दर्शन में उसका नाम 'जहत्स्वार्थलक्षणा' भी है जिसका अभिप्राय यह है कि इसमें प्रयुक्त लक्षक पद अन्य पदों की अन्वय-सिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है। मुकुल भट्ट ने 'लक्षण-लक्षणा' की सिद्धि के लिए 'गंगायां घोष.' का विश्लेपण अत्यंत व्यापकता से किया है। उन्होंने 'ताटस्थ्यसिद्धान्त' द्वारा जिस रूप में अपने विचारों का प्रतिपादन किया है, वह आचार्य मम्मट को स्वीकार नहीं है। न्याय-दर्शन में लक्षणलक्षणा के उदाहरणस्वरूप 'द्विरेफ' पद का वाच्यार्थ 'दो रेफ से युक्त' है, किंतु लक्षणलक्षणा के कारण ही उसका अर्थ 'भ्रमर' समझा जाता है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास के आरम्भ में सूत्र-संख्या 29 में लक्षणा-मूलध्वनि के 'अत्यंततिरस्कृतवाच्य' नामक भेद का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह इस दृष्टि से 'लक्षितलक्षणा' या जहत्स्वार्थलक्षणा का अत्यंत सुंदर उदाहरण कहा जा सकता है क्योंकि उसमें किसी अत्यंत अपकार करने वाले व्यक्ति के

प्रति उसके अपकार से पीड़ित व्यक्ति के मनोभाव व्यक्त किये गये हैं। उसमें प्रयुक्त 'उपकृत', 'सुजनता', 'सखे' और 'सुखितमास्व' आदि शब्द अपने मुख्य अर्थों का परित्याग कर अपने से विपरीत अर्थों को लक्षणा द्वारा बोधित करते हैं और उनसे 'अपकारातिशय' व्यंजित होता है। वह छंद 'लक्षण-लक्षणा' अथवा 'जह-त्स्वार्थालक्षणा' का अत्यंत उपयुक्त उदाहरण कहा जा सकता है छंद निम्नप्रकार है :-

> उपकृत बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम्।
> विदृधदीदृशमेव सदा सखे, सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

शुद्धा और गौणी लक्षणा

उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा को मुकुलभट्ट और मम्मट आदि आचार्यों ने शुद्धा लक्षणा भी कहा है। शुद्धा से भिन्न लक्षणा का अन्य भेद गौणी लक्षणा है। शुद्धा और गौणी लक्षणाओं के परस्परभेदक धर्म के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। मम्मट के अनुसार 'उपचार' को उक्त दोनों लक्षणाओं का भेदक धर्म कहा जा सकता है क्योंकि उपचारहीन लक्षणा शुद्धा तथा उपचार-युक्त लक्षणा 'गौणी' कहलाती है। उपचार का अर्थ है 'अत्यन्त भिन्न पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनके भेद की प्रतीति न होना।' उदाहरणार्थ किसी बालक में उसका शौर्य वीर्य आदि के सादृश्यातिशय के कारण 'सिंहो माणवकः' जैसे प्रयोग किये जाए तो वे प्रयोग उपचारमूलक अथवा गौण होने के कारण 'गौणी लक्षणा' के उदाहरण बन जायेंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि सादृश्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त जहाँ सामीप्य आदि अन्य कोई भी सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक होता है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। आचार्य मम्मट ने उपचार के अमिश्रण और मिश्रण को शुद्धा तथा गौणी लक्षणा का भेदक धर्म माना है।

आचार्य मुकुल भट्ट ने शुद्ध और गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में अपना स्वतंत्र मत व्यक्त किया है। उनके अनुसार उपचार को 'शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों प्रकार की लक्षणाओं में उपचार का मिश्रण हो सकता है जिसके कारण उपचारमिश्रित लक्षणों के दो भेद—'शुद्धोपचार' तथा गौणोपचार होते हैं। उन्होंने 'सारोपा' तथा 'साध्यवसाना' नाम से उसके अन्य दो भेद मान कर लक्षणा के कुल छः भेद माने हैं। उनके अनुसार उपचार का अर्थ है 'अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग।' जहाँ सादृश्य के कारण इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है वहाँ गौण उपचार होता है तथा जहाँ सादृश्य भिन्न कार्य-कारणभाव आदि के कारण अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ 'शुद्धोपचार' होगा। 'आयुर्घृतम्' में आयु के कारणभूत घृत के लिए आयु शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः इसमें 'शुद्धोपचार' है जबकि 'गौर्वाहीक' में वाहीक देशवासी पुरुष में गौ के सदृश जाड्य और मान्द्य आदि गुणों का योग होने से

उसके लिए 'गौ' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः वहाँ पर 'गौण' उपचार है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि मम्मट ने 'उपचार' के स्थान पर 'ताटस्थ्य' को शुद्धा तथा गौणी लक्षणा का भेदकधर्म माना है। उनका कहना है कि उपादान-लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा के उदाहरणों 'कुन्ताः प्रविशन्ति' तथा 'गंगायां घोषः') में क्रमशः लक्ष्य तथा लक्षक अर्थों का अभेद प्रतीत न होकर भेदकः 'ताटस्थ्य' प्रतीत होता है, अतः 'तटस्थे लक्षणा शुद्धा' के अनुसार शुद्धा लक्षणा तटस्थ में होती है। अभिप्राय यह है कि मुकुल भट्ट के अभिमत से शुद्धा लक्षणा में लक्ष्य और लक्षक अर्थों का ताटस्थ्य होता है किन्तु गौणी लक्षणा में लक्ष्य-लक्षक अर्थों का भेद नहीं होता। आचार्य मम्मट ने मुकुल भट्ट के ताटस्थ्य सिद्धान्त का खंडन निम्नलिखित शब्दों में किया है—

"अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपताटस्थ्यम्।
तटादीनां हि गंगादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपादयिषित प्रयोजन-सम्प्रत्ययः। गंगासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु 'गंगातटे घोषः' इति मुख्यशब्दाभिधानाद् लक्षणायाः को भेदः।"[1]

सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाः

शुद्धा लक्षणा के उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा नामक दो भेदों का विवेचन करने के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि उनके और कौन-कौन से भेद हो सकते हैं ? विद्वानों ने शुद्धा और गौणी लक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना नामक दो-दो अन्य भेद भी माने हैं, जिनके साथ उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा नामक दो भेद जोड़ने से लक्षणा के कुल छः भेद हो जाते हैं। आचार्य मम्मट के शब्दों में 'जहाँ आरोप्यमान (उपमान) तथा आरोप-विषय (उपमेय) दोनों शब्दतः कथित होते हैं, वहाँ गौणी सारोपा लक्षणा तथा जहाँ विषयी अर्थात् आरोप्यमान उपमेय के द्वारा अन्य अर्थात् आरोप का विषय अर्थात् उपमेय निगीर्ण कर लिया जाता है, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।'[2] उपर्युक्त दोनों भेदसादृश्य से तथा सादृश्य को छोड़कर अन्य संबंध से सम्पन्न होने पर क्रमशः गौणी तथा शुद्धा लक्षणा के भेद समझे जाने चाहिए। मम्मट ने 'गौर्वाहीकः' में सारोपा तथा 'गौरयम्' में साध्यवसाना लक्षणा मानी है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि प्रथम वाक्य में गौ आरोप्यमान (उपमान) है और वाहीक आरोपविषय अर्थात् उपमेय। इन दोनों का सामानाधिकरण्य से शब्दतः प्रतिपादन होने तथा दोनों का स्वरूप अनपह्नुत रहने के कारण इसमें सारोपा

---

1. काव्यप्रकाशः द्वितीय उल्लास, पृ० 61
2. काव्यप्रकाश. द्वितीय उल्लास, सूत्र-संख्या 13-14

लक्षणा है जबकि 'गौरयम्' में आरोपविषय वाहीक का शब्दतः उपादान नहीं है और वह आरोप्यमान गौ द्वारा निगीर्ण हो गया है, इसलिए यह साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। सादृश्यमूलकता के कारण ही इन दोनों लक्षणाओं को गौणी लक्षणा कहा जाता है। विद्वानों का मत है कि 'गौरयम्' के स्थान पर यदि 'गौर्जल्पति' रख दिया जाए तो वह साध्यवसाना लक्षणा का अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण हो सकता है।

शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण क्रमशः 'आयुर्घृतं' तथा 'आयुरेवेदम्' है। प्रथम उदाहरण में आरोप्यमान आयु तथा आरोप-विषय घृत दोनों के अपह्नुतस्वरूप अर्थात् शब्दतः उपात्त न होने से शुद्धा सारोपा तथा 'आयुरेवेदम्' में आरोप विषय घृत के शब्दतः उपात्त न होने से साध्यवसाना लक्षणा है। चूंकि 'आयुरेवेदम्' में 'इदं' सर्वनाम से आरोप-विषय का संकेत हो ही जाता है, अतः उसके स्थान पर यदि 'आयु पिबामि' कर दिया जाए तो वह साध्यवसाना-लक्षणा का अधिक उपयुक्त उदाहरण हो सकता है। सादृश्य-सम्बन्ध से होने वाली शुद्धा लक्षणा के जो उदाहरण दिए गए हैं, उनसे भिन्न सम्बन्ध भी लक्षणा के प्रयोजक हो सकते हैं। जैसे कहीं तादर्थ्य से उपचार होता है तो कहीं स्व स्वाभिभाव-सम्बन्ध से। तादर्थ्य उपचार में किसी के उपचार से अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे यज्ञ में इन्द्रपूजन के लिए बनाई हुई 'स्थूणा' भी तादर्थ्य-सम्बन्ध से 'इन्द्र' कहलाती है। स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध से अन्य शब्द का अन्यत्र प्रयोग होता है जैसे राजा का विशेष कृपापात्र पुरुष भी 'राजा' कहलाता है। इनके अतिरिक्त कहीं अवयवावयविभाव तथा तात्कर्म्य-सम्बन्ध से भी औपचारिक प्रयोग होते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः 'अग्रहस्त' तथा 'अतक्षा' शब्द हैं। अवयवावयविभाव सम्बन्ध के कारण 'अग्रहस्त' अर्थात् हाथ के केवल अग्रभाग के लिए 'हस्त' का प्रयोग किया जाता है तथा तात्कर्म्य सम्बन्ध से बढ़ई का काम करने वाले अतक्षा (बढ़ई से भिन्न ब्राह्मण आदि) के लिए तक्षा (बढ़ई) शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार आचार्य मुकुलभट्ट तथा मम्मट ने लक्षणा के उपर्युक्त छः भेद माने हैं, जिनकी संख्या वृद्धि करते हुए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उन्हें सोलह की संख्या तक पहुँचा दिया है। विश्वनाथ के अनुसार लक्षणा के सोलह भेद मानने का क्रम इस प्रकार है—

लक्षणा

रूढ़िलक्षणा | प्रयोजनवतीलक्षणा

उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा

| | | |

सारोपा साध्यव सारोपा साध्यव सारोपा साध्य सारोपा साध्यवसाना

साना साना वसाना

शुद्धा शुद्धा शुद्धा शुद्धा शुद्धा शुद्धा शुद्धा शुद्धा

गौणी गौणी गौणी गौणी गौणी गौणी गौणी गौणी

व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा के भेद

लक्षणा के पश्चात् व्यंजना-वृत्ति की विवेचना करने के पूर्व इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में आचार्यों में यथेष्ट मतभेद है। अभिधावादी दृष्टिकोण के कारण मुकुलभट्ट को व्यंजनावृत्ति की स्वतन्त्र सत्ता ही स्वीकार नहीं है जबकि मम्मट आदि आचार्य ध्वनिवादी दृष्टिकोण के बरावर उसकी अनिवार्यता सिद्ध करते हैं। ध्वनिकार ने प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन को व्यंजनागम्य माना है जिसका समर्थन करते हुए आचार्य मम्मट ने भी लक्षणामूला व्यंजना की प्रतिष्ठा की है। मम्मट का कहना है कि यह लक्षणा रूढ़िगत भेदों में व्यंग्यरहित तथा प्रयोजनमूलक भेदों में व्यंग्यसहित होती है।[1] प्रयोजन का ज्ञान व्यंजना-व्यापार से ही होता है, अतः प्रयोजनवती लक्षणा में व्यंग्य का सप्रयोजन होना आवश्यक है। वह व्यंग्य प्रयोजन कहीं गूढ़ तथा कहीं अगूढ़ होता है। गूढ़ प्रयोजन दुर्ज्ञेय तथा सहृदयैकगम्य होता है जबकि अगूढ़ प्रयोजन स्पष्ट तथा सर्व-जनसंवेद्य रहता है। इस प्रकार व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा के तीन भेद हैं—1. रूढ़िगत व्यंग्यरहिता, 2 गूढ़व्यंग्या और 3. अगूढ़-व्यंग्या। लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक शब्द कहलाता है। व्यंग्यरूप प्रयोजन के विषय में लाक्षणिक शब्द का लक्षणा से भिन्न व्यंजनात्मक व्यापार होता है। आचार्य मम्मट का अभिमत है कि प्रयोजन-प्रतीति में व्यंजना-वृत्ति की सत्ता मानना अनिवार्य है, क्योंकि प्रयोजन-विशेष को प्रतिपादित करने की इच्छा से जहाँ लक्षणा से लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ अनुमान आदि अन्य किसी भी साधन से उस प्रयोजनरूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु केवल उसी शब्द से होती है और उसके बोधन में व्यंजना के अतिरिक्त शब्द का अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता।[2] चूँकि उस बोधन में संकेत-ग्रहमात्र नहीं होता, अतः अभिधावृत्ति को प्रयोजन की बोधकशक्ति नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ 'गंगायां घोषः' इत्यादि वाक्यों में पावनता आदि जो धर्म तट में प्रतीत होते हैं, उनमें गंगा आदि शब्दों का संकेत-ग्रह नहीं है, अतः अभिधा से उनका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाए कि प्रयोजन की भी लक्ष्यता होती है तो भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि लक्षणा के प्रयोजक मुख्यार्थ-

---

1. काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, सूत्र संख्या 18
2. वही—सूत्र-संख्या 23

बाध आदि हेतुओं के न होने से लक्षणा भी प्रयोजन की बोधिका नहीं हो सकती। आचार्य मम्मट का मत है कि 'गंगायां घोषः' में मुख्यार्थबाध आदि के बिना भी शैत्य तथा पावनत्व आदि प्रयोजनों का बोध हो जाता है, अतः 'गंगा' शब्द उस अर्थ के विषय में स्खलित गति (बाधितार्थ) नहीं है। निष्कर्ष यह है कि उपर्युक्त कारणों से अतः व्यंजना-व्यापार का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है। मम्मट ने इस विषय में स्पष्ट कहा है—

> लक्ष्यं न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो, योगः फलेन नो।
> न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥[1]

काव्यार्थ में लक्षणा का अवबोध

लक्षणा के सामान्य भेदों का निरूपण करने के पश्चात् इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि काव्य एवं काव्यशास्त्र में लक्षणा का जो विवेचन किया गया है, वह निरूढ लक्षणा का न होकर मुख्यतः प्रयोजनवती लक्षणा का है। आचार्य मम्मट ने तो लक्षणा का प्रयोजन व्यंग्य अथवा ध्वनि को ही माना है। प्रयोजनवती लक्षणा सदैव व्यंग्यसहित होती है जबकि निरूढ लक्षणा का क्षेत्र अभिधा-पर्यन्त सीमित है, क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में व्यंग्य नहीं होता। लक्षणा का प्रयोजन गूढ भी हो सकता है और अगूढ भी। मम्मट ने व्यंग्य की अगूढता और गूढता का स्पष्टीकरण करने के लिए जो उदाहरण दिए हैं, वे क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(अ) श्रीपरिचयाज्जडाऽपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥

(आ) मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं,
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं,
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥

इन उदाहरणों में प्रथम उदाहरण प्रयोजनवती (व्यंग्यसहित) अगूढ व्यंग्य लक्षणा का है। इसका सरलार्थ यह है कि सम्पत्ति का परिचय हो तो जड बुद्धि भी विदग्ध चरित का अनुकरण कर सकते हैं। यौवन का मद हो तो कामिनी स्त्रियों को विलास की शिक्षा देता है। इस छंद में 'उपदिशति' शब्द का प्रयोग लक्ष्यार्थ में हुआ है। इसका लक्ष्यार्थ यह है कि यौवन के उदयकाल में कामिनी स्त्रियों में विलास का प्रस्फुरण स्वतः ही हो जाता है और उसके लिए किसी भी प्रकार के प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ लक्षणा का आधारभूत व्यंग्य

---

1. काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास, कारिका 16, सूत्र 28

उतना ही स्पष्ट है जितना वाच्यार्थ, अतः यह अगूढ व्यंग्य का उदाहरण है।

द्वितीय उदाहरण गूढ व्यंग्य का है। इस पद में विकसित वशित, समुच्छलित, आपास्त, मुकुलित, उद्धुर, उद्‌गम और मोदते शब्द लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त हैं एवम् उनका आधारभूत प्रयोजन व्यंग्य है जो केवल सहृदयदयग्राह्य होने के कारण प्रयोजनवती लक्षणा के गूढव्यंग्य नामक भेद का सूचक है। इस छंद में प्रयुक्त लाक्षणिक शब्दों के मुख्यार्थबाध, लक्ष्यार्थ, मुख्यार्थयोग और व्यंग्य-प्रयोजन की व्याप्ति काव्यवासना से परिपक्व बुद्धि वाले सहृदयों के मानस में ही उद्‌बुद्ध हो सकती है।

गूढव्यंग्य का एक अन्य उदाहरण प्रदीपकार का निम्नलिखित छंद है, जिसमें मलिनयति, कवलयति, स्थगयति और तिरयति शब्द लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त हैं—

> चकोरीपाडित्यं मलिनयति दुग्धंगिमहिमा,
> हिमांशोरद्वैतं कवलयति वस्त्रं मृगदृशः।
> सभोवैदग्ध्यानि स्थगयति कचः, किं च वदनं,
> कुहूकंठीकंठध्वनिमधुरिमाणं तिरयति ॥

अभिप्राय यह है कि काव्य का उत्तम भेद गूढव्यंग्य ही है क्योंकि उसमें अगूढ व्यंग्य की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य होता है। अगूढ व्यंग्य मध्यम श्रेणी का काव्य है, क्योंकि उसमें वाच्यार्थ की सी प्रतीति होती है। मम्मट ने दोनों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—'कामिनी-कुच कलशवत् गूढं चमत्करोति, अगूढंतु स्फुटतया वाच्यायमानं इतिगुणी-भूतम् एव।' वस्तुतः काव्य में गूढता होनी चाहिए पर वह ऐसी न हो कि उसके प्रति सहृदय का आकर्षण ही समाप्त हो जाए। काव्य के गूढागूढव्यंग्य का निदर्शन निम्नलिखित छंद में अत्यन्त रमणीयता से प्रस्तुत किया गया है—

> नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो,
> नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
> अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्।
> सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ॥

व्यंजना-वृत्ति-शाब्दबोध की तृतीय शक्ति

'व्यंजना' वृत्ति एक स्वतन्त्र शक्ति है

काव्य के शाब्दबोध तथा अर्थग्रहण कराने की तृतीय शब्द-शक्ति का नाम 'व्यंजना' है, जिसे स्वतंत्र वृत्ति सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिए जाते हैं।

इस बात का उल्लेख तो किया ही जा चुका है कि प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानना सम्भव नहीं है और यदि व्यंजना विरोधी ऐसा मानकर उसके लिए प्रयोजन में भी कोई अन्य प्रयोजन सिद्ध करने की चेष्टा करें तो भी उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस स्थिति में वह दूसरा प्रयोजन भी लक्ष्य होगा और फिर उसके लिए तीसरे तथा तीसरे के लिए चौथे प्रयोजन की आवश्यकता पड़ेगी, जिसके कारण वहाँ 'अनवस्था दोष' हो जाएगा। वस्तुतः यह अनवस्था दोष ही मूलक्षयकारी है और उसकी आशंका से भी प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता। इतना ही नहीं, प्रयोजन विशिष्ट में भी लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि विशिष्ट-लक्षणा का सिद्धान्त मानने पर 'गंगायां घोषः' के अन्तर्गत लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय 'तट' और उसके फल शैत्य या पावनत्व भी पृथक्-पृथक् मानने होंगे, जिनके कारण उनकी उत्पत्ति समकाल में सम्भव न होगी। वस्तुतः प्रयोजन-सहित शैत्य और पावनत्व आदि के कारण विशिष्ट तीर को लक्ष्यार्थ मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि नैयायिक और मीमांसक दोनों ही क्रमशः अनुव्यवसाय सिद्धांत तथा ज्ञातता सिद्धांत के बल पर ज्ञान के विषय और उसके फल को पृथक्-पृथक् मानते हैं जिसके आधार पर भी प्रयोजन-सहित तट आदि को लक्ष्यार्थ मानना उचित नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि विशिष्ट में लक्षणा हो ही नहीं सकती और तट आदि रूप लक्ष्यार्थ में जो पावनत्व आदि 'विशेष' हैं, वे अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न व्यापार द्वारा गम्य हैं। अतः व्यंजन, द्योतन तथा ध्वनन आदि शब्दों से वाच्य कहे जाने वाले उस व्यापार को व्यंजना-व्यापार ही मानना चाहिए।[1] इस मान्यता के अनुसार लक्षणामूला व्यंजना की स्थिति स्वतः सिद्ध होती है।

व्यंजना-वृत्ति के भेद :

शाब्दी व्यंजना— व्यंजनावादियों के अनुसार व्यंजना-वृत्ति के दो भेद हैं- 1 शाब्दी व्यंजना और 2 आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना के दो प्रकार हैं—1 अभिधामूला व्यंजना 2. लक्षणामूला व्यंजना। लक्षणामूला व्यंजना का निरूपण लक्षणावृत्ति के प्रसंग में किया जा चुका है। अतः अब हमें अभिधामूला व्यंजना का स्पष्टीकरण कर इस चर्चा का समापन करना है। आचार्य मम्मट ने उस शब्द-व्यापार को अभिधामूला व्यंजना कहा है जो संयोग आदि द्वारा अनेकार्थक शब्दों के वाचकत्व के किसी एक अर्थ में नियंत्रित हो जाने पर उससे भिन्न अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला हो।[2] आचार्य

---

1. तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यंजनध्वननद्योतनादि शब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम्। (काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास-सूत्रवृत्ति-31)

2 अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थ धीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥ (वही-सूत्र संख्या 33)

भर्तृहरि ने अनेकानेक शब्दों का एकार्थ में नियंत्रण करने के चतुर्दश कारण निर्दिष्ट किये हैं जो निम्नलिखित कारिकाओं में अंकित हैं:-

> संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
> अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्यसन्निधिः ।
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृतिहेतवः ।।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में उपर्युक्त चतुर्दश कारणों को एकार्थनियामक हेतु कहा है, क्योंकि ये सब अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ में निर्णय-बोध कराने के कारण बनते हैं । इन सबके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

1-2. संयोग और विप्रयोग की नियामकता—कोश के अनुसार 'हरि' शब्द के अनेकार्थवाची है, किन्तु 'सशंखचक्रहरि' कहने पर संयोग से तथा 'अशंखचक्रहरि' कहने पर वियोग से दोनों का अर्थ 'विष्णु' रूप में नियंत्रित होता है ।

3-4. साहचर्य-विरोध क. नियामकता-'राम-लक्ष्मण' पद के प्रयोग में साहचर्य कारण राम-लक्ष्मण दोनों शब्दों का दशरथ के पुत्र में नियंत्रण होता है और 'रामार्जुन' कहने से राम और अर्जुन शब्दों की विरोधिता के कारण उनके अर्थ क्रमशः 'परशुराम' और 'कार्तवीर्यअर्जुन' अर्थ में नियंत्रित होते हैं ।

5-6. अर्थ-प्रकरण की नियामकता—'संसार से पार उतरने के लिए 'स्थाणु' का भजन कर, इस प्रयोग में 'स्थाणु' शब्द प्रयोजनरूप अर्थ के कारण 'शिव' अर्थ में नियंत्रित हो जाता है । इसी प्रकार 'देव सब जानते हैं' 'इस वाक्य में अनेकार्थक 'देव' शब्द 'आप' अर्थ में नियंत्रित हो जाता है ।

7. लिंग की नियामकता—'मकरध्वज' कुपित हो रहा है' इस उदाहरण में लिंग अर्थात् कोपरूप चिह्न से 'मकरध्वज' पद 'कामदेव' में नियंत्रित हो जाता है, यद्यपि मकरध्वज पद के 'समुद्र' और 'औषधिविशेष' अर्थ भी होते हैं ।

8. शब्दसन्निधि की नियामकता—'पुरारिदेव' के प्रयोग से अनेकार्थक 'देव' शब्द 'पुराराति' रूप अन्य शब्द के सन्निधान के कारण 'भगवान शंकर' के अर्थ में नियंत्रित है ।

9. सामर्थ्य की नियामकता—'कोकिल मधु से मत्त हो रहा है', इस वाक्य में कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसंत में होने के कारण 'मधु' शब्द सामर्थ्य-वश 'वसंत ऋतु' अर्थ में नियंत्रित हो गया है ।

10. औचित्य की नियामकता—'पत्नी का मुख' 'तुम्हारी रक्षा करे' इस उदाहरण में, अनेकार्थक 'मुख', शब्द औचित्य के कारण 'साम्मुख्य' अथवा 'अनुकूलता' का व्यंजक है।

11. देश की नियामकता—'यहाँ 'परमेश्वर' शोभित होते हैं' इस वाक्य मे राजधानी रूप देश के कारण अनेकार्थक 'परमेश्वर' शब्द 'राजा' अर्थ में नियन्त्रित है।

12 काल की नियामकता—'चित्रभानु' चमक रहा है, यहाँ अनेकार्थक 'चित्रभानु' शब्द दिन मे 'सूर्य' अर्थ मे और रात्री मे 'अग्नि' अर्थ मे काल के कारण नियन्त्रित हो जाता है।

13 व्यक्ति की नियामकता—'मित्रो भाति' इस वाक्य मे नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ अनेकार्थक 'मित्र' शब्द व्यक्ति अर्थात् लिंग के कारण 'सुहृत्' अर्थ मे नियन्त्रित हो गया है। यदि इसी 'मित्र' शब्द का प्रयोग पुल्लिंग मे किया जाय तो वह 'सूर्य' अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है। संस्कृत मे 'मित्र' शब्द का प्रयोग पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग मे किये जाने का व्याकरणसम्मत विधान है।

14 स्वरभेद के प्रभाव से नियामकता—'इन्द्रशत्रु' आदि प्रयोगो मे वेद मे ही स्वर अर्थविशेष का बोधक होता है काव्य मे नहीं। अतएव उसके लौकिक उदाहरण नही मिलते फिर भी इसका उल्लेख करना आवश्यक है। महाभाष्यकार ने दुष्टशब्दों के प्रयोग को निंदनीय कहा है क्योंकि उसके कारण भी अर्थ मे कभी-कभी अनर्थता आ जाती है। पतंजलि ने महाभाष्य मे लिखा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो अपराधात्।।

अभिप्राय यह है कि संयोग आदि द्वारा अन्य अर्थ की बोधिता का निवारण हो जाने पर भी अनेकार्थक शब्द जो कहीं दूसरे अर्थ का प्रतिपादन करता है वहाँ उसका नियंत्रण हो जाने के कारण उसमे अभिधा हो सकती है। वहाँ मुख्यार्थबाद आदि के अभाव मे लक्षणा भी नही हो सकती अतः व्यंजना-व्यापार अथवा वृत्ति की सत्ता मानना अनिवार्य है।

आर्थी व्यंजना—आर्थी व्यंजना वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य नामक तीन प्रकार के अर्थों की व्यंजकता पर आधारित होती है। उसमे वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसंनिधि, प्रस्ताव देश और काल के वैशिष्ट्य के कारण प्रतिभाशाली सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ-व्यापार रहता है। शाब्दी व्यंजना मे शब्द ही मुख्य रूप से व्यंजक होता है और अर्थ की उसमे सहकारिता रहती है, किंतु आर्थी व्यंजना मे अर्थ के मुख्य रूप से व्यंजक होने पर उसमे शब्द की सहकारिता होती है। यहाँ यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि शब्द-प्रमाण से अन्य अर्थ, अर्थान्तर को व्यक्त करता है जिसका एक अभिप्राय यह भी है कि अनुमान आदि अन्य प्रमाणो से वेद्य अर्थ व्यंजक नहीं होता। प्रायः समस्त आचार्यों ने आर्थी व्यंजना के उपर्युक्त दसो प्रकार का विवेचन कर इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि उनमे आर्थी व्यंजना का स्वरूप किस

किस प्रकार समन्वित है। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त है कि कभी वक्ता अथवा बोद्धा के वैशिष्ट्य में व्यंजना का अंतर्भाव रहता है तो कभी काकु के वैशिष्ट्य में। आचार्यों ने काकु की परिभाषा 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' की है जिसका अभिप्राय यह है कि एक विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि अथवा 'बोलने का लहजा' काकु है जिसके वैशिष्ट्य में काव्यार्थ बोध में व्यंजना-वृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। यों तो आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास के अन्तर्गत काक्वाक्षिप्त अर्थ में गुणीभूतव्यंग्य काव्य माना है, किन्तु उसके पूर्व वे तृतीय उल्लास में यह बात भी लिख चुके हैं कि जहाँ काकु से लभ्य अर्थ वाच्य की सिद्धि का अंग होता है वहाँ ध्वनिकाव्य न होकर गुणीभूतव्यंग्य काव्य ही होता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। उनका मत है कि प्रश्नमात्र से भी काकु की विश्रांति हो सकती है और उससे व्यंग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता। इस विषय में मम्मट ने लिखा है—

"न च वाच्यसिद्ध्यंगं काकुरिति गुणीभूतव्यंग्यत्वं शंक्यम्। प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः।" (काव्यप्रकाश तृतीय उल्लास)

जिस प्रकार वक्ता और बोद्धा के वैशिष्ट्य में आर्थी व्यंजना के पृथक्-पृथक् दो भेद किये गये हैं, उसी प्रकार वाक्य और वाच्य के वैशिष्ट्य से भी उसके पृथक्-पृथक् भेद माने जाते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि कहीं-कहीं एक ही उदाहरण दोनों भेदों का निरूपक बन जाता है। वक्ता और बोद्धा के प्राधान्य की विवक्षा की भाँति वाक्य और वाच्य का प्राधान्य भी विवक्षित हो सकता है। अन्यसन्निधि, प्रस्ताव (प्रकरण) और काल के वैशिष्ट्य में भी आर्थी व्यंजना ध्वनित होती है जिसके प्रभूत उदाहरण शृंगार रस तथा नायिका-भेद-प्रधान काव्य-कृतियों में उपलब्ध होते हैं। कभी-कभी चेष्टा के वैशिष्ट्य से भी व्यंजकता रहती है। इस प्रकार आर्थी व्यंजना के दस प्रकारों में न केवल वाच्य अर्थ की ही व्यंजकता ध्वनित होती है, अपितु वाच्य के समान लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थ भी व्यंग्य हो सकते हैं। आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के तृतीय उल्लास में वाच्य अर्थ की व्यंजकता के दसों प्रकारों के क्रमशः उदाहरण देकर इस विषय को सुबोध रूप में प्रस्तुत किया है। यों तो एक ही उदाहरण में दो तीन या उनसे अधिक भेदों को एक ही स्थान पर निरूपित किया जा सकता था, किन्तु इस प्रकार के पृथक्-पृथक् उदाहरण देने से काव्य-भावकों की जिज्ञासा का परिशमन अधिक व्यापकता से हो सका है।—

व्यंजना वृत्ति ही ध्वनि-भेदों की प्रतीति कराती है

आचार्य मम्मट ने व्यंजना की अपरिहार्यता पर बहुत अधिक बल दिया है। उनका तो यह सुदृढ़ विश्वास है कि व्यंजना के अतिरिक्त ऐसा अन्य कोई भी उपाय नहीं है जिसके द्वारा ध्वनि के भेदोपभेदों की प्रतीति की जा सके।

उन्होंने ध्वनि के 'वाच्यतासह' तथा 'वाच्यता-असह' नामक दो भेद मान कर 'वाच्यतासह' को 'विचित्र' तथा 'अविचित्र' नामक दो भेदों में विभक्त किया है। उनके मतानुसार विचित्र तथा अविचित्र भेदों का अतर्भाव क्रमशः 'अलकार ध्वनि' और 'वस्तु ध्वनि' में किया जा सकता है। कहने के लिए तो 'वाच्यतासहविचित्र' ध्वनि का अलकाररूप' है किन्तु ऐसा मानना केवल ब्राह्मण-श्रमण-न्याय से ही उचित है क्योंकि उसमें भी व्यग्य की सत्ता प्रधान होने के कारण उनका व्यग्यार्थ अलकार न होकर अलकार्य ही होता है।[1]

रसादिध्वनि का अर्थ सदैव 'व्यग्य' होता है

मम्मट के अनुसार 'रसादिरूप अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता। यदि उसे वाच्य माना जाए तब तो वह रस अथवा शृगारादि शब्दों द्वारा ही अभिधाशक्ति से वाच्यरूप में व्यक्त हो सकता है। रति और शृगार आदि शब्दों से उसे अभिधाशक्ति द्वारा वाच्य कहना समुचित नहीं है, क्योंकि उन शब्दों का प्रयोग होने पर भी तब तक रस की प्रतीति नहीं हो सकती जब तक विभाव आदि का प्रयोग उनकी अनुभूति न करा दे। वस्तुतः विभाव आदि के कथन द्वारा ही रसादि की प्रतीति होती है, यह बात अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है।[2] इससे स्पष्ट है कि रसादिध्वनि का अर्थ सदैव व्यग्य होता है। लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं (मुख्यार्थ-बाध आदि) के न होने से वह लक्षणीय अर्थात् लक्षणागम्य भी नहीं हो सकता। अभिधामूलाध्वनि में असलक्ष्यक्रमव्यग्य रसादि रूप अर्थ की प्रतीति के लिए तो व्यजना वृत्ति की स्वीकृति अनिवार्य है ही उसके अतिरिक्त लक्षणामूला ध्वनि के अर्थान्तरसक्रमित वाच्य और अत्यतितिरस्कृतवाच्य नामक जो दो भेद माने जाते हैं, उनमें भी व्यजना-व्यापार द्वारा ही व्यग्यार्थ प्रतीति होती है। सच तो यह है कि इन दोनों भेदों में वस्तुमात्ररूप व्यग्य के बिना लक्षणा हो ही नहीं सकती क्योंकि उनमें व्यग्य प्रयोजन न हो तो वहाँ लक्षणा के लिए भी कोई अवसर नहीं है। अभिधामूला-ध्वनि का असलक्ष्यक्रमव्यग्य अर्थात् रसादि ध्वनि नामक भेद तो पूर्णतया 'अवाच्य' होता है जो किसी भी स्थिति में वाच्य न रह कर सर्वत्र व्यग्य ही होता है।

---

1. काव्यप्रकाश भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ सख्या 216
2. रसादि लक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृगारादिशब्देन वा अभिधीयते। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते,' इति निश्चीयते। तेनासौ व्यग्य एव। मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः।

(काव्यप्रकाश-पचम उल्लास, पृष्ठ सख्या 217)

यह बात हम पहले ही कह चुके हैं। यहाँ पर इस बात का भी उल्लेख करना आवश्यक है कि अभिधामूला संलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक ध्वनि के जो तीन भेद (शब्द शक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ) किये जाते हैं, उनमें भी व्यंजना-वृत्ति की सत्ता मानना अनिवार्य है। आचार्य मम्मट ने अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विधि से इस विषय का विवेचन किया है।

व्यंजनावृत्ति का विस्तार

व्यंजनावृत्ति का विस्तार लक्षणामूलाध्वनि के दो भेदों, अभिधामूला संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के विविध प्रकारों और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के रसादि ध्वनिरूपों तक ही सीमित नहीं, अपितु उसे मीमांसकों की तात्पर्यवृत्ति से आगे भी व्याप्त किया जा सकता है अभिहितान्वयवादियों ने अभिधा-शक्ति से केवल पदार्थों की उपस्थिति बतला कर पदार्थों के परस्परसंसर्गरूप वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए 'तात्पर्याख्या शक्ति' मानी है जो एक प्रकार से अर्थ-बोध की सीमा है, *किन्तु यह सीमा साहित्यशास्त्रियों को मान्य नहीं है।* इसका कारण यह है कि *तात्पर्यवृत्ति से वाक्यार्थ की प्रतीति होने के पश्चात् भी व्यंग्यार्थ का बोध कराने* के लिए व्यंजना-वृत्ति की आवश्यकता बनी ही रहती है, क्योंकि केवल अभिधा-वृत्ति से उसे बोध्य या वाच्य नहीं कहा जा सकता। आचार्य मम्मट ने अन्विताभिधानवाद के अनुसार अर्थ-बोध की सीमा का विवेचन कर अन्ततः यह निष्कर्ष निकाला है कि विधिरूप वाच्यार्थ से निषेधरूप व्यंग्यार्थ तथा निषेधरूप वाच्यार्थ से प्रतीत होने वाले विधिरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने के लिए भी व्यंजना-वृत्ति की सत्ता मानना अनिवार्य है।

मीमांसक और व्यंजनावादी आचार्यों द्वारा व्यंजना-वृत्ति का खंडन-मंडन

प्रायः सभी मीमांसकों ने व्यंजना-शक्ति का विरोध किया है। *'अभिधा-वृत्तिमातृका' नामक ग्रंथ के लेखक मुकुल भट्ट का मत है कि शब्द-शक्तियों में केवल अभिधा और लक्षणा ही प्रतिपाद्य हैं और उनमें भी अभिधा-वृत्ति अधिक* महत्वपूर्ण है क्योंकि लक्षणा-वृत्ति का अन्तर्भाव उसी में किया जा सकता है। अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी आचार्यों के मत तो विवेचित किये ही जा चुके हैं। इनके अतिरिक्त मीमांसकों का एक अन्य मत और भी है जो 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' द्वारा यह आशय व्यक्त करता है कि व्यंजनावादियों का अभिप्रेत 'व्यंग्यार्थ' भी शब्द से प्रतीत होता है, अतः शब्द के अतिरिक्त उसका कोई निमित्त नहीं हो सकता। कारक और ज्ञापक रूप से निमित्त के जो दो प्रकार होते हैं, उनमें शब्द को कारकरूप-निमित्त नहीं कहा जा सकता। मुकुलभट्ट का मत है कि शब्द में अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति केवल *अभिधारूपा है और शब्द से व्यंग्यार्थ की जो प्रतीति होती है,* वह शब्द के

अभिधाव्यापार द्वारा ही होती है। अभिप्राय यह है कि इन मीमांसकों की दृष्टि से भी व्यंजना-व्यापार की कल्पना निरर्थक है।

व्यंजनावृत्ति के विरोधियों में नाट्यसूत्र के व्याख्याता और कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक आचार्य भट्ट लोल्लट भी प्रमुख हैं। उनका मत है कि जिस प्रकार एक ही बार छोड़ा हुआ बाण क्रमश शत्रु का कवच-भेदन, वक्षस्थल-विदारण और प्राण-विमोचन करता है, उसी प्रकार एक ही बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक ही व्यापार से क्रमश वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहे जाने वाले तीनों अर्थों का बोधक हो सकता है। ऐसी स्थिति में शब्द में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। भट्ट लोल्लट ने अपने मत के समर्थन में 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' द्वारा एक अन्य-युक्ति प्रस्तुत की है, जिसका अर्थ यह है कि जिस अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही उस शब्द का अर्थ होता है। उनका कहना है कि सभी अर्थ अभिधा द्वारा ही उपस्थित होते हैं और वाच्यार्थ-बोधन के अतिरिक्त लक्ष्य या व्यंग्य संज्ञक अर्थों का बोध कराने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वे शब्द भी मूलत वाचक ही होते हैं। भले ही उनसे अन्य अर्थों की प्रतीति हो जाए। अत अभिधा को 'सोऽयमिषोरिव दीर्घ दीर्घतरो व्यापार' मानना ही उचित है।

व्यंजनावादियों ने अनेक तर्कों और विधियों का आधार लेकर भट्ट लोल्लट की मान्यता का खंडन किया है। भट्ट लोल्लट आदि मीमांसकों ने 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इस 'तात्पर्यवाचो युक्ति' का यह अर्थ निकाला था कि लक्ष्य और व्यंग्य आदि समस्त अर्थों को वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिए। यह मान्यता आदि व्यंजनावादियों को स्वीकार नहीं है। उनका मत है कि 'यत्पर' शब्द स शब्दार्थ' का आशय यह समझा जाना चाहिए कि जिस अप्राप्त अंश के बोधन में विधि-वाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवाक्य का विधेय या प्रतिपाद्य अर्थ है। उस वाक्य का यह तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ आदि शब्द केवल वाच्यार्थ ही होते हैं। यदि ऐसा होता तो कुमारिल भट्ट आदि मीमांसक लक्षणावृत्ति का प्रतिपादन नहीं करते। व्यंजनावादियों का कहना है कि भट्ट लोल्लट आदि विचारकों ने 'तात्पर्यवाचो युक्ति' के आधार पर 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' से व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ सिद्ध करने का जो प्रयास किया है वह मूर्खतापूर्ण है। मम्मट ने ऐसे मीमांसकों के लिए "तेऽप्यतात्पर्यज्ञा-स्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रिया" आदि आक्रोशव्यंजक शब्द प्रयुक्त किये हैं, जिनमें विद्वद्जनसुलभ शालीनता का अभाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'देवाना प्रिय' का मुख्यार्थ देवताओं का प्रिय है और इसी अर्थ के कारण बौद्ध मतानु-यायी सम्राट् अशोक ने अपने नाम के पूर्व इसे उपाधिरूप में धारण किया था, किन्तु कालांतर में धार्मिक विद्वेष के कारण काशिकाकार ने 'देवाना प्रिय इति च मूर्खे' लिखकर उसे 'मूर्ख' अर्थ में रूढ कर दिया। मम्मट ने भट्ट लोल्लट आदि

विचारकों के लिए 'देवाना प्रिय' के रूढ अर्थ का ही प्रयोग किया है, जिससे स्पष्ट है कि वे उनकी तात्पर्यबोधक युक्ति का दृष्टिकोण सर्वथा मूर्खतापूर्ण मानते थे।

मम्मट ने 'तात्पर्यवाचो युक्ति' का अभिप्राय स्पष्ट करने के प्रकरण मे 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ' तथा 'भूतभव्यायोपदिश्यते' इत्यादि दो विशेष-वाक्य उद्धृत किये हैं। उनका कहना है कि मीमासको ने इन पदो की जो विवेचना की है, उसे तात्विक रूप से बोधगम्य करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सिद्ध पदार्थों का विधान अनर्थक होने के कारण मुख्य रूप से साध्यभूत क्रियाश का ही विधान किया जाता है। यो तो प्रत्येक दशा मे जो विधेय होता है, उसी मे वाक्य के अन्य पदार्थों का तात्पर्य होता है, किन्तु जिस अर्थ मे तात्पर्य होता है उसका वाचक शब्द वाक्य मे अवश्य उपात्त होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि वाक्य मे उपात्त किसी एक शब्द के अर्थ मे ही वाक्य के अन्य पदो का तात्पर्य होता है। शब्दत. अनुपात्त अर्थ मे तात्पर्य नही होता और व्यग्यार्थ का वाचक कोई शब्द वाक्य में उपात्त नही होता, अत: 'यत्पर: शब्द. स शब्दार्थ.' का नियम उस पर घटित नही किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे व्यग्यार्थ की प्रतीति किसी भी प्रकार अभिधा मे सम्भव नही है और उसकी प्रतीति के लिए व्यजना-वृत्ति को स्वीकार करना ही पडेगा। मम्मट ने तो यहां तक लिखा है कि आचार्य भट्ट लोलल्ट आदि विचारकों ने जिस रूप मे व्यजना को अभिधा-व्यापार सिद्ध करने का प्रयास किया है, वह मूलत. न तो मीमासा-दर्शन के ही अनुकूल है और न उसमे व्यावहारिक सगति ही है। सच तो यह है कि जो शब्द किसी वाक्य मे आते हैं, उनमे से ही किसी एक अर्थ मे वाक्य का तात्पर्य हो सकता है, अन्य रूप मे नही। चूंकि व्यजनावादी जिस अर्थ को व्यग्य कहना चाहते हैं उसका वाचक कोई भी शब्द वाक्य मे उपात्त न होने के कारण उसमे तात्पर्य नही हो सकता ; अत. भट्ट लोलल्ट ने 'यत्पर. शब्द. स शब्दार्थ:' की युक्ति के आधार पर जिस रूप मे व्यग्यार्थ को तात्पर्य विषय मान कर उसे वाच्यार्थ कहा है, वह युक्तिसंगत नही है।

आचार्य मम्मट का तो यह स्पष्ट मत है कि 'यत्पर: शब्द. स शब्दार्थ.' के नियमानुसार उसी अर्थ मे तात्पर्य माना जा सकता है जिसका वाचक कोई शब्द वाक्य मे विद्यमान हो। यदि किसी वाक्य मे वाचक शब्द उपस्थित नही है और किसी अन्य प्रकार से अर्थ की प्रतीति हो जाती है तो वहाँ तात्पर्यनिर्णयक नियम घटित नही होता। उन्होंने मीमासावादी आचार्यों के इस *मत का खण्डन किया है कि अनुपात्त शब्द के अर्थ मे ही तात्पर्य होता है।'* 'विषं भक्ष्य मा चास्य गृहे भुक्था' अर्थात 'विष भले ही खा लेना किन्तु इसके घर मे भोजन मत करना' इस वाक्य से मीमासावादियो ने 'विष भक्ष्य' आदि

वाक्य का जो तात्पर्य या वाक्यार्थ निकाला था वह मम्मट को स्वीकार नहीं है। उनका तो कहना है कि उपर्युक्त वाक्य में 'चकार' का प्रयोग दोनों वाक्यों की एकवाक्यता के सूचनार्थ है और उसके प्रथम भाग 'विष भक्ष्य' का जो यह तात्पर्य निकलता है कि शत्रु के घर में भोजन करना विषभक्षण से भी बुरा है, इसलिए 'उसके घर में मत खाओ' वह उपात्त शब्द के अर्थ में ही होता है, अनुपात्त शब्द के अर्थ में नहीं।[1]

वाक्यों में अर्थ-निर्णय के विषय में मीमांसकों और व्यंजनावादियों में प्रबल विरोध है। दोनों विचारधाराओं के विद्वान् अपनी अपनी युक्तियों के आधार पर निजी पक्ष का समर्थन करते हैं। उपर्युक्त 'विष भक्ष्य मा चास्य गृहे भुङ्क्था' वाक्य की तात्पर्य-बोध कराने की प्रक्रिया के विषय में उनमें मतैक्य नहीं है। मीमांसकों ने व्यंजनावादियों के इस वाक्य के सम्बन्ध में निरूपित इस सिद्धान्त का खंडन किया है कि इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता है। उनका कहना है कि 'एक तिङ्वाक्यम्' इस नियम के अनुसार इन वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध नहीं होती क्योंकि इसमें 'भक्ष्य' तथा 'भुङ्क्था' नामक दो क्रियापद प्रयुक्त हुए हैं। इन दो तिङन्त क्रियापदों से घटित वाक्यों में दोनों के प्रधान और स्वतन्त्र वाक्य होने से उनका अंगांगिभाव नहीं हो सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यंजनावादियों का वह मत ठीक नहीं है, जिसमें उन्होंने दोनों वाक्यों की एकवाक्यता मानी है।

मीमांसकों के उपर्युक्त तर्क को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करते हुए मम्मट आदि व्यंजनावादियों ने उसका खंडन किया है। उनका मत है कि उपर्युक्त वाक्यों को पृथक्-पृथक् मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर वाक्य का अर्थ सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है। वस्तुतः यह 'सुहृद्वाक्य' है जिसके कारण उसके अंगांगिभाव की कल्पना किए बिना उसका अर्थ निकल ही नहीं सकता। इन दोनों वाक्यों की एकवाक्यता होने के कारण ही 'उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थेतात्पर्यम्' इस नियम की संगति सिद्ध हो सकती है। निष्कर्ष यह है कि व्यंग्यार्थबोध के लिए अभिधा से भिन्न व्यंजनावृत्ति मानना अपरिहार्य है। उन्होंने अपने पक्ष की संपुष्टि करने के लिए और भी युक्तियाँ उपस्थित की हैं। उनमें से एक युक्ति का उद्धरण उल्लेखनीय है, जिसका स्पष्टीकरण उसी के पश्चात् किया गया है—

"यदि च शब्दश्रुतेरनंतरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, तत् कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्? कस्माच्च लक्षणा? लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधा-व्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्वबलवत्ता च मान्य? इत्यन्विताभिधानवादे वि विधेरपि सिद्ध

1. काव्यप्रकाश : पंचम उल्लास, पृ० 235

ध्वंग्यत्वम् ।"[1]

"और यदि यह कहा जाए कि शब्द के श्रवण के पश्चात् जितना भी अर्थ प्रतीत होता है, उस सबके शब्द का केवल अभिधा-व्यापार ही कार्य करता है तो 'हे ब्राह्मण तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है,' 'हे ब्राह्मण, तुम्हारी अविवाहिता कन्या गर्भिणी हो गई है', इत्यादि वाक्यों में उनके सुनने से उत्पन्न होने वाले क्रमशः हर्ष तथा शोक आदि को भी वाच्य क्यों नहीं मानते हो ? और लक्षणा भी क्यों मानते हो ? लक्षणीय अर्थ में भी इच्छानुसार दूर तक चलने वाले दीर्घ दीर्घतर अभिधाव्यापार से ही लक्ष्यार्थ की भी प्रतीति सिद्ध हो जाने से व्यंजना के समान लक्षणा का मानना भी आवश्यक नहीं है। साथ ही साथ मीमांसादर्शन में प्रतिपादित श्रुति, लिंग, वाक्य प्रकरण, स्थान और समाख्या नामक प्रमाणों के समवाय में पूर्वपूर्व की बलवत्ता क्यों मानी जाती है ? अभिप्राय यह है कि शब्द श्रवण के पश्चात् यदि सभी अर्थों की प्रतीति केवल अभिधा-व्यापार से ही सम्भव हो तो न तो लक्षणा-व्यापार की ही आवश्यकता है और न श्रुति आदि प्रमाणों की, किन्तु ऐसा तो मीमांसक भी नहीं मानते। अतः सभी दृष्टियों से व्यंजना की सिद्धि अनिवार्य है। अन्विताभिधानवाद में भी 'निःशेषच्युत' आदि उदाहरणों में निषेधरूप वाच्यार्थ से प्रतीत होने वाले विधिरूप की व्यंग्यता सिद्ध होती है।"

आचार्य मम्मट ने मीमांसा-दर्शन के 'बलाबलाधिकरण' नामक प्रमुख सिद्धांत को पूर्वपक्ष के रूप में विवेचित कर अंत में यह निर्णय किया है कि यदि शब्द-प्रमाण के पश्चात् प्रतीत होने वाले समस्त अर्थ को एक ही अभिधा-व्यापार से बोधित होने वाला अर्थ माना जाए तो उस अर्थ की प्रतीति में पौर्वापर्य का कोई क्रम ही नहीं बनता और उस स्थिति में श्रुति आदि छह प्रमाणों में किया गया बलाबल का निर्धारण भी व्यर्थ हो जाता है, जिससे मीमांसावादियों का मत खंडित हो जाता है। अतः सभी दृष्टियों से व्यंजना-व्यापार की सिद्धि स्वीकार करनी ही पड़ती है।

काव्यशास्त्रीय प्रक्रिया से व्यंजना की सिद्धि

मम्मट ने साहित्यशास्त्र की प्रक्रिया की दृष्टि से भी व्यंजना-वृत्ति का अस्तित्व सिद्ध किया है। उन्होंने काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास में 'कुरु रुचिम्' आदि पदों के वैपरीत्य में अश्लीलता दोष का उल्लेख कर अर्थात् 'कुरु रुचिम्' पद को 'रुचि-कुरु' करने से 'चिकुं' (योन्यंकुर अथवा भगनासा-रूप) का अर्थ निरूपित कर यह बतलाया है कि इन पदों में से किसी भी पद का अश्लील अर्थ वाच्य नहीं है तो फिर केवल अभिधावृत्ति से ही अश्लील अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने यही संकेत किया है कि इस

---

1. मम्मटः काव्यप्रकाशः पंचम उल्लास, पृ० 237

अर्थ की प्रतीति में अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थबोधक वृत्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा और वह वृत्ति केवल व्यंजना-वृत्ति ही हो सकती है क्योंकि उसी के द्वारा 'किं' शब्द से 'शोन्यतुर' का अर्थ ध्वनित होता है जो अन्य पदार्थों के साथ अन्वित न होने के कारण वाच्यार्थ नहीं हो सकता।[1] काव्यारवादयिताओं ने इस प्रकार के प्रयोगों को वर्जनीय निरूपित करते हुए उन्हें अश्लील अर्थ का व्यंजक माना है जिसमें अभिधा के अतिरिक्त व्यंजना-वृत्ति को अर्थबोध की पृथक् वृत्ति के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। मम्मट ने इसी प्रसंग में व्यंजनावृत्ति के समर्थन में एक अन्य प्रमाण प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था तभी बन सकती है जब वाच्यवाचकभाव के अतिरिक्त व्यंग्य-व्यंजकभाव की सत्ता मानी जाए।[2] उनका मत है कि ऐसा न मानने पर 'च्युतसंस्कृति' आदि नित्यदोष तथा 'श्रुतिदुष्टत्व' आदि अनित्य दोषों का विभाग सम्भव ही नहीं हो सकता। वस्तुतः व्यंग्यव्यंजकभाव को पृथक् मानने पर ही व्यंजनावृत्ति द्वारा भिन्न-भिन्न रसों के अनुकूल या प्रतिकूल होने के आधार पर नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था बन सकती है अतः उसकी सत्ता सर्वांशेन सुग्राह्य है। उन्होंने गुण-व्यवस्था के द्वारा भी व्यंजना-वृत्ति की सिद्धि की है। ऐसा करने के लिए उन्होंने कुमारसम्भव के पंचम सर्ग का एक सुप्रसिद्ध श्लोक[3] उद्धृत करते हुए लिखा है कि उस श्लोक में शिव के वाचक 'पिनाकी' आदि शब्दों के स्थान पर 'कपाली' जैसे शब्द का प्रयोग होने के कारण उसमें अपेक्षाकृत अधिक काव्यानुगुणत्व आ गया है जिसका हेतु व्यंग्यव्यंजकभाव ही है। यदि ऐसा न माना जाए तो वाचकरूप से सभी शब्दों की समान स्थिति होने के कारण किसी विशेष पद के प्रयोग में कोई विलक्षण चमत्कार हो ही नहीं सकता। वस्तुतः 'कपाली' शब्द का प्रयोग ही उक्त श्लोक के चमत्कार का मूल कारण है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस प्रकार का चमत्कारजन्य अनुभव केवल तत्वाभिनिवेशी सहृदय जन ही कर सकते हैं, तभी तो किसी विचारक ने उचित ही कहा है—

> कवि करोति काव्यानि रसिको वेत्ति तद्रसम् ।
> सावण्य कुचकाठिन्य पतिर्जानाति नो पिता ॥

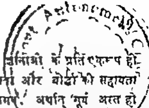
व्यंग्यव्यंजकभाव की सिद्धि में एक प्रमाण यह भी दिया जा सकता है कि

---

1 किंच 'कुरु रुचिं' इति पदयो वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्व ? नह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि.परित्याज्यस्यात् ।

2. काव्यप्रकाश पचम उल्लास, पृ० स० 24 ।

3 द्वय गत सम्प्रति शोचनीयता समागम प्रार्थनया कपालिन ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।



वाच्यार्थ तो अपने निश्चित स्वरूप के कारण सभी ज्ञानियों के प्रति एकरूप ही होता है, किन्तु प्रतीयमान अर्थ प्रकरण-विशेष के वक्ता और बोद्धा की सहायता से भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है। 'गतोऽस्तमर्कः' अर्थात् 'सूर्य अस्त हो गया' आदि वाक्यों का वाच्यार्थ तो सर्वत्र एक सा ही होना चाहिए, किन्तु इसी वाक्य का प्रयोग यदि युद्धोन्मुख सैनिक करते हैं तो उससे शत्रुओं पर आक्रमण करने का व्यंग्यार्थ निकलता है और यदि कोई दूती करे तो वह नायिका के अभिसरण-काल का व्यंग्य द्योतित करती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति प्रकरण-विशेष की भिन्नता के कारण उक्त वाक्य से भिन्न-भिन्न व्यंग्यार्थों का बोध करते हैं जिससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की संख्या में भेद हो जाने के कारण भी व्यंग्यार्थ की सत्ता वाच्य से भिन्न रूप में स्वीकार करनी पड़ती है।

आचार्य मम्मट ने साहित्यशास्त्र में वर्णित गुण-दोष तथा प्रकरण आदि के विचार की दृष्टि से तो व्यंजनासाधक हेतुओं का विवेचन किया ही है, साथ ही साथ वाच्य और व्यंग्य के विविध भेदों में भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का विभेद स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होंने बतलाया है कि कभी-कभी वाच्यार्थ में संशय उपस्थित होने पर व्यंग्यार्थ के स्वरूप में भेद आ जाता है तो कभी-कभी वाच्य और व्यंग्य के निषेध और विधिरूप होने से भी दोनों में स्वरूप-भेद हो सकता है। वाच्य और व्यंग्य का यह स्वरूप-भेद भी व्यंजना की सत्ता सिद्ध करने में एक प्रमाण है। मम्मट ने वाच्य और व्यंग्य के भेदसाधक विभिन्न कारणों का उल्लेख कर अन्त में यही तथ्य प्रतिपादित किया है कि व्यंजना-वृत्ति के अभाव में व्यंग्यार्थ की प्रतीति सिद्ध की ही नहीं जा सकती। उनके निरूपण द्वारा जिस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद स्पष्ट हुआ है उसी प्रकार वाचक और व्यंजक शब्दों का भी अन्तर व्याख्यात किया गया है। उनका तो स्पष्ट मत है कि 'वाचक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा होती है जिसके कारण वे केवल संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकते हैं, किन्तु व्यंजक शब्दों को अर्थ की आवश्यकता नहीं होती जिसके कारण वे संकेतग्रह के बिना भी किसी भी अर्थ का बोध करा सकते हैं। इससे सिद्ध है कि वाचकत्व और व्यंजकत्व एक नहीं हैं अपितु उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि काव्य-कृतियों में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो होती है किन्तु तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं होता। ऐसे अतात्पर्य विषयीभूत अर्थ की प्रतीति केवल व्यंजना-वृत्ति द्वारा ही की जा सकती है। इसका उदाहरण गुणीभूतव्यंग्य का एक भेद 'असुंदर व्यंग्य' है जिसमें व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होते हुए भी वाच्यार्थ के ही चमत्कारयुक्त होने से उसी में चरम विश्रांति होती है। ऐसे स्थलों पर उस व्यंग्यार्थ को तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ भी नहीं कहा जा सकता, अतः उसकी प्रतीति के लिए व्यंजना-

वृत्ति स्वीकार करनी ही पड़ेगी क्योंकि केवल अभिधा से वहाँ पर काम नहीं चल सकता। सारांश यह है कि आचार्य मम्मट ने व्यंजना-वृत्ति की पृथक् सत्ता सिद्ध करने के लिए विभिन्न प्रकार की दार्शनिक और साहित्यशास्त्रीय प्रतिपत्तियों का सतर्क विमर्श प्रस्तुत किया है जिसके कारण उन्हें 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' की सम्मानपूर्ण उपाधि से अलंकृत किया जाता है। वस्तुतः उन्होंने आनन्दवर्धन द्वारा निरूपित ध्वनि-सिद्धान्त को नवचेतना प्रदान की, है जिसके सम्मुख विरोधी विचारकों का स्वर अत्यन्त मंद हो गया है।

व्यंजनावृत्ति लक्षणागम्य भी नहीं है

अभी तक व्यंजनावादियों द्वारा प्रतिपादित युक्तियों द्वारा यह तथ्य प्रतिपादित करने की चेष्टा की गई कि अभिधावृत्ति से व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। अब इस विषय का विवेचन करना अवशिष्ट है कि व्यंग्यार्थ को लक्षणागम्य मानना युक्तिसंगत है या नहीं? इस विषय में लक्षणावादियों का मत है कि व्यंजनावादी आचार्य अपनी व्यंजना की सिद्धि के लिए संख्या, प्रतीति, काल और व्यपदेश आदि का भेद निरूपित करते हुए वाच्यार्थ व व्यंग्यार्थ में जो विशेषताएँ निर्दिष्ट करते हैं वे सब लक्षणा में विद्यमान हैं, अतः व्यंजना नामक पृथक् वृत्ति स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। लक्षणावादियों का मत है कि जिस सिद्धान्त के आधार पर यह बात कही जाती है कि वाच्यार्थ नियतरूप से एक ही होता है और व्यंग्यार्थ नाना प्रकार के हो सकते हैं, उसी सिद्धान्त के अनुसार लक्ष्यार्थ में भी अर्थ नानात्मक सिद्ध किया जा सकता है जिसके कारण व्यंजना का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना व्यर्थ सा प्रतीत होता है। लक्षणावादियों का यह भी कथन है कि व्यंग्यार्थ का सहृदयत्व और विदग्धत्व आदि व्यपदेश-विशेष का हेतु कहकर उसके आधार पर व्यंजना की पृथक् वृत्ति सिद्ध करने का प्रयत्न भी उचित नहीं है, क्योंकि व्यंग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ भी अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य आदि रूप विशेष व्यपदेश का हेतु हो सकता है। उनका तीसरा तर्क यह है कि जिस प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना के रूप में शब्द तथा अर्थ दोनों से ही हो सकती है, उसी प्रकार लक्ष्यार्थ में भी हो सकती है, अतः व्यंजना को स्वतन्त्र वृत्ति मानना अनुचित है। अपना चतुर्थ तर्क प्रस्तुत करते हुए उनका यह भी कथन है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में प्रकरणादि से सहायता मिलती है, उसी प्रकार लक्ष्यार्थ में भी उनकी आवश्यकता रहती है और दोनों का एक ही प्रयोजन होने के कारण लक्षणा से ही व्यंजना का काम चल जाता है, अतः उसे पृथक् वृत्ति क्यों माना जाए? सारांश यह है कि लक्षणावादी आचार्यों की दृष्टि से लक्षणा वृत्ति द्वारा ही समस्त प्रकार का काव्यार्थबोध किया जा सकता है।

लक्षणावादी आचार्यों ने उपर्युक्त जिन चार तर्कों के आधार पर व्यंजना-वृत्ति

को लक्षणागम्य कहा है, वे तर्क व्यंजनावादियों को स्वीकार नहीं हैं। उन्होंने उनके तर्कों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर प्रत्येक तर्क का युक्तिपूर्वक खंडन करते हुए व्यंजना-वृत्ति की प्रतिष्ठा की है। उनका कथन है कि लक्ष्यार्थ में भी नानात्व हो सकता है, किन्तु अनेकार्थक शब्द के वाच्यार्थ के समान वह प्रायः नियतस्वरूप ही होता है जबकि व्यंग्यार्थ तो प्रकरण-विशेष आदि के कारण कहीं नियत सम्बन्ध वाला भी हो सकता है और कहीं अनियतसम्बन्ध अथवा परंपरित सम्बन्ध वाला भी। सच तो यह है कि मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध न रखने वाला अर्थ लक्षणा द्वारा बोधित किया ही नहीं जा सकता, जबकि व्यंजना-वृत्ति के लिए इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उन्होंने लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में दूसरा अन्तर यह बतलाया है कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति मुख्यार्थबाध के बिना हो ही नहीं सकती, किन्तु व्यंग्यार्थ लिए इस प्रकार की कोई अनिवार्यता नहीं है। उसमें वाच्यार्थ निषेधरूप होने पर भी व्यंग्यार्थ विधिरूप हो सकता है और उसकी प्रतीति मुख्यार्थ की बाधा के बिना भी सम्भव है। ऐसी स्थिति में व्यंजना-वृत्ति का अस्तित्व निश्चय ही लक्षणावृत्ति से भिन्न है। लक्षणावृत्ति से व्यंजना-वृत्ति के विभेद का तीसरा आधार यह है कि अनेक बार काव्यार्थबोध की प्रक्रिया में ऐसा भी देखा जाता है कि लक्षणा में भी फल या प्रयोजन का बोध कराने के लिए व्यंजना का आश्रय लेना पड़ता है, जिससे व्यंजना का पार्थक्य और प्राधान्य सिद्ध होता है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास के 23वें सूत्र 'फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया।'—द्वारा यही तथ्य प्रतिपादित किया है। व्यंजनावादी आचार्यों ने लक्षणा से व्यंजना का पार्थक्य सिद्ध करने का एक प्रबल तर्क यह भी दिया है लक्षणा अभिधा की पुच्छभूता है, किन्तु व्यंजना में मुख्यार्थबाध आदि की कोई अपेक्षा न रहने के कारण वह लक्षणा से भिन्न है। इन विवेचित कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जिनसे लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अन्तर निर्दिष्ट होता है और हम यह कह सकते हैं कि व्यंजना लक्षणारूप नहीं है। वे कारण इस प्रकार हैं—

1. लक्षणा के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति देखी जाती है।
2. लक्षणा के बिना अभिधा के अवलम्बन से भी अभिधामूला व्यंजना सम्भव हो सकती है।
3. व्यंजना न तो अभिधा की अनुगामिनी है और न लक्षणा की ही, क्योंकि अवाचक वर्णों के द्वारा भी उसका स्वरूपबोध होता है। इसका यह अभिप्राय है कि साधारणतया पद ही किसी अर्थ के वाचक होते हैं, न कि वर्ण, किन्तु व्यंजना में केवल वर्ण भी किसी अर्थविशेष के व्यंजक हो सकते हैं।
4. अभिधा तथा लक्षणा का सम्बन्ध तो केवल शब्द तक ही सीमित है,

> किन्तु व्यंजना केवल शब्दानुसारिणी ही नहीं है। इसका एक प्रमाण यह है कि अशब्दस्वरूप कटाक्ष आदि से भी अभिप्राय-विशेष की व्यंजना करने की परम्परा न केवल अत्यन्त प्राचीन ही है अपितु आज भी चिरनवीन है।

अभिप्राय यह है कि व्यंजनावादियों ने व्यंजना-व्यापार को अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक तीनों वृत्तियों का अतिवर्ती और 'ध्वनन' आदि का पर्याय माना है जिसके बिना काव्य का अर्थबोध सम्पूर्णरीत्या किया ही नहीं जा सकता। वस्तुतः ध्वनन-व्यापार के कारण ही काव्य की उच्चावचता का निर्णय किया जाता है। उसकी गुरुता और महिमा को स्वीकार करके ही व्यंजनावादियों ने ध्वनि को और उसमें भी विशेषतः रसादि ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है।

अखण्डार्थतावाद और व्यंजनावृत्ति

व्यंजनावृत्ति के समर्थक काव्यशास्त्रियों ने वेदांतियों और वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित अखण्डार्थतावाद का भी खंडन किया है। अखंडार्थतावाद के अनुसार सभी वाक्यों को 'पदार्थसंसर्गगोचरप्रतीतिजनक' मानना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि वाणी के विशाल वाङ्मय में ऐसे वाक्य भी उपलब्ध होते हैं, जिनका प्रयोजन संसर्गविषयक प्रतीति कराना नहीं होता अपितु जो अखंड रूप से अर्थ की प्रमिति कराते हैं। वेदांत-दर्शन के अनुसार अखंडार्थत्व का लक्षण है—'असंसर्गगोचरप्रमितिजनकत्व अखण्डार्थत्वम्।' वेदांतियों का मत है कि अखंडार्थ वाक्यों में मुख्यतः लक्षण-वाक्यों की गणना की जा सकती है। लक्षण-वाक्यों को अखण्डार्थ वाक्य मानने का मुख्य आधार प्रश्न और उसके प्रत्युत्तर का सारूप्य सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस विषय में प्रश्न किया जाए, उसी विषय में उत्तर दिया जाए। लक्षण-वाक्य की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि वह किसी पदार्थ के स्वरूप की जिज्ञासा होने पर उसका प्रत्युत्तर स्वरूपमात्र-विषयक देता है। उदाहरणार्थ यदि कोई यह प्रश्न करे कि 'कतमश्चन्द्र' अर्थात् चन्द्रमा कौन सा है? तो उसका उत्तर होगा 'प्रकृष्ट-प्रकाशश्चन्द्र' अर्थात् प्रकृष्ट प्रकाश वाला चन्द्रमा है। इस उदाहरण में प्रश्न भी स्वरूपविषयक है और उसका उत्तर भी स्वरूपविषयक, अतः यह लक्षण-वाक्य है। जिस वाक्य में प्रश्न तो स्वरूप-विषयक होता है किन्तु उसका उत्तर संसर्गपरक, वहाँ लक्षण-वाक्य न होकर सामान्य वाक्य होता है। लक्षण-वाक्य की विशेषता यह है कि वह 'संसर्गगोचर-प्रतीति' का जनक न होकर 'असंसर्गगोचरप्रमिति' का उत्पादक होता है। वस्तुतः लक्षण-वाक्य में प्रश्न के स्वरूप के अनुसार ही उसके उत्तर का स्वरूप होता है अन्यथा वहाँ पर 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' वाली कहावत घटित हो जाएगी। वेदांतियों के मतानुसार 'तत्त्वमसि', 'सोऽयं देवदत्त' आदि वाक्य इसी प्रकार के अखण्डार्थ वाक्य हैं।

कुछ वेदांतियों ने 'अखण्डार्थ वाक्य' की व्याख्या प्रकारान्तर से की है। उनका मत है कि साधारण वाक्यो में क्रियाकारणभाव को स्वीकार कर उसका अर्थबोध खण्डरूप मे किया जाता है क्योकि उसमे क्रियाकारक आदि का विश्लेषण अनेक खण्डों द्वारा होता है जबकि 'अखण्डार्थ वाक्य' मे क्रियाकारक आदि रूप मे वाक्य या वाक्यार्थ का विभाग नही किया जा सकता। इसका उदाहरण 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' नामक वेदान्तसिद्धान्त है जिसके अनुसार यह सारा जगत् और उसमे प्रतिभासित नानात्व ही मिथ्या है। इस सिद्धांत धर्मधर्मिभाव तथा क्रियाकारकभाव का भी मिथ्यात्व होने से पारमार्थिक रूप मे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना आदि की भी सत्ता नही मानी जा सकती यद्यपि व्यावहारिक रूप मे अभिधा और लक्षणा की सत्ता मान्य है। साहित्यशास्त्रियों ने लक्षणा के भेदो में उपादान लक्षणा (अजहल्लक्षणा) और लक्षणलक्षणा (जहल्लक्षणा) नामक दो प्रमुख भेद माने हैं, किन्तु वेदांतियों ने उनके अतिरिक्त 'जहदजहल्लक्षणा' नामक एक और भेद जोड़कर उसे 'भागत्यागलक्षणा' से भी अभिहित किया है। उनके मतानुसार 'तत्वमसि' इत्यादि महावाक्यो की व्याख्या के लिए अभिधावृत्ति के अतिरिक्त अजहल्लक्षणा, जहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा नामक तीन अन्य वृत्तियाँ स्वीकार करनी आवश्यक है क्योंकि इन चार साधनों का आश्रय लेकर ही उन महावाक्यों की व्याख्या की जा सकती है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि वेदांतियो के मतानुसार परमार्थ मे तो ब्रह्म को छोड़कर सब कुछ ही मिथ्या है, किन्तु व्यवहार मे अन्य पदार्थों की भांति अखण्डार्थ वाक्य आदि की भी सत्ता है। उनका कथन है कि 'सत्य ज्ञानमनंत ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' तथा 'अहंब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यो से उत्पन्न होने वाली अखड बुद्धि से निर्ग्राह्य परब्रह्म ही वाक्यो का अर्थ होता है, अतएव वही इन वाक्यों का वाच्यार्थ है। ये वाक्य ही अखड ब्रह्म के वाचक हैं। अभिप्राय यह है कि इन वाक्यो के अर्थबोध के लिए व्यंजना-व्यापार की कोई आवश्यकता नही है।

वाक्यार्थबोध के विषय में वेदांतियों की अपनी स्वतंत्र उपपत्ति है। उन्होंने 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यो को परब्रह्म के बोधक वाक्य कहा है। इन वाक्यो से उत्पन्न अखड बुद्धि के द्वारा परब्रह्मात्मक अखड ज्ञान होता है। उस ज्ञान मे अखंड वाक्य का ही प्रमाण है और उसके पद और वर्ण आदि विभाग कल्पना-मात्र हैं। उनका कहना है कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यो का अर्थ करने मे 'संसर्ग' का कोई उपयोग नही है। उनका अर्थबोध अखण्डेकरस अर्थात् स्वागता-दिभेदशून्य है। उनमे स्वतत्र पदो के अन्वय (अभिहितान्वयवाद) तथा विशिष्ट पदार्थों के अस्तित्व (अन्विताभिधानवाद) का कोई आभास ही नही होता।[1]

---

1. संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मत.॥ (वाक्यवृत्ति)

वेदान्तियों के इस मत को 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्' के सूत्र में निबद्ध किया जा सकता है। मम्मट आदि आचार्यों ने उनके सिद्धान्त का 'नैकत्रानेकशक्तिकल्पने पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति' आदि वाक्यों द्वारा खंडन करते हुए बतलाया है कि वेदान्ती भी 'व्यवहारे भट्टनय' जैसे सिद्धान्त के अनुसार व्यवहारदशा में जगत् की दृश्यमान स्थिति स्वीकार करते हैं जिसके लिए उन्हें भी पद-पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है। ऐसी दशा में निषेधवाक्य में विधिरूप अर्थ की प्रतीति आदि होने से अखण्डार्थ वाक्यों में भी व्यञ्जनावृत्ति सिद्ध होती है।

वेदान्तियों की भाँति वैयाकरण भी अखण्डार्थतावादी हैं। उन दोनों की मान्यताओं में केवल इतना ही अन्तर है कि जहाँ वेदान्ती अखण्ड और अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को महत्त्व देते हैं, वहाँ वैयाकरण एकमात्र स्फोटरूप शब्दब्रह्म को मानते हैं। वैयाकरणों का मत है कि पद में वर्णों और वाक्य में पदों को पृथक्-पृथक् नहीं माना जा सकता।[1] उनकी दृष्टि से अखण्ड बुद्धिनिर्ग्राह्य स्फोट ही वास्तव में वाक्यार्थ है और वही सत्य है। व्याकरणशास्त्र में ऐसे वाक्य का जो पदपदार्थविभाग या प्रकृतिप्रत्ययविभाग किया जाता है वह केवल व्युत्पत्तिदशा तक ही सीमित है और कल्पनामात्र है। इस विषय में आचार्य भर्तृहरि ने उचित ही कहा है कि जिस प्रकार 'ब्राह्मणकम्बल' पद में समस्त पद का तो अर्थ है, किन्तु ब्राह्मण शब्द का कोई पृथक् अर्थ नहीं है, उसी प्रकार किसी भी वाक्य में समष्टि रूप से तो उस वाक्य का अर्थ होता है किन्तु पृथक्-पृथक् पदों का कोई अर्थ नहीं होता। वैयाकरणों ने इसी को 'अखण्डवाक्यार्थता का सिद्धान्त' कहा है। उनका मत है कि तत्त्वदृष्टि से अखण्ड वाक्यार्थ होते हुए भी प्रकृतिप्रत्यय आदि का जो विभाग किया जाता है, वह केवल बालकों को शिक्षा प्रदान करने के लिए ही। यदि कोई इस वाक्य का प्रयोग करे कि 'देवदत्त जाता है' तो हमें इस वाक्य से देवदत्त सम्बन्धी गमन की अखण्ड प्रतीति होगी। उस प्रतीति में देवदत्त, उसका गमन और उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध जैसी खण्ड प्रतीति का कुछ भी अंश न रहेगा। हाँ, उस अखण्ड प्रतीति का जब हम विश्लेषण करेंगे तो हमें उन पद, प्रकृति और प्रत्ययों की भी कल्पना करनी पड़ेगी जिनकी तत्त्वतः कोई सत्ता ही नहीं है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई साधक भासमान द्वैत से मार्गक्रमण करता हुआ अंतिम और तात्त्विक एकता का बोध कर लेता है, उसी प्रकार पद, प्रकृति और प्रत्यय आदि के काल्पनिक मार्ग से गमन करते हुए विद्यार्थी भी अंततः वाग्ब्रह्म का आकलन करता है। वस्तुतः अखण्ड स्फोट ही शब्दब्रह्म है और शास्त्रों में जो विविध प्रक्रियाएँ वर्णित की गई हैं, वे केवल

---

1 पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ (वैयाकरणभूषण)

अविद्या का ही विवेचन करती हैं। इस विषय में हम वाक्यपदीयकार भर्तृहरि की उन कारिकाओं को उद्धृत करना चाहते हैं जिनमें उन्होंने इस विषय का विमर्श किया है—

ब्राह्मणो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युनिरर्थका॥
उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालना।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्यं समीहते॥

नैयायिक आचार्य और व्यंजना-वृत्ति

प्रसिद्ध नैयायिक आचार्य महिमभट्ट ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक' में मुख्यतः न्याय-प्रक्रिया का अवलम्बन कर व्यंजना को अनुमान के अन्तर्गत सिद्ध करने की चेष्टा की है। उनका सर्वत्र यही प्रयत्न रहा है कि अन्य आचार्यों ने जहाँ कहीं भी वाक्य में व्यंग्यार्थ का प्रतिपादन किया है, वहाँ पर न्यायमत द्वारा अनुमान की ही सत्ता प्रतिष्ठित की जाए। व्यंग्यव्यंजकभाव को वे न्याय की प्रक्रिया से निरूपित करना अधिक युक्तिसंगत समझते हैं। अनुमान की प्रक्रिया के मुख्य दो अंश हैं—1. व्याप्ति और 2. पक्षधर्मता। 'हेतु' और 'साध्य' का साहचर्य नियम 'व्याप्ति' है। उदाहरणार्थ 'जहाँ-जहाँ धूम्र होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है', यह धूम्र और अग्नि का साहचर्य नियम है और इसी 'व्याप्ति' को 'अनुमान' का मुख्य भाग कहा जा सकता है। अनुमान का दूसरा अंग 'पक्षधर्मता' है जिसका लक्षण है 'सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः'। पक्षधर्मता में साध्य संदिग्ध अवस्था में रहता है। उदाहरणार्थ जब तक पर्वत में अग्नि की सिद्धि नहीं हो जाती, तब तक 'सन्दिग्धसाध्यवान्' होने से इस अनुमान में पर्वत 'पक्ष' कहलाता है। इस 'पक्ष' में धूम्ररूप 'हेतु' का रहना आवश्यक है अन्यथा 'व्याप्ति' का ज्ञान रहने पर भी पर्वत पर अग्नि की सिद्धि नहीं हो सकती। धूम्र आदि रूप 'लिंग' की पर्वतरूप पक्ष में स्थिति को ही 'पक्षधूम्रता' कहते हैं। इस प्रकार अनुमान के लिए 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता' की अनिवार्यतः आवश्यकता है।

अनुमान में जो 'लिंग' या 'हेतु' होता है उसमें तीन धर्मों का रहना आवश्यक है जो इस प्रकार है—1. पक्षसत्व, 2. सपक्षसत्व और 3. विपक्ष-व्यावृतत्व। इन तीनों के लक्षण क्रमशः 'सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्ष.', 'निश्चित-साध्यवान् सपक्ष.' तथा 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्ष.' हैं। इनको उदाहृत करने के लिए कहा जा सकता है कि अग्निविषयक अनुमान में पर्वत 'पक्ष' है, उसी अनुमान में महानस या रसोईघर 'सपक्ष' है, क्योंकि उसमें साध्य अग्नि की सत्ता निश्चित रूप से रहती है। महाह्रद या सरोवर विपक्ष है क्योंकि उसमें साध्य अग्नि का अभाव निश्चित रूप से रहता है। 'पक्ष' तथा 'सपक्ष' में शुद्ध हेतु का रहना परमावश्यक है। विपक्ष में उसका अभाव रहता है। इन तीनों

से युक्त हेतु ही 'शुद्ध हेतु' कहलाता है अन्यथा इन तीनों में से किसी एक धर्म की न्यूनता होने पर वहाँ 'हेत्वाभास' हो जाता है। इस प्रकार 'व्याप्ति' तथा 'पक्षधर्मता' युक्त एवं विरूपविशिष्ट लिंग' से लिंगी' का ज्ञान होता है जिसे 'अनुमान' कहते हैं। महिमभट्ट की मान्यता है कि व्यंग्य अर्थ की प्रतीति भी 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता' के बिना नहीं हो सकती, अतः व्यंग्यव्यंजकभाव की प्रतीति भी अनुमानरूप ही सिद्ध होती है।

महिमभट्ट ने काव्यशास्त्र में अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण[1] द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस उदाहरण में व्यंजनावादियों ने जिस निषेधरूप अर्थ को व्यंग्यार्थ माना है वह वस्तुतः अनुमिति अर्थात् अनुमानजन्य प्रतीति का ही विषय है। व्यंजनावादियों का मत है कि इस उदाहरण में जिस नायिका ने अपने उपपति से मिलने के लिए जो योजना बनाई है, उसके अनुसार 'भ्रम धार्मिक' पद यद्यपि विधि रूप है क्योंकि उसमें यह कहा गया है कि 'हे धार्मिक, आप निश्चिन्त होकर भ्रमण करें क्योंकि गोदावरी के कच्छकुंज वासी सिंह ने श्वान को मार डाला है' किन्तु यह वाच्य व्यंग्यार्थ के द्वारा निषेध रूप में पर्यवसित हो जाता है। इसका यह अभिप्राय है कि 'हे धार्मिक, आप भूल कर भी इधर न आना क्योंकि सिंह ने जो दशा श्वान की है, वह किसी दिन आपकी भी हो सकती है'। महिमभट्ट ने उक्त उदाहरण में गोदावरी के किनारे पर धार्मिक के भ्रमणाभाव का बोध कराने के लिए 'व्यतिरेकव्याप्ति' का आधार लेते हुए यह सिद्ध किया है कि गोदावरी का तट, पक्षरूपित भीरु धार्मिक के भ्रमण के योग्य नहीं है। महिमभट्ट ने भ्रमणनिषेध की सिद्धि प्रतिज्ञा या साध्य, हेतु या साधन, व्यतिरेकव्याप्ति सहित उदाहरण, उपनय और निगमन नामक पंचावयव वाक्य से अनुमान द्वारा की है और बतलाया है कि प्रस्तुत छन्द में भ्रमण निषेध की प्रतीति व्यतिरेकी अनुमान द्वारा ही होती है, अतः उसके लिए व्यंजना-व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं है।

व्यंजनावादी आचार्य मम्मट ने महिमभट्ट की मान्यता का खंडन किया है। उनका मत है कि महिमभट्ट ने जिसे 'हेतु' माना है वह हेतु न होकर 'हेत्वाभास' है क्योंकि महिमभट्ट द्वारा प्रतिपादित हेतु में हेत्वाभास के 'अनैकान्तिक' 'विरुद्ध' और 'स्वरूपासिद्ध' नामक तीनों लक्षण विद्यमान हैं। महिमभट्ट ने 'सिंहोपलब्धि' को 'भीरुभ्रमणायोग्यत्व' सिद्ध करने के लिए जिस 'हेतुरूप' में प्रस्तुत किया है, वह वस्तुतः अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इस उदाहरण में विरुद्ध हेत्वाभास का आधार यह है कि 'वह धार्मिक कुत्ते से डरने पर भी वीर होने से सिंह से नहीं डरता है।' स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास का कारण यह है

---

1 भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनको मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥

कि गोदावरी तट पर सिंह की विद्यमानता केवल वचन से सिद्ध है और उसमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान का कोई आधार नहीं। नायिका का वह कथन या वचन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अर्थ के साथ वचन का जो प्रतिबन्ध अर्थात् वचन में जिस अर्थ की प्रतीति हो, वह अर्थ अवश्य रहना चाहिए। चूँकि नायिका के वचन में इस प्रकार की 'व्याप्ति' नहीं है, अतः इसमें 'स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास' आ ही गया है। इस प्रकार इन तीनों हेत्वाभासों के कारण अनुमान द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में इस छंद के अर्थबोध के लिए व्यंजनावृत्ति का मानना आवश्यक है। मम्मट ने अपना निर्णय निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—

"अत्रोच्यते। भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येनैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपितु वचनात्। न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवं विधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।" (काव्यप्रकाशः पंचम उल्लास, पृष्ठ-261)

मम्मट ने 'निःशेषच्युतचन्दनादि' उदाहरणों में भी अनैकान्तिक हेत्वाभास की सिद्धि कर महिमभट्ट द्वारा प्रतिपादित अनुमानगमक हेतु का खंडन किया है। उनका मत है कि उस उदाहरण में 'अधम' पद की सहायता से ही 'चन्दनच्युति' आदि का व्यंजकत्व सिद्ध हो जाता है और उसके लिए प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं होती। इस उदाहरण में भी पूर्ववत् स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास विद्यमान है जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अर्थबोध के लिए व्यंजना-व्यापार ही सुग्राह्य है और अनुमान के अन्तर्गत उसका समावेश करना समुचित नहीं है। मम्मट और महिमभट्ट आदि आचार्यों ने जिस छंद को माध्यम बनाकर क्रमशः व्यंजना-वृत्ति और अनुमान की सिद्धि करने का प्रयत्न किया है, वह इस प्रकार है—

निःशेषच्युतचंदनस्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो,
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

रस और शब्द-शक्तियों का सम्बन्ध

शब्द की त्रिविध शक्तियों का विवेचन करने के पश्चात् इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि रस और शब्द-शक्ति में परस्पर क्या सम्बन्ध है? रस और शब्द-शक्ति में वाच्यवाचकभाव मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि उनका

आवेदन वाचक शब्दों द्वारा नहीं होता। काव्योपवृंहित शृंगारादि रसों के प्रकरण में न तो शृंगारादि शब्द होते हैं और न रत्यादि की ही अभिधा रहती है, अतः अभिधा शक्ति को उनके परिपोष का कारण नहीं माना जा सकता। यदि काव्य-कृतियों में शृंगार और रति आदि शब्दों का प्रयोग भी होता है तो भी रस के निष्पादक उनके अभिधानमात्र नहीं होते, अपितु विभावादि ही होते हैं। इसी प्रकार लक्ष्यलक्षकभाव को भी रस का मूल नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके सामान्य अभिधायक लक्षकपद का भी काव्यादि में प्रयोग नहीं होता तथा न लक्षित-लक्षणा से ही रस की प्रतिपत्ति की जा सकती है। 'गंगायां घोषः' की भांति नाटकादि में यह सम्भव नहीं है कि नायकादि पात्र अपने अर्थ से स्खलित होकर किसी अर्थान्तर में उपलक्षक बन जायें। वस्तुतः उपलक्षक का प्रयोग वहीं किया जाता है, जहां कोई न कोई निमित्त अथवा प्रयोजन रहता है। वाच्यत्वमात्र से रस निष्पत्ति की सम्भावना मानने पर तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अव्युत्पन्न चित्त वाले अरसिकजन भी काव्य का रसास्वादन करने में समर्थ हैं। वस्तुतः निर्मलमनोमुकुर वाले सहृदयों को ही रसानुभूति होती है, अतः रस विवेचक आचार्यों ने वाच्य से भिन्न तथा अभिधा और लक्षणा से व्यतिरिक्त व्यंजकलक्षण वाले शब्दव्यापार में ही रसास्वादों का मूल उत्स स्वीकार किया है। निश्चय ही रस प्रतिपत्ति को वाच्यप्रतिपाद्य नहीं कहा जा सकता। आचार्य धनंजय ने रस विमर्श के अन्तर्गत इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि 'जिस प्रकार वाच्य अथवा शब्दों में व्यक्ति और प्रकरण आदि से बुद्धिस्थ कोई क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बन जाती है, उसी प्रकार स्थायीभाव भी जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से युक्त होता है तो वह भी काव्य का वाक्यार्थ बन जाता है।[1] यों तो पौरुषेय तथा अपौरुषेय आदि सभी प्रकार के वाक्य कार्यपरक होते हैं, किंतु काव्यपरक शब्दों का कार्यत्व उत्तम आनन्दानुभूति होता है, इस तथ्य की महत्ता असंदिग्ध है।

काव्य-रस के आस्वादन में व्यंजना वृत्ति ही एकांततः अनिवार्य तत्व है

काव्य रस के आस्वादन में व्यंजना वृत्ति की स्वीकृति अनिवार्य है क्योंकि रसादि के बोध में जहां अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक वृत्तियां विश्रांत हो जाती हैं, वहां चतुर्थ वृत्ति के रूप में व्यंजना का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है। व्यंजनावादी आचार्यों ने रसास्वाद और रसचर्वणा में अविच्छेद्य सम्बन्ध निरूपित कर चर्वणा तथा अभिव्यंजना को एक ही वस्तु कहा है। वस्तुतः रसरूप काव्य के परमार्थ में अभिधा तात्पर्य और लक्षणा नामक वृत्तियों से काम नहीं चल सकता क्योंकि विभावादि का साधारणीकरण उनके सामर्थ्य

---

1. धनंजय : दशरूपक, 4/37

का विषय नहीं है। रसनारूप प्रतीति के अभ्युदय में केवल व्यंजनात्मक ध्वनन-व्यापार ही समर्थ है क्योंकि उसी के द्वारा सहृदय सामाजिकों का मानस कविसमर्पित विषयों में तल्लीन हुआ करता है। आनंदवर्धन ने महाकवियों की वाणी से निष्पंदित जिस कला-सरस्वती का संस्तव किया है, वह प्रतिभा-विशेष के रूप में स्फुरित होने वाली व्यंजना-शक्ति ही है। उस शक्ति के द्वारा ही वस्तु, अलंकार अथवा रसभावादिरूप व्यंग्यार्थ का बोध किया जाता है, क्योंकि अभिधा शक्ति का सामर्थ्य तो संकेतित अर्थ के अवबोध पर्यन्त ही होता है। वस्तुतः विभावादिरूप वाच्यार्थ तथा रसभावादिरूप व्यंग्यार्थ एकरूप नहीं हो सकते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो 'रति शृंगार' आदि पदों के द्वारा ही रसभावादि की निष्पत्ति हो जाती। सच तो यह है कि समुचित रसयोजना-विहीन किसी शब्दार्थ-संदर्भ के लिए 'यह शृंगाररस है' इत्यादि उक्तियों द्वारा ही रतिचर्वणा इत्यादि नहीं हो सकती। केवल व्यंजना-व्यापार में ही काव्य-शब्दों का रसादिसमर्पणसामर्थ्य उपस्थित करने की शक्ति होती है। शब्दों का वाचकाश्रित सौन्दर्य जब व्यंजनाश्रित सौन्दर्य में परिणत हो जाता है, तभी काव्य-रस की अनुभूति होती है। काव्य और रस का पारस्परिक सम्बन्ध तभी समझा जा सकता है जब व्यंजना-वृत्ति का अस्तित्व स्वीकार किया जाय। अभिहितान्वयवादी आचार्यों द्वारा समर्थित तात्पर्य-वृत्ति में भी इतना सामर्थ्य नहीं कि वह व्यंग्यार्थ का बोध करा सके क्योंकि तात्पर्य-वृत्ति का कार्यव्यापार एकमात्र संसर्ग अथवा वाक्यघटक पदों के पारस्परिक सम्बन्ध अथवा पदार्थों के परस्पर अन्वयमात्र में ही समाप्त हो जाता है, जबकि व्यंग्यार्थ परस्परा-न्वित अर्थ से सर्वथा विलक्षण प्रकार का होता है। इतना ही नहीं, तात्पर्यवृत्ति के पश्चात् भी लक्षणा शक्ति को भी मानना अनिवार्य हो जाता है, अतः केवल उसके द्वारा व्यंग्यार्थावबोध की बात तो किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं मानी जा सकती। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि कुछ अभिधा-वादी आचार्यों के मतानुसार अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार में भी व्यंजना का अंतर्भाव किया जा सकता है, किन्तु वह भी उचित नहीं है। यदि अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार को ही सब कुछ मान लिया जाय तो लक्षणा व्यापार की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु अभिधावादियों ने लक्षणा-व्यापार का भी तो अस्तित्व स्वीकार किया है जो विरोधमूलक है। अभिधा के दीर्घदीर्घतर-व्यापार की दृष्टि से तो अनेकानेक प्रसंगों में यथा 'हे ब्राह्मण, तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है और तुम्हारी कन्या को गर्भ रह गया है' आदि प्रयोगों में मुखप्रसाद और मुखमालिन्य आदि चिह्नों द्वारा हर्ष और शोक का ज्ञान भी अभिधेय ही माना जायगा जबकि वह लक्षणावृत्तिवेद्य होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस अभिवाद का खंडन अत्यंत प्रबल शब्दों में किया है।

रसानुभूति के लिए व्यंजना-वृत्ति को स्वीकृत करना इसलिए भी आवश्यक

है कि अभिधा और लक्षणा वृत्तियों का प्रयोजन तो प्रत्यक्षादि अनुभवों के पूर्व सिद्ध वस्तुओं का ज्ञान मात्र कराना होता है जब कि रसरूप वस्तु अनुभवों से पूर्वसिद्ध नहीं कही जा सकती। लक्षणा द्वारा रसानुभूति की संभावना न होने का एक कारण यह भी है कि उस वृत्ति में मुख्यार्थबाधादिरूप हेतु का सद्भाव है जबकि रसरूप वाच्यार्थ में मुख्यार्थ बाधादिरूप हेतुओं की कोई संभावना ही नहीं होती। चूंकि रस पदार्थ 'रसना' अथवा चर्वणा-रूप व्यापार से सर्वथा अभिन्न होता है अतः उसके सिद्धयर्थ अभिधा और लक्षणा के लिए अभीष्ट वाच्यवाचक और लक्ष्यलक्षक भावरूप सम्बन्ध भी अपेक्षित नहीं रहता। लक्षणा शक्ति का संचरण 'गंगायां घोष' आदि ऐसे प्रयोगों में होता है, जहाँ प्रयुक्त शब्दों के अर्थों का अन्वयबोध निष्पन्न होने के समय ही अनुपपत्तिवश बाधित हो जाता है, जब कि रसात्मक वाक्यों की व्यंजना में मुख्यार्थबाधादि के लिए ऐसी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अभिप्राय यह है कि लक्षणा द्वारा रसादिरूप व्यंग्यार्थ के अवबोध की कल्पना असंभव है और 'गंगायां घोष' आदि प्रयोगों में शैत्य-पावनत्वादि रूप हृदगत जो प्रयोजन लक्षणावेद्य माने जाते हैं, वे प्रयोजन-परम्परा के अनुसंधान में अनवस्था-दोष से दूषित सिद्ध किये जा सकते हैं। अतः रस को अनभिधेय और अलक्ष्य मानना ही युक्तिसंगत है क्योंकि रस तो 'रस्यमानतामात्रसार' पदार्थ है जिसे वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की परिधि में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

पूर्व-परिच्छेदों में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक जिन तीन शब्द-शक्तियों का विवेचन किया गया, उनमें अभिधावृत्ति सर्वथा स्वतंत्र और स्वय-पूर्ण है। उसे किसी अन्य वृत्ति का आश्रय अभीष्ट नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शब्द का वाचक तो होता ही है। लक्षणा और व्यंजना की स्थिति अभिधा से भिन्न है। लक्षणा के लिए मुख्यार्थबाध आदि निमित्तों की उपस्थिति आवश्यक है क्योंकि उनके बिना लक्षणा हो ही नहीं सकती। साथ ही साथ, अभिधा का कार्य समाप्त हो जाने के पश्चात् तात्पर्य की दृष्टि से जब तक मुख्यार्थ अनुपपन्न सिद्ध नहीं होता तब तक लक्षणा को कोई अवसर ही नहीं मिलता। लाक्षणिक शब्द होने के पूर्व किसी शब्द का वाचकत्व होना आवश्यक है क्योंकि जब उसका वाच्यार्थ ही तात्पर्य की दृष्टि से बाधित होता है, तभी उसमें लाक्षणिकता आती है। साधारणतया कोई भी एक शब्द एक ही समय में वाचक और लाक्षणिक नहीं हो सकता, क्योंकि वाच्यार्थ की अनुपपन्नता से ही तो लाक्षणिक अर्थ की उपपत्ति होती है जिसे ध्यान में रखकर विद्वानों ने लक्षणा को 'अभिधापुच्छभूता' कहा है। इन दोनों शब्दशक्तियों के पश्चात् ही व्यंजना-शक्ति का विषय आता है जो *अभिधा और लक्षणा नामक दोनों वृत्तियों पर अवलम्बित है*। जब तक अभिधा और लक्षणा वृत्तियाँ अपना-अपना कार्यसम्पादन कर निवृत्त नहीं होतीं,

तब तक व्यंजना की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। व्यंजक होने से पूर्व शब्द का वाचक और-लाक्षणिक होना आवश्यक है, क्योंकि शब्द का केवल व्यंजकत्व असम्भव है। व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ में एक मुख्य उल्लेखनीय अंतर यह है कि लक्ष्यार्थ कभी वाच्यार्थ के साथ नहीं आता जब कि व्यंग्यार्थ की स्थिति सदैव वाच्यार्थ के अथवा लक्ष्यार्थ के साथ ही सम्भव है। आचार्यों ने व्यंजना-वृत्ति का लक्षण निर्धारित करते हुए उचित ही कहा है कि जब अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा शक्तियाँ अपना-अपना कार्य सम्पन्न कर क्षीण हो जाती हैं, तब केवल व्यंजना-वृत्ति द्वारा ही अर्थ की प्रतीति होती है। व्यंजनावृत्ति का क्षेत्र शब्द और अर्थ पर्यन्त व्याप्त है जब कि अभिधा का क्षेत्र वाच्यार्थ पर्यन्त, लक्षणा का लक्ष्यार्थ पर्यन्त और तात्पर्य का अन्वय पर्यन्त। इन तीनों से परे रहकर सहृदय जब अर्थ-प्रतीति करता है तो केवल व्यंजना-वृत्ति के द्वारा ही कर सकता है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि व्यंजना केवल शब्द की ही वृत्ति न होकर अर्थ वृत्ति भी है। अभिधामूला व्यंजना और लक्षणामूला व्यंजना शब्द-व्यंजनाएँ हैं जिनसे परे अर्थ-व्यंजकता आती है। अर्थ की व्यंजकता के अनेक निमित्त हैं जिनमें वक्त या श्रोता का वैशिष्ट्य, विशिष्ट स्वर में किया गया वाक्य का उच्चारण, प्रकरण तथा देश और काल आदि का वैशिष्ट्य मुख्य है। इन कारणों से वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ-व्यंजना होती है जिसकी प्रतीति केवल प्रतिभाजुष् रसिक को ही होती है। प्रतिभाजुष् रसिक का ही पर्याय 'सहृदय' है जिसकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा में व्यंग्यार्थ की प्रतीति का सामर्थ्य होता है। साहित्यशास्त्र में प्रतिभा का अर्थ वासना भी है जिससे सुवासित हृदय काव्य-व्यंजना का सम्यक् बोध कर रस-प्रतीति की अनुभूति करते हैं। काव्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों को व्यंग्यार्थ-प्रतीति अथवा रस-प्रतीति का अधिकारी नहीं माना है। अभिनवगुप्त ने 'प्रतिपत् प्रतिभासहकारित्वम् अस्माभिद्योतनस्य प्राणत्वेन उक्तम्' द्वारा यही संकेत किया है कि 'केवल शब्दज्ञान के बल पर काव्यार्थ को समझाना असम्भव है।' प्रदीपकार तथा अन्य आचार्यों का भी ऐसा ही अभिमत है। उनके विचारानुसार 'सवासन' अर्थात् प्रतिभावान् व्यक्ति को ही काव्य अथवा नाट्यआदि में रसप्रतीति होती है और निर्वासन अथवा प्रतिभाहीन दर्शकों की नाट्य-गृह में उपस्थिति पाषाण और दीवारों के समान है।[1] 'साहित्यचूडामणि' में

1. प्रतिभाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा वा वासना इत्युच्यते तस्यां सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यादिसत्वेऽपि व्यंग्यप्रतीतिः इति प्रतिपादितम्। अतएव वैयाकरणानां न तथा रसप्रतीतिः। तथा चोक्तम्-सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत्। निर्वासनास्तु रंगान्तः वेश्म कुड्याश्म-सन्निभाः।

भी यह तत्व कुछ भिन्न शब्दावली में निरूपित हुआ है जिसका आशय यह है कि 'वाच्यार्थ को तो पामरजन भी अनायास समझ लेते हैं, किन्तु व्यंग्यार्थ-बोध का वैदग्ध्य तो केवल परिमित अधिकारियों में ही होता है।[1] आचार्य मम्मट ने भी 'शब्द-व्यापारविचार' के अंतर्गत प्रज्ञावैमल्य तथा वैदग्ध्य को व्यंग्यार्थ-संवेदन के लिए आवश्यक माना है। उन्होंने शब्द को संकेत की सहायता से वाचक, मुख्यार्थबाध आदि निमित्तों से लक्षक, पक्षधर्मान्वयव्यतिरेक आदि की सहायता से अनुमापक तथा प्रतिभा के वैमल्य एवं वैदग्ध्य के परिचय तथा प्रकरण आदि की सापेक्षता से व्यंजक माना है।[2] वस्तुतः शब्द के व्यंजना-व्यापार का ही नाम 'ध्वनि' है जिसके रस रूप को काव्य की आत्मा कहा गया है। परमलघुमंजूषाकार आचार्य नागेश भट्ट ने भी प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध लक्षक शक्तिद्वय की प्रतिष्ठा करते हुए अप्रसिद्ध अर्थ को सहृदयसंवेद्य कह कर उस संस्कार-विशेष को व्यंजना कहा है जो वक्ता तथा प्रकरण आदि की विशेषताओं का बोध कराने के पश्चात् प्रतिभावान् सहृदय की बुद्धि में शब्द अथवा अर्थ की सहायता से उद्बुद्ध होता है।[3] उस संस्कारविशेष की पूर्णता रसप्रतीति में ज्ञात होती है और वह केवल काव्याध्ययन से ही प्रकाशित नहीं होता, अपितु नाट्यदर्शन से भी प्रतीतिगम्य बनता है तभी तो अनया मृगाक्ष्या कटाक्षेण अभिप्रायो व्यंजितः' जैसे प्रयोग नायिका की चेष्टाओं द्वारा अर्थ की व्यंजकता सिद्ध करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि व्यंजनावादी आचार्यों ने मीमांसकों, वेदान्तियों, नैयायिकों और वैयाकरणों आदि विभिन्न व्यंजना-विरोधियों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करते हुए उनका युक्तिपूर्वक खंडन किया है। उनका तो पूर्ण विश्वास है कि व्यंजना के अभाव में कोई भी काव्य-कृति सरस और

---

1. पामरप्रभृतयोऽपि वाच्यार्थमनायासादवबुध्यन्ते, व्यंग्यसंवेदनवैदग्ध्ये तु कतिचिदेवाधिकारिण ।

2. प्रज्ञावैमल्यवैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुज ।
अभिधालक्षणायोगी व्यंग्योऽर्थ प्रथितोध्वने ॥
यथा संकेतेन मुख्यार्थबाधादिनिमित्तेन च सहायेन अभिधायको लक्षकश्च, यथा वा पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकसहायेन विवक्षया अनुमापक तथा प्रतिभावैदग्ध्य-परिचयप्रकरणादिज्ञानसापेक्षो वाचकोलक्षकश्च व्यंग्यमर्थम् ध्वनिशब्दो व्यनक्ति ।

3. ननु व्यंजना कः पदार्थः, उच्यते । मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनक, मुख्यार्थ-सम्बद्धासम्बद्धसाधारण प्रसिद्धाप्रसिद्धविषयक वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञान प्रतिभाद्युद्बुद्ध- संस्कारविशेषो व्यंजना ।

चमत्कारपूर्ण बन ही नहीं सकती। वस्तुत कवियों की वाणी में ही कुछ ऐसा अलौकिक रचना-विधान होता है जिसके द्वारा वे वैयाकरणों और दार्शनिकों की अपेक्षा विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्हें जिस अर्थ में काव्य-संसार के प्रजापति और 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' कहा गया है उसके मूल में उनके अभिव्यंजन का व्यंजना-व्यापार का कौशल ही प्रमुख है। व्यंजना-शक्ति के द्वारा ही काव्य में रसोद्रेक होता है और उसका आस्वाद 'ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व' की उपलब्धि करता है। विद्वानों ने काव्यगत व्यंजना का महत्व निरूपित करते हुए उसे काव्य का सर्वस्व माना है और कवियों की गरिमा का समर्थन करने के लिए उसे परमेश्वर का रूप प्रदान किया है। इस विषय में निम्न-लिखित छन्द द्रष्टव्य है :—

व्यंग्यप्रधानाभिनवैवभंगी मुख्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
वक्रोक्तयो यत्र विभूषितानि सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥1॥
स्तोतुं प्रकृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं काष्ठा ततः सा कविता परा नः ॥2॥

2

भाव और रस का अंतर्सम्बन्ध

काव्यास्वाद के विमर्श में भावों और रसों का स्वरूपबोध एवम् उनके अन्तर्सम्बन्ध का परिज्ञान परम आवश्यक है। उसके अभाव में न तो रस-प्रक्रिया का विवेचन ही किया जा सकता है और न काव्यास्वादन की विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दशा शास्त्रीय भूमिका ही प्रदान की जा सकती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भरतमुनि के रससूत्रविषयक विवेचन को मुख्य आधार बना कर अपना मत-प्रकाशन किया है जो अत्यन्त गम्भीर और विचारणीय है। उनके विमर्श से इस बात का पता चलता है कि वे इस विषय की गम्भीरता से कितने अधिक परिचित थे तथा अनेक प्रकार की तर्कनाओं के आधार पर उनके मन्तव्य के निष्कर्षों गहरी पैठ रखते थे। भावों और रसों का अन्तर्सम्बन्ध निरूपित करते हुए उन्होंने उनके जो लक्षण निर्धारित किये हैं वे ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित हैं तथा उनसे उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा का बोध होता है। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा निर्देशित भाव-व्यञ्जना भावध्वनि भाव-विभेद भावों का रस के विनियोग, भावों और रसों का तारतम्यपूर्ण अन्तर्सम्बन्ध विषयक विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

'भाव' के लक्षण-निर्धारण में जटिलता

सामान्यतया 'भाव' का लक्षण निर्धारित करना कठिन है। यदि यह कहा जाए कि विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यञ्जक हों अथवा जिनसे रस व्यक्त हों वे भाव हैं तो भी समुचित नहीं है, क्योंकि रसों के प्रतिपादक काव्य की पदावली में इस लक्षण के अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि रसों के व्यञ्जक तो अर्थ होते हैं न कि शब्द, फिर शब्दसमुदाय वाक्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि अर्थ भले ही साक्षात् रसव्यञ्जक हों किन्तु उनके द्वारा शब्द भी रस-व्यञ्जक माने जाते हैं।[1] ध्वनिकार ने भी शब्दों को भी साक्षात् व्यञ्जक माना

---

1. शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः, शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
   एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥

है जिसके अनुसार अर्थ द्वारा वाक्य को व्यंजक मानने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि यह कहा जाए कि यों तो शब्द ही रस-व्यंजक होते हैं, किंतु उनकी व्यंजना अर्थ-द्वार से होती है तो भी उसमें भाव का लक्षण संघटित नहीं हो सकता क्योंकि उसमें 'असंभव-दोष' की गंध आने लगती है। इसका एक कारण यह भी है कि जिनको सामान्यतया भाव कहा जाता है, वे भी भावना अर्थात् पुनः पुनः अनुसंधान के द्वारा ही व्यंजक होते हैं और भावना द्वारा जो रसाभिव्यंजना होती है, उसमें किसी को 'द्वार' बनाने की आवश्यकता नहीं होती। अतः शब्द द्वारा होने वाली रस-व्यंजना के लिए भी किसी अर्थ-द्वार की आवश्यकता मानने में भी अतिव्याप्ति दोष हो सकता है। यदि यह कहा जाए कि विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त तथा शब्द से भिन्न जो रसों का व्यंजक है, वह भाव है तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि भावना की 'शब्दभिन्नता' के कारण उसमें अतिव्याप्ति रहेगी ही। इस लक्षण में एक प्रकार की अव्याप्ति भी है, क्योंकि काव्यानुशीलन से सिद्ध है कि उसमें भावध्वनि आदि ऐसे स्थल भी आते हैं जहाँ भाव रसों के व्यंजक न होकर प्रधानतया भाव-रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं, अतः भाव को रस-व्यंजक कहना भी विशुद्ध लक्षण नहीं है। यदि भावध्वनि का प्राधान्य स्वीकार कर अंत में यह कहा जाए कि भाव-ध्वनि की अंतिम परिणति रस-ध्वनि ही है और इस दृष्टि से भावों की रस-व्यंजकता सिद्ध की जा सकती है तो भी यह निर्णय विवादास्पद ही है, क्योंकि रस की प्रधानता तो रस-ध्वनि का ही अस्तित्व निरूपित करती है और उसकी सत्ता के सम्मुख भाव-ध्वनि का रसक्षेत्र से निष्कासन सा हो जाता है। यदि भावों की रस-व्यंजकता बनाये रखने के लिए यह कहा जाए कि भाव-ध्वनि में भाव की अभिव्यक्ति के पश्चात् जिस रस की अभिव्यक्ति होती है, उसमें उतना चमत्कार नहीं होता जितना भाव-ध्वनि में होता है तो भी यह मान्यता रस-सिद्धांत के विरुद्ध है, क्योंकि चमत्कार-विहीन रसाभिव्यक्ति होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सच तो यह है कि जिस सहृदयानुभवरूप प्रमाण से रस की सिद्धि होती है, उसमें चमत्कार अथवा आनंद का अंश तो अविनाभाव से रहता है। जब रस स्वयमेव चमत्कार-स्वरूप है तो चमत्कारहीन रस की सत्ता तो स्वीकार ही नहीं की जा सकती। यदि भाव-ध्वनि में रस की स्थिति 'विवाहप्रवृत्तभृत्यानुगतराजवत्' मान ली जाय तो भी भाव का युक्तिसंगत लक्षण संघटित नहीं हो सकता, क्योंकि देश, काल, वय और अवस्था आदि अनेक पदार्थों से संघटित काव्यांशों में अतिव्याप्ति हो जाएगी जिसका एक कारण यह भी होगा कि भावों को विभावों तथा अनुभावों से अतिरिक्त तथा रस का व्यंजक भी मानना पड़ेगा। यदि यह कहा जाए कि 'भाव' उस चित्तवृत्ति का नाम है जो रसाभिव्यंजक चर्वणा या आस्वाद का विषय है तो भी उसमें अतिव्याप्ति दोष आए बिना नहीं रहेगा, क्योंकि भाव-चर्वणा

एक साथ रस को अभिव्यक्त करने वाली तथा चित्तवृत्ति-रूपा कैसे हो सकती है ? यदि इन समस्त ऊहापोहों से परे होकर यह कह दिया जाए कि भाव एक अखंड उपाधि है जिसके लक्षण निर्धारण की कोई आवश्यकता नहीं है तो भी यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि भावत्व को अखंड उपाधि मानने में 'अनुगत प्रतीति' आदि ज्ञापक प्रमाण नहीं हो सकते तथा उसे अखंड उपाधि माने बिना भी काम चल सकता। इन समस्त तर्क-वितर्कों का विमर्श कर पंडितराज ने भाव को 'विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्व तत्व' माना है जिसका अभिप्राय यह है कि विभाव आदि से ध्वनित किये जाने वाले हर्ष आदि में से एक-एक तत्व का नाम 'भाव' है।[1]

चित्त की स्थायी और अस्थायी वृत्तियों का नाम भाव है

संसार में जितने प्रकार के प्राणी अधिवास करते है उन सबकी चित्तवृत्तियों में स्थायिभावात्मक संस्कार विद्यमान रहते हैं। उनकी चित्तवृत्तियों में केवल इतना ही अंतर होता है कि किसी प्राणी की कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है तथा किसी की कोई न्यून। किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय में नियमित होती है तो किसी की चित्तवृत्ति अनुचित विषय में अनियन्त्रित। चित्तवृत्तियों की इस भिन्नता के कारण ही काव्य-वर्णित विभावों की प्रकृति में अन्तर पाया जाता है। स्थायिभावात्मक चित्तवृत्तियों के अतिरिक्त ग्लानि और शंका आदि विशेष प्रकार की व्यभिचारिभावात्मक या अस्थायी चित्तवृत्तियाँ भी होती हैं जो अपने अनुकूल विभाव आदि के अभाव में सदा विद्यमान नहीं रहती। उत्साह आदि स्थायिभाव तो कर्तव्य-सम्पादन के पश्चात् प्रलीनकल्प होकर भी संस्काररूप में विद्यमान रह सकते हैं, किंतु व्यभिचारिभावों के साथ यह नियम घटित नहीं होता। उनका जन्म विभाव आदि कारणों से होता है तथा उन कारणों के दूर होते ही वे नष्ट हो जाते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने ग्लानि आदि व्यभिचारिभावों की स्थिति स्थायिभावरूप चित्तवृत्ति के सूत्र में बंधे हुए स्फटिक, मरकत, अभ्रक और महानील आदि मणियों के गोलक के समान निर्दिष्ट की है। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी माला के एक सूत्र में पिरोये गये रंग-बिरंगे दानों द्वारा माला को गुम्फित रखने वाले सूत्र के स्वरूप में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं आता, उसी प्रकार रसानुभूति के प्रसंग में भी अनेक प्रकार के व्यभिचारिभाव एवं स्थायिभाव रूपी सूत्र के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं ला पाते। यह बात अवश्य है कि जिस प्रकार माला के गोलक (दाने) अपने चित्र-वैचित्र्य के कारण सूत्र के रूप में भी वैचित्र्य की सी प्रतीति उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार विविध प्रकार के व्यभिचारिभाव भी स्थायीभाव में एक प्रकार की विचित्रता सी ला देते हैं। उस

---

1. रसगंगाधर प्रथमाननम् (चौखम्बा प्रकाशन) पृ० 269

विचित्रता की भी यह विशेषता होती है कि जिस प्रकार माला के गोलकों के मध्य में उसका शुद्ध सूत्र प्रदर्शित होता रहता है, उसी प्रकार व्यभिचारिभावों के मध्य में भी शुद्ध स्थायिभाव की अनुभूति होती रहती है। अभिनवगुप्त ने अपनी सैद्धांतिक विवेचना द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि विलक्षणतामूलक रस की निष्पत्ति में रत्यादि स्थायिभाव का महत्व कम नहीं किया जा सकता। स्थायिभाव और रस में यह अन्तर है कि स्थायिभाव सदा व्यक्त या अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है, परन्तु रस की स्थिति केवल उतने समय पर्यन्त रहती है जब तक कि उसकी प्रतीति होती है। उसकी सत्ता न तो रस की प्रतीति के पूर्व रहती है और न रसानुभूति के समाप्त होने के पश्चात्। इसे ही स्थायिभाव की अपेक्षा रस की विलक्षणता कहा जाता है।

'भाव' के विषय में भरतमुनि के विचार

भरतमुनि ने 'भाव' नाम की विवेचना करते हुए लिखा है कि वाणी, अंग और सत्व से मिले हुए काव्य के अर्थों को भावित करने के कारण ही 'भाव' कहलाते हैं। भाव कारण के साधन हैं क्योंकि 'भावित', 'वासित' और 'कृत' ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। लोक में भी सिद्ध है कि अन्योन्य गंध अथवा रस से सब भावित हो गया। उन्होंने 'भाव' के लक्षण को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनका तात्पर्य यह है कि विभाव से लाया हुआ जो अर्थ अनुभाव से तथा वाणी, अंग और सात्विक भावों के अभिनय से प्रतीत होता है, उसीका नाम 'भाव' है। भावों को इस हेतुवश भी 'भाव' कहा जाता है कि उनके द्वारा वाणी, अंग और मुख के राग से तथा सत्व और अभिनय से कवि के आतंरिक भावों का प्रकाशन हो जाता है। ये भाव अनेक प्रकार के अभिनयों में सम्बन्ध रखने वाले रसों को भावित करते हैं, अतः नाटक के प्रयोक्ताओं को उनके नाम की सार्थकता को भली भाँति हृदयंगम करना चाहिए।[1]

'स्थायिभाव' की स्थिति 'लवणाकर' के समान है।

धनंजय ने उस भाव को स्थायी भाव माना है जो विरुद्ध अथवा अविरुद्ध किसी भी प्रकार के भावों से विच्छिन्न नहीं होता तथा लवणाकर के समान उन अन्य भावों को आत्मभाव में परिणत कर लेता है।[2] स्थायी भाव के रूप में रत्यादि भावों की गणना होती है, क्योंकि वे भाव सजातीय अथवा विजातीय आदि भावान्तरों से तिरस्कृत न होकर उपनिबध्यमान रहते हैं। उनका स्पष्टीकरण बृहत्कथा में वर्णित मदन-मंजूषा के प्रति नरवाहनदत्त के अनुराग द्वारा

1. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, 7/1-3
2. धनंजय: दशरूपक, 4/34

किया जा सकता है। नरवाहन उस कथा के बीच-बीच में अन्य नायिकाओं में भी अनुरक्त होता है, किन्तु उसका स्थायी अनुराग मदनमंजूषा के प्रति यथावत् बना रहता है। अतः वह स्थायी है। स्थायी भाव के बीच में अन्य अविरोधी अथवा विरोधीभाव का समावेश होने का स्पष्टीकरण करते हुए धनिक ने लिखा है कि विरोधी का अर्थ है सहानवस्थान और बाध्यबाधकभाव। सहानवस्थान की स्थिति में दोनों का अवस्थान एक साथ नहीं हो सकता, अतः वहाँ तादात्म्य सम्भव नहीं है। वस्तुतः उनका आविर्भाव एकरूपत्व में ही सम्भव है। बात यह है कि स्थायी भाव और विभाव आदि का विरोध होने पर भी चित्त के रसादि-भावों में उपर्युक्त होने के कारण सहानवस्थान दोष नहीं आता तथा अविरोधी व्यभिचारी भावों का पवस्नुत्रन्याय से उपनिबंधन तो समस्त भावकों के लिए स्वानुभूति सिद्ध है। धनिक ने भावों के सहानवस्थान न होने का एक हेतु यह भी दिया है कि जिस प्रकार स्थायीभाव स्वसंवेदनसिद्ध है, उसी प्रकार वह काव्य-व्यापार से उत्तेजित होकर अनुकार्य में आवेशमान होता हुआ चित्त के सम्पर्क में आकर वैसे ही आनन्दानुभव का उन्मीलन करने लगता है। उन्होंने बाध्यबाधक भाव का अर्थ 'एक प्रकार के भावों का अन्य प्रकार के भावों से तिरस्कार' करते हुए बतलाया है कि व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव का आमतर्य विरोध भी सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यभिचारी भाव स्थायीभाव का अंगभूत है और अंग का अंगी से विरोध सम्भावित नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ 'मालतीमाधव' में शृंगार के अनन्तर बीभत्स का उपनिबन्ध है, किन्तु वहाँ किसी भी प्रकार की विरसता नहीं है। सच तो यह है कि विरुद्ध रस तभी विरोध का कारण बनता है जब सतत उसी का अवलम्बन किया जाय, किन्तु सत्वविरुद्ध रसान्तर का व्यवधान होने पर विरुद्ध रस भी विरोधी नहीं होता।

सात्विक और व्यभिचारी भाव

सात्विक भावों की विवेचना के पूर्व एक प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि क्या दूसरे भाव सत्व से भिन्न होते हैं जिन्हें ध्यान में रखकर जो स्वेदादि की श्रेणी में केवल आठ भावों को ही सात्विक भाव कहा जाता है। इसका उत्तर देते हुए भरतमुनि ने लिखा है कि सत्व 'मनःप्रभव' है जिसका अभिप्राय यह है कि मन की एकाग्रता से ही सत्व की सृष्टि होती है। उसका रोमांच, अश्रु और वैवर्ण्य आदि से युक्त जो स्वभाव है, उसका अनुकरण अन्य-मनस्क भाव से नहीं हो सकता। अतः लोक-स्वभाव का अनुकरण करने के लिए नाटक में सत्व की अपेक्षा होती है। नाट्यधर्म में प्रवृत्ति सुख और दुःख के भावों का उपस्थापन जब उनके अनुकूल सात्विक भावों द्वारा किया जाता है, तभी उनसे उनकी यथार्थ प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ दुःख रोदना-त्मक भाव है जिसको अभिनीत करने के लिए अदुःखी प्रयोक्ता में सत्व का

उद्रेक आवश्यक है, क्योंकि सत्व अथवा मन की एकाग्रता के कारण ही वह अपने अभिनय को सफल बना सकता है। सात्विक भावों का 'सत्व' इसी बात में है कि उसके द्वारा अभिनेता हर्ष और रोमांच आदि को ऐसे रूपों में प्रदर्शित करे जिससे मूल भावों का उपस्थापन सुचारु रूप में हो जाय। भरतमुनि ने स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, और प्रलय संज्ञक आठ सात्विक भाव माने गये हैं और उनके लक्षण निर्धारित करने के साथ-साथ उनके अभिनय के लिए आवश्यक दिशा-निर्देश भी किये हैं।[1]

'व्यभिचारीभावों' को इस हेतु व्यभिचारी कहा जाता है कि वे वाणी, अंग और सत्व से उपेत पदार्थों को विविध प्रकार से रसों की निष्पत्ति की ओर ले जाते हैं। वस्तुतः 'व्यभिचारी' शब्द में मूल में 'वि' और 'अभि' नामक दो उपसर्ग हैं तथा 'चर्' नामक धातु है जिनके योग से इस शब्द की निष्पत्ति हुई है। 'चर्' धातु गत्यर्थवाचक है और व्यभिचारी भावों में रसाभिमुख-संचारण की शक्ति मानी गई है अतः उनकी संज्ञा सार्थक है। भरतमुनि ने व्यभिचारी भावों की रसाभिमुखता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सूर्य इस नक्षत्र अथवा उस दिन को ले जाता है, किन्तु वह उन्हें अपने स्कन्ध अथवा बाहुओं पर नहीं ले जाता तथापि 'लेजाना' क्रिया की लोक-प्रसिद्धि उसी प्रकार की बनी हुई है, उसी प्रकार व्यभिचारी भावों के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। इन व्यभिचारी भावों की संख्या 33 मानी गई है जिनके नाम भरतमुनि ने इस प्रकार गिनाये हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।[2]

भावों की संख्या के सम्बन्ध में पंडितराज का अभिमत

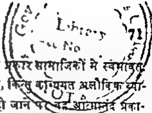
भरतमुनि के जिन तैंतीस व्यभिचारी भावों का विवेचन किया है, उन्हें पंडितराज जगन्नाथ ने हर्ष, स्मृति, व्रीडा, मोह, धृति, शंका, ग्लानि, दैन्य, चिंता मद, श्रम,गर्व, निद्रा, मति, व्याधि, त्रास, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, उन्माद, मरण, वितर्क, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, जड़ता, आलस्य, असूया, अपस्मार, चपलता और प्रतिपक्षी के द्वारा किए गए तिरस्कार आदि से उत्पन्न निर्वेद के क्रम में निरूपित कर गुरु, देव, नृप और पुत्रादिविषया रति को एक पृथक् भाव मानते हुए उनकी संख्या 34 निर्धारित की है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि पुत्रादिविषयक रति को भावों की श्रेणी में क्यों गिनना चाहिए,

1. भरतमुनि: नाट्यशास्त्र, 7/94-105
2. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, 6/18-21

जबकि कुछ विद्वान पुत्र आदि को वात्सल्य रस का आलम्बन मानकर तद्विषयक रति को भाव (व्यभिचारी) नहीं मानते। इस विषय में पंडितराज का मत है कि वात्सल्य नामक कोई रस नहीं होता क्योंकि भरतमुनि ने भी उसका निषेध किया है। इस विषय में वे भरतमुनि का अनुगमन करना ही मर्यादापूर्ण समझते हैं। उन्होंने उपर्युक्त समस्त भावों के सामान्य लक्षण निर्धारित कर उदाहरण-पुरस्सर तद्गत भाव ध्वनियों का स्पष्टीकरण किया है। उनका कथन है कि उपर्युक्त चौंतीस भावों के अतिरिक्त मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैव्य, क्षमा, कुतुक, उत्कंठा विनय संशय और धृष्टता आदि और भी अनेक भाव दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु उनका समावेश चौंतीस भावों में सहज विधि से हो जाता है अतः उनकी पृथक् गणना अनावश्यक है। उदाहरणार्थ मात्सर्य असूया में, उद्वेग त्रास में दम्भ अवहित्था में, ईर्ष्या अमर्ष में, विवेक और निर्णय मति में, क्लैव्य दैन्य में, क्षमा धृति में, कुतुक और उत्कंठा औत्सुक्य में, विनय लज्जा में, संशय तर्क में और धृष्टता चपलता में समाविष्ट हो जाते हैं। यों तो समाविष्ट भावों और मुख्य भावों में सूक्ष्म अन्तर भी है तथापि वे भाव एक दूसरे के बिना नहीं रहते अतः उन्हें उनसे पृथक् नहीं माना गया है। उदाहरणार्थ मात्सर्य और असूया में अत्यन्त सूक्ष्म भेद होने के साथ-साथ यह बात भी निश्चित है जहाँ असूया होती है, वहाँ मात्सर्य अवश्य रहता है अतः उन दोनों को पृथक् भाव मानना व्यर्थ है। यही स्थिति अन्य भावों की भी है। पंडितराज भावों की संख्या तथा मर्यादा के क्षेत्र में भरतमुनि का अनुगमन करना ही सर्वतोभावेन श्रेयस्कर समझते हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि उपर्युक्त पंक्तियों में जिन चौंतीस संचारिभावों का निरूपण किया गया है, उनमें से जैसे ईर्ष्या भाव कुछ भाव कहीं-कहीं दूसरे भावों के विभाव और अनुभाव भी हो जाते हैं। निर्वेदभाव का विभाव तथा असूयाभाव का अनुभाव है तो चिन्ताभाव निद्राभाव के प्रति भाव और औत्सुक्य भाव के प्रति अनुभाव होता है। इसी प्रकार अन्य भावों के सम्बन्ध में भी विवेक कर लेना उचित है।

भाव व्यंजना की प्रक्रिया

भाव किस प्रकार व्यंजित अथवा ध्वनित होते हैं? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से दिया है। एक विद्वद्वर्ग का मत है कि सामाजिकों के हृदय में वासना रूप में स्थित और काव्य अथवा नाट्य में स्थापित अनुकूल तथा प्रतिकूल भावों से अभिभूत न होने वाले स्थायीभावों की अभिव्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति सामग्री द्वारा जिस प्रकार स्थिर रूप में होती है उसी प्रकार प्रधान बने हुए हर्ष आदि भावों की भी स्थिर अभिव्यक्ति होती है। विद्वानों का दूसरा मत यह है कि भावों की अभिव्यक्ति रसों की भाँति (रसन्या-



मेन) होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सामाजिकों में स्वभावतः रहने वाला आत्मानंद अविद्या से पिहित रहता है, किन्तु काव्यगत अलौकिक व्यापार से उस अविद्यात्मक आवरण की निवृत्ति हो जाने पर वह आत्मानंद प्रकाशित हो जाता है और उस आवरण मुक्त स्थाईभाव से उपहित चिदानंद को रस कहा जाता है, उसी प्रकार आवरण मुक्त चिद्विशिष्ट हर्ष आदि भाव भी सामाजिकों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं। इस विषय में तीसरा मत यह है कि जिस प्रकार काव्य तथा नाट्य के शब्दों से वाच्यार्थों की उपस्थिति हो जाने के पश्चात् वक्ता एवं बोद्धव्य आदि के ज्ञान द्वारा वस्तु-अलंकार-रूप-अलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-अर्थ सहृदयों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार हर्ष आदि भाव भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं। उपर्युक्त तीनों मत अपने-अपने तर्कों से सम्पुष्ट हैं जिनका विवेचन रस प्रक्रिया के विश्लेषण से मुख्यतः सम्बन्धित है। यहाँ तो हम केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि भावों की भी व्यंजना होती है और उसके व्यंजक बनते हैं विभाव और अनुभाव। व्यभिचारिभावों को उस रूप में भाव (स्थायी) का व्यंजक नहीं माना जा सकता जिस रूप में विभावों और अनुभावों को माना जाता है। व्यभिचारिभावों की व्यंजकता में एक उल्लेखनीय बात यह है कि यदि एक व्यभिचारिभाव को ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारिभाव को व्यंजक मानना आवश्यक समझा जाता है, तो वही व्यंजक व्यभिचारिभाव ही प्रधान हो जाता है। भावों की व्यंजकता के लिए जिस विभाव पद का प्रयोग किया गया है उसमें यहाँ व्यभिचारिभाव के साधारण निमित्त कारण का ग्रहण समझना चाहिए, न कि रस की भाँति उसका सर्वथा आलम्बन और उद्दीपन होना अपेक्षित है।

भावों का रस में विनियोग

भरतमुनि ने स्थायी, व्यभिचारी और सात्विक भावों के सन्दर्भ में उनचास प्रकार के भावों की यथावत् व्याख्या करते हुए उनका रसगत विनियोग भी निरूपित किया है। उनका परामर्श है कि ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा, अवहित्थ और वेपथुनामक भाव, शृंगार रस में, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा तथा अवहित्थ हास्य रस में; निर्वेद, चिंता, दीनता, ग्लानि, आँसू, जड़ता, मरण और व्याधि 'करुण रस' में, असम्मोह, उत्साह, आवेग, हर्ष, मति, उग्रता, उन्माद, रोमांच, प्रतिबोध, क्रोध, असूया, धृति, अभिमान और वितर्क वीर रस में; गर्व, असूया, उत्साह, आवेग, मद, क्रोध, चपलता, हर्ष और उग्रता' रौद्र रस में, स्वेद, वेपथु, रोमांच, गद्‌गद्, त्रास, मरण और वैवर्ण्य, भयानक रस में, स्तम्भ, अपस्मार, उन्माद, विषाद, मद, मृत्यु, व्याधि और भय वीभत्स रस में; स्तम्भ, स्वेद, मोद, रोमांच, विस्मय,

आवेग, जड़ता, हर्ष और मूर्छा अद्भुत रस में विनियुक्त किए जाने चाहिए। इन रसों में शृंगार रस का क्षेत्र सबसे अधिक व्यापक है और आलस्य, उग्रता तथा घृणा को छोड़ कर शेष सभी भाव अपने नाम से शृंगार को उद्भावित कर सकते हैं।

भरतमुनि का अभिमत है कि नाट्य प्रयोग के समय विविध अभिनयों में आश्रित रहने वाले सात्विक भावों का प्रयोग उनके प्रयोक्ताओं द्वारा समस्त विषयों में किया जाना चाहिए। कोई भी काव्य अपने भाव, रस, प्रवृत्ति और वृत्ति में एक रस वाला नहीं हो सकता। वस्तुतः काव्य-प्रयुक्त रसों में जिस रस का रूप प्रबल हो वह उस काव्य का स्थाई रस तथा शेष रस उसके व्यभिचारी रस कहलाते हैं। काव्य का स्थायी रस विभावानुभावों से युक्त मुख्य कथावस्तु का आधार और सञ्चारियों से सवलित होता है। नाट्य प्रयोक्ताओं को चाहिए कि वे स्थायी का सत्वातिरेक से प्रयुक्त करें तथा सञ्चारियों को आहृतिमात्र से प्रदर्शित करना ही पर्याप्त समझें। आश्रय तथा अनेक अर्थों द्वारा सम्बाध नाटक में रस और भाव व्यवस्थित होते हैं। अभिप्राय यह है कि भरतमुनि ने नाट्य-प्रयोग के समय अभिनय द्वारा भावों के विनियोग का जो रसानुकूल निरूपण किया है, वह अत्यन्त गम्भीर और विचारणीय है। उसका सम्यक् परिपालन करने से रस सिद्धि में सफलता प्राप्त होती है। भावों का इस प्रकार का विवेचन श्रव्य काव्य की वर्णना में भी उपादेय है, क्योंकि श्रव्य-काव्य भी तो एक प्रकार से सहृदय के मानस-मञ्च पर किया जाने वाला कलापूर्ण अभिनय ही है और उसमें भी रस निष्पत्ति कराने की उतनी ही क्षमता है जितनी दृश्य काव्य के अभिनय में होती है।

'आठ' अथवा 'नौ' स्थाई भाव ही क्यों ?

प्रश्न यह है कि जब अन्योन्याश्रय से आश्रित और विभावानुभावों से व्यंजित उनचास प्रकार के भावों के सामान्य गुण-योग द्वारा रसों की निष्पत्ति होती है तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि आठ (अथवा नौ ?) प्रकार के स्थाई भाव ही रसत्व प्राप्त करते हैं ? भरतमुनि ने उपर्युक्त प्रश्न उपस्थित कर उसका समुचित उत्तर देने का भी प्रयास किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार समान लक्षण वाले तथा हाथ, पैर, उदर एवम् समान प्रत्यय वाले पुरुष भी अपने कुल, शील, विद्या, कर्म और शिल्प की विचक्षणता से युक्त होकर राजत्व प्राप्त करते हैं तथा उन्हीं में से कुछ पुरुष अपनी अल्प बुद्धि के कारण उनके अनुचर बनते हैं, उसी प्रकार विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव भी स्थायी भावों के उपगत होकर अपनी गौणता रखते हैं। वस्तुतः आश्रय देने के कारण स्थाई भाव राजा रूप है तथा व्यभिचारी भाव अनुचर-रूप। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि स्थायी भाव रूप शरीर में

अन्य भाव गौण रूप में रहते हैं और व्यभिचारी भाव गुणवत्ता के कारण उनकी सेवा करते हैं। भरतमुनि ने इस मान्यता को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टांत प्रस्तुत किया है और वह यह है कि जैसे बहुत परिवार वाला होता हुआ भी उनका राजा ही राजा नाम को प्राप्त करता है और अन्य महापुरुष उस नाम को प्राप्त नहीं करता तथा अपने बहुत से परिजनों के साथ जाने वाले राजा को देखकर यदि कोई यह पूछे कि वे कौन जा रहे हैं तो उसका उत्तर देने वाला केवल 'राजा' शब्द के प्रयोग द्वारा ही उसकी शंका का समाधान कर देता है, क्योंकि उस शब्द के प्रयोग में अन्य परिजनों का समाहार स्वतः हो जाता है, उसी प्रकार स्थायी भाव भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से युक्त होने पर भी राजा की भांति रस नाम को प्राप्त करता है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः॥
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥[1]

अर्थात् जैसे पुरुषों में राजा और शिष्यों में गुरु महान् होता है, उसी प्रकार सब भावों में स्थायी भाव ही काव्य जगत् में महान् होता है।

भावों और रसों का अन्तर्सम्बन्ध।

प्रश्न होता है कि क्या रसों से भावों की उत्पत्ति होती है या भावों से रसों की? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि न तो रसों से भावों की उत्पत्ति होती है और न भावों से रसों की, अपितु उनके पारस्परिक सम्बन्ध से ही एक-दूसरे की उत्पत्ति होती है। इस विषय में आचार्यों ने विविध दृष्टियों से अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। एक आचार्य का कथन है कि नटगत करुणादि रसों के अभिनय द्वारा सामाजिक में शोकादि भावों की उत्पत्ति होती है और जब वे शोकादि भाव रामादि विभावों के माध्यम से उपचित हो जाते हैं तो सामाजिक में भी करुणादि रसों की उत्पत्ति या पुष्टि कर देते हैं। इस प्रकार इस मत के अनुसार नटगत रस के अभिनय से सामाजिकगत शोकादि भावों की तथा सामाजिकगत भाव की पुष्टि से सामाजिकगत रस की उत्पत्ति होती है। इस मान्यता से यह संदेह हो जाता है कि क्या रस से भाव उत्पन्न होता है या भाव से रस? 'कालभेद से एक से दूसरे का भी परस्पर जन्म होता है'—यह तीसरा पक्ष है। आचार्य भट्ट लोल्लट ने रत्यादि की उपचित अवस्था में 'रस' तथा रसादि के अपचय में 'भाव' की सत्ता मानी है, जिसका खंडन अभिनवगुप्त ने विस्तारपूर्वक किया है।

---

१. भरतमुनि : नाट्य शास्त्र, 7/8

आचार्य शंकुक का अभिमत है कि नटगत अभिनय में रसों का आस्वाद करने वाले सामाजिक को नाट्य के अनुकार्य (रामादि) में रत्यादि भावों की प्रतीति होती है। यह प्रतीति लोगों में प्रकृत रस उत्पन्न करती है। इसका आशय यह है कि भावों से रस की उत्पत्ति होती है। इसका एक पक्ष यह बनता है कि पहले अनुकार्यगत भाव से नटगत रस की तथा उसके पश्चात् नटगत रस से सामाजिकगत भाव की उत्पत्ति होती है। अभिनवगुप्त ने इस मत का भी खंडन किया है क्योंकि सामाजिक को अनुकार्य तथा अनुकर्ता के भेद का ज्ञान नहीं होता। अभिनवगुप्तकृत शंकुक के अनुकरणवाद का खंडन तो यथास्थान किया ही गया है। काव्यशास्त्रीय विवेचना का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसका विवेचना करना प्रस्तुत निबन्ध की परिसीमा के अन्तर्गत नहीं है।

भाव के साथ विभावानुभावों का संयोग होने से रस-निष्पत्ति होती है

अधिकांश विद्वान इस मत के समर्थक हैं कि विभाव और अनुभाव आदि का भावों के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। इस पर यह शंका की जा सकती है कि काव्य में विभावानुभाव आदि का व्यवहार भले ही किया जाए, किन्तु लोक में तो विभावानुभाव आदि नहीं होते। अतः उनसे रस की निष्पत्ति कैसे मानी जा सकती है? वास्तव में इस शंका का कोई सम्पुष्ट और प्रौढ़ आधार नहीं है। इस विषय में भरतमुनि का कहना है कि 'न तो रसों' और भावों के पारस्परिक संबंध से दोनों की उत्पत्ति मानने वाला सिद्धांत ही उचित है और न रसों से भावों की उत्पत्ति मानने वाला मत ही माननीय है। वस्तुतः रस-सूत्र के अनुसार तो भावों से ही रस-निष्पत्ति मानना युक्तिसंगत है क्योंकि वे विभाव आदि विषय नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों को भावित करते हैं इसलिए नाट्य का प्रयोग करने वाले व्यक्ति इन्हें 'भावयतीति भावा' के अनुसार 'भाव' नाम से पुकारते हैं। आचार्य का कहना है कि जिस प्रकार नाना द्रव्यों से बहुविध व्यंजनों की भावना होती है, उसी प्रकार अभिनयों के साथ मिलकर भाव भी रसों को निष्पन्न करते हैं।[1] भरत मुनि की मान्यता है कि 'न तो भावों के बिना रस हो सकता है और न रसों के बिना भाव ही रहता है। अभिनय में एक-दूसरे के आश्रय पर इनकी सिद्धि होती है।[2] उन्होंने लिखा है कि 'जैसे व्यंजन और औषधि का संयोग खाद्य द्रव्य को स्वादिष्ट बना देता है, उसी प्रकार भाव और रस भी एक-दूसरे को भावित करते हैं।[3] भरत मुनि को 'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते' का सिद्धान्त मान्य है, अतः उन्होंने रस की सत्ता मूल रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'जैसे बीज से वृक्ष होता है तथा

1, 2, 3. भरतमुनि: नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्याय के अनुवंश्य श्लोक 4-7.

वृक्ष से पुष्प तथा फल, उसी प्रकार सारे रस-मूल हैं जिनसे सारे भाव व्यवस्थित होते हैं।'[1]

अभिनवगुप्त का मत ही सर्वोपरि और मान्य है

भरतमुनि ने मूलतः रस का माहात्म्य स्वीकार कर व्यवहारतः भावों मे रस की निष्पत्ति मानी है जिसे अपने पूर्वपक्ष के रूप मे ग्रहण करते हुए अन्य आचार्यों ने अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध उपस्थित किए हैं। इस विषय मे आचार्य अभिनवगुप्त का यह विवेचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है कि 'बीजस्थानीय कविगत रस से वृक्षस्थानीय काव्य उत्पन्न होता है। उसमे पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उसमें फलस्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है। इसलिए सामाजिक के लिए सारा काव्य जगत् रसमय ही होता है।'[2] अभिनवगुप्त के कथन का मूल मंतव्य यह है कि जिस प्रकार बीज वृक्ष के मूल कारण रूप में स्थित होता है, उसी प्रकार कविगत रस काव्यरूप वृक्ष के मूल में स्थित रहते हैं। इसलिए उसी के द्वारा आनन्दास्वाद प्रीतिपूर्वक 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि रूप उपदेश का ज्ञान होता है।[3] अभिनवगुप्त के मतानुसार 'कविगत संवित् ही वास्तव में मूलभूत रस है जिसकी प्रतीति के वशीभूत होकर अपोद्धार-बुद्धि द्वारा सामाजिक भी विभावादि की प्रतीति करता है।'[4] वस्तुतः कवि की स्थिति भी सामाजिक तुल्य है और कविगत रस ही भावादि का मूल कारण है। इस सिद्धान्त को ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'यदि कवि शृंगारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है और यह वीतराग है तो सारा काव्य नीरस हो जाता है।'[5]

---

1. भरतमुनिः नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्याय, आनुवंश्य श्लोक, 4-7.
2. मूल बीजस्थानीयः कविगतो रसः। ततो वृक्षस्थानीय काव्यम्। तत्र पुष्पादि स्थानीये अभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्। (अभिनवभारती पृष्ठ 515)।
3. बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थित तथा रसाः। तन्मूला हि प्रीतिपूर्विकाप्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च व्युत्पत्तिरिरति।
(अभिनवभारती, पृष्ठ 515)
4. कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्युरस्सरोनटव्यापारः। सैव च संवित् परमार्थतो रसः। सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धार-बुद्धया विभावादिप्रतीरिति।
5. आनंदवर्धन. ध्वन्यालोकः 3-42

3

रस का स्वरूप तथा आस्वाद

रस के स्वरूप और आस्वाद का विवेचन करना भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त गम्भीर, विचारशील और सतत गतिमान विषय रहा है। वैदिक वाङ्मय से लेकर आज तक भारतीय साहित्य का जिस भाव-निधि और रूप-प्रणाली में विकास हुआ है उसके विमर्श का एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय रस-स्वरूप, रस-निष्पत्ति और रसास्वाद भी है। इस विवेचन के अन्तर्गत सौन्दर्य-चेतना का वह पक्ष भी मुखरित है जिससे भारतीय दृष्टि से काव्यानन्द की प्रक्रिया स्पष्ट की गई है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' पर्यन्त जिस सारस्वत-सरिता का नैरन्तर्य प्रवाह हुआ है उसके मार्ग में काव्यात्म-मीमांसा के विविध सिद्धान्तों और सम्प्रदायों की ज्ञानधारा अन्ततः रसोन्मुख बन ही अपनी परमयात्रा सम्पन्न कर सकी है। इस अनन्त विस्तार और गाम्भीर्य का विशद अध्ययन प्रस्तुत करना इस निबंध के लघु कलेवर में सम्भव नहीं है, अतः केवल उन वीथि वितानों के अन्तराल में ही अवगाहन करना हम पर्याप्त समझते हैं जिनमें रस के स्वरूप और आस्वाद को जीवन ज्योति प्रदान करने की क्षमता है। हमारा यह विवेचन मुख्यतः भारतीय काव्यशास्त्र की उपजीव्य निधि से ही अनुप्राणित है।

रस का स्वरूप

भारतीय आचार्यों ने 'रस' का स्वरूप तथा आस्वाद विविध दृष्टियों से विवेचित किया है। उनकी रहस्यमयता का विश्लेषण करना सामान्यतया सरल कार्य नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने जीवन में जिन भावों की अनुभूति करता है, उनमें रति, शोक, क्रोध, जुगुप्सा, भय, उत्साह, हास, विस्मय और निर्वेद आदि प्रमुख हैं। इन भावानुभवों के संस्कार मनुष्य के हृदय पर वासना रूप में अंकित रहते हैं जिनके स्थायित्व का विचार कर साहित्यशास्त्रियों ने उन्हें स्थायिभावों की संज्ञा प्रदान की है। ये स्थायिभाव एक प्रकार से विशिष्ट रूपिणी चित्तवृत्तियाँ ही हैं जो अपनी सूक्ष्म तथा विकसित रूप स्थिति में प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होकर 'रस' की अभिधा प्राप्त करती हैं तथा जिनमें प्रमाता को 'रसोद्रेक' की प्रतीति होती है। इन

स्थायिभावों की आत्मानंदीय प्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक उन पर आच्छादित अज्ञानावरण का नाश नहीं हो जाता । उस आवरण का उच्छेद करने में भावकत्व नामक एक अलौकिक क्रिया सहायक होती है जिसके कारण अल्पज्ञता एवम् पारस्परिक विभेद जैसे जीवधर्म नष्ट हो जाते हैं एवं सर्वज्ञत्व आदि परमात्मधर्म जागरित हो जाते हैं । उस लोकोत्तर भावकत्व की सृष्टि में विभाव, अनुभाव और संचारिभावों का भी संयोग रहता है जिनमें अनुभवकर्ता को रति आदि स्थायिभावों की अनुभूति आत्मानंद के साथ होने लगती है । जिन कारणों से रत्यादि स्थायिभावों की उत्पत्ति होती हैं, वे आलम्बन-विभाव कहलाते हैं तथा जिनसे उनकी उद्दीप्ति होती है वे उद्दीपन विभाव । स्थायिभावों की उत्पत्ति के परिणामस्वरूप प्रमाता के शरीर आदि में जो विशेष भाव उत्पन्न होते हैं वे 'अनुभाव', तथा स्थायिभावों के साथ सहायक रूप से संचारित होने वाले भाव 'संचारिभाव' कहलाते हैं । उदाहरणार्थ शकुन्तला को देखकर दुष्यंत के मन में रति भाव की उत्पत्ति होने की स्थिति में आश्रय-रूप दुष्यंत के लिए शकुंतला आलम्बन-विभाव तथा उसकी तथा प्रकृति की तदनुकूल चेष्टाएँ उद्दीपन-विभाव हैं । उस रति-भाव के अनुकार्यगत कार्य 'अनुभाव' तथा शकुन्तला की प्राप्ति के मार्ग में चिंता आदि भावों का संचरण 'संचारिभाव' हैं जिनकी चर्वणा शृंगार रस के रूप में होती है । शृंगार के द्विविध भेदों (संयोग और विप्रलम्भ) तथा अन्य रसों की निष्पत्ति का क्रम भी इसी प्रणाली से बोधगम्य किया जा सकता है । काव्य कृतियों में इन रस-उपकरणों का चित्रण जब सुन्दर शब्द—गुम्फन द्वारा वैशिष्ट्यपूर्ण प्रणाली से किया जाता है तो सहृदय प्रमाताओं के हृदय अपनी सहृदयता तथा काव्यार्थ के पुन-पुनः अनुसंधान रूप भावना-व्यापार के प्रभाववश जिस लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति करने लगते हैं वही काव्यास्वादन की प्रक्रिया में 'रस' कहलाता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि उस रस-प्रक्रिया को निष्पन्न करने में भावकत्व व्यापार का अत्यधिक महत्व है क्योंकि उसी के द्वारा अज्ञान-रूप आवरण का नाश होने से वासना-रूप से स्थित रत्यादि स्थायिभाव 'भेजकत्व' 'रसना' अथवा 'व्यंजना' नामक व्यापार से आस्वाद्य बनकर 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं ।

भरतमुनि का स्पष्टीकरण

रस एक निर्विघ्न चर्वणात्मक संविद् है । उसकी चर्वणा भी बोधरूपा ही होती है । आचार्यों ने काव्यानुशीलन के समय निष्पन्न होने वाली आनंदमयी प्रतीति को 'रस' की संज्ञा दी है । भरतमुनि ने 'रसः' इति कः पदार्थः ?' का प्रश्न उपस्थित कर उसका उत्तर 'उच्यते । आस्वाद्यत्वात्' की शब्दावली में दिया है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्यशास्त्र के विद्वान् काव्य द्वारा निष्पन्न होने वाली जिस आनदमयी प्रतीति को 'रस' संज्ञा से अभिहित करते हैं । उसकी

प्रवृत्ति का निमित्त 'आस्वाद्यत्व' अथवा आस्वादन-क्रिया है। यद्यपि वह प्रतीति अलौकिक होती है तथापि उसका बोध लौकिक दृष्टांत द्वारा किया जा सकता है। भरतमुनि ने उसके लिए 'षाडव' रस को दृष्टांत रूप में कल्पित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार व्यंजन, औषधि तथा द्रव्य आदि वस्तुओं की उचित योजना पक्वावस्था को प्राप्त होकर एक अतीव आस्वाद्य रस की निष्पत्ति करती है जो इन द्रव्यों से भिन्न होता हुआ 'षाडव' आदि नामों से अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार रसिक-बुद्धि में विभावानुभावों का उचित रूप में संयोग होने पर उनके द्वारा प्रत्यक्षवत् अभिव्यक्त होने वाला एक विशिष्ट अर्थ लौकिक दृष्टि से स्थायी कहलाता हुआ अपनी अलौकिकता में रस्यमान अथवा आस्वाद्य रूप में निष्पन्न होता है। आचार्यों ने विभावादि की सम्यक् योजना को 'पाक-स्थानीय' तथा अभिव्यक्त होने वाले स्थायिरूप के वासना-संस्कार को 'रसस्थानीय' माना है। 'लोकगत' 'षाडव' तथा काव्यगत 'रस' अपनी आस्वाद्यता अथवा रस्यमानता के कारण समानधर्मी हैं। दोनों में यदि अन्तर है तो केवल इतना ही है कि षाडवादि रसों का आस्वादन रसनेन्द्रियजन्य है जबकि काव्यार्थज्ञान से निष्पन्न रस मानसैकगम्य है। काव्यार्थ-प्रतीति की क्रिया पर रसनेन्द्रियजन्य ज्ञान का जो उपचार किया जाता है उसका कारण उनका 'सादृश्य' है। उक्त सादृश्योपचार का विवेचन भरतमुनि ने इस प्रकार किया है—

'यथा नानाद्रव्यव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः, हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तस्मात् नाट्यरसा इति अभिव्याख्याताः।'

भरतमुनि ने 'भोग्य', 'भोक्ता' तथा 'फल' आदि के साम्य से काव्यार्थप्रतीति-रूप व्यापार पर रसना-व्यापार का उपचार करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार व्यंजन (संस्कृत भोग्य अन्न) सुमनस् अर्थात् समाहितचित्त भोक्ता को रसना अथवा आस्वादन-व्यापार द्वारा हर्ष और तृप्ति का फल देता है, उसी प्रकार विभावादि-व्यंजित स्थायी 'सुमनस्' अर्थात् एकाग्र और निर्मल हृदय रसिक भोक्ता को निर्विघ्नसंविद्रूप आस्वादन द्वारा हर्ष और तृप्ति प्रदान करता है। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि जिस आस्वादन को व्यावहारिक अर्थ में रसनेन्द्रिय का व्यापार कहा जाता है, वह रसनेन्द्रिय का व्यापार न होकर एक मानस-व्यापार है क्योंकि उसका फल हर्ष और तृप्ति है। रसनेन्द्रिय का व्यापार तो केवल भोजन है जिसे आस्वादन-व्यापार से भिन्न सिद्ध करने के प्रयोजन से भरतमुनि ने 'भुंजाना आस्वादयन्ति' पदावली का प्रयोग किया है। भरतमुनि का आशय यह है कि वह आस्वादन-रूप मानस-व्यापार ही काव्य में अविकल रूप में रहता है जिसका फल है 'आह्लादन' तथा 'तर्पण'। कहने की आवश्यकता नहीं

कि भट्टतौत ने 'रसना-व्यापार' 'आस्वाद्यता' तथा चर्वणा-व्यापार को पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है और उन्हें रस का भेदक लक्षण माना है क्योंकि उनके कारण काव्यार्थ को रसत्व प्राप्त होता है। रसना-व्यापार की बोधरूपता तथा बोधरूपता की लोकोत्तर विलक्षणता आदि का स्पष्टीकरण करते हुए अभिनवगुप्त ने जिस लोकोत्तर अर्थ को 'रस' कहा है, वह उनके शब्दों में निम्नलिखित है—

"रसना च बोधरूपा एव किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणा एव, उपायानां विभावादीनां लौकिक वैलक्षण्यात् तेन विभावादिसंयोगात् रसना यतो निष्पद्यते, ततः तथाविधरसनागोचरः लोकोत्तरोऽर्थः रसः इति तात्पर्यं सूत्रस्य।"

रस की 'व्यक्ति' तथा साक्षिभास्यता

मम्मट आदि आचार्यों ने उस स्थायिभाव को 'रस' कहा है जो विभावादि से 'व्यक्त' होता है। 'व्यक्त' पद से मम्मट का अभिप्राय 'व्यक्तिविषयीकृत' है जिसे रसनाजन्य आस्वाद से अभिन्न चैतन्य का गोचरीकृत विषय भी कहा जा सकता है। 'व्यक्त' होते ही स्थायिभाव चित् शक्ति का विषय बन कर उसके द्वारा भासित होने लगता है। 'व्यक्ति' पद का अर्थ 'व्यंजना-वृत्ति' भी किया जाता है जिसे 'भग्नावरणचित्' कह कर आचार्यों ने यह मत निरूपित किया है कि उसे केवल सामान्य व्यंजनावृत्ति ही न समझना चाहिए क्योंकि 'व्यक्ति' पद के प्रयोग में एक ऐसा 'शुद्ध व स्वात्मरूप चैतन्य भाव' भी विवक्षित है जिसका अज्ञानरूप आवरण दूर हो गया है। इस मान्यता को इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है कि जिस प्रकार शराव आदि मृत्पात्र-विशेष से विहित कोई दीपक तब तक न तो स्वयं प्रकाशित होता है और न अन्य पदार्थों को ही प्रकाशित कर सकता है, जब तक उसके आवरण का अपसरण न कर दिया जाए; उसी प्रकार अंतःकरण में वासना रूप से स्थित तथा विभावादि से मिश्रित रत्यादि स्थायिभाव को प्रकाशित करता हुआ आत्म-चैतन्य भी उन्हें तब तक आस्वाद्यमान नहीं बना सकता और न स्वयं प्रकाशित हो सकता है जब तक उस पर आच्छादित अज्ञान-रूप आवरण का उच्छेद नहीं हो जाता। रत्यादि स्थायिभाव भी एक प्रकार से अन्तःकरण के ही धर्म हैं जो आत्मचैतन्य से प्रकाशित होने के कारण 'साक्षिभास्य' कहलाते हैं। उनकी साक्षिभास्यता वेदांत-दर्शन से स्पष्ट की जा सकती है। वेदांत के अनुसार ब्रह्म अथवा सत्स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं और संसार में जो घट और पट आदि बाह्य पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे केवल आत्मा के वृत्तिरूप हैं। इसका यह अभिप्राय है कि अन्तःकरण-रूप द्वार हो से आत्मा का प्रकाश घट-पट रूप में भासित होता है और अंतःकरण की सुखदुःखात्मक वृत्तियाँ भी आत्म-प्रकाश से ही प्रकाशित होती हैं। बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने में आत्मा के लिए

अन्तःकरण की सहायता अपेक्षित होती है, किन्तु अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करने में उसकी सहायता अपेक्षित नहीं होती क्योंकि उनको आत्मा स्वयमेव प्रकाशित करती है। यही कारण है कि अन्तःकरण की वृत्तियाँ साक्षि-भास्य हैं जिसका अभिप्राय यह है कि वे आत्मा से प्रकाशित होती हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि रत्यादि स्थायिभाव तो अन्तःकरण के धर्म होने के कारण साक्षिभास्य मान भी जा सकते हैं, किन्तु शकुन्तला आदि विभावों को किस प्रकार साक्षिभास्य माना जाय क्योंकि उनकी स्थिति घट-पट जैसे बाह्य पदार्थों के सदृश है। उनकी प्रतीति में तो घट-पट जैसे बाह्य पदार्थों की भाँति आत्मा या अन्तःकरण की सहायता लेनी अनिवार्य सी है। इसका उत्तर देते हुए यह कहा जा सकता है कि यों तो तुरग, रंग और रजत आदि बाह्य पदार्थ आत्मसाक्षिभास्य नहीं हैं, किन्तु जब स्वप्न में अश्व का ज्ञान होता है अथवा दूरत्व किंवा काचकामलादि दोषों के कारण रंग में रजत का भ्रम हो जाता है तो अश्व और रंग आदि भी साक्षिभास्य बन जाते हैं। उस स्थिति में केवल आत्मा के ही द्वारा उन वस्तुओं का साक्षिभास्य होता है, क्योंकि उस समय वे वस्तुएँ वास्तविक न रहकर काल्पनिक होती हैं। रस-प्रक्रिया में ठीक यही स्थिति शकुन्तलादि विभावों की है। उन विभावों को भी साक्षिभास्य मानने में किसी भी प्रकार का तात्त्विक विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि शकुन्तला आदि विभाव भी भावनारूढ होने पर वास्तविक न होकर काल्पनिक ही होते हैं और उन सबका भान चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों से न होकर आत्मचैतन्यमात्र से होता है। रस की 'ध्वनि' अथवा साक्षिभास्यता का यही रहस्य है।

रस का आत्मचैतन्यस्वरूप तथा नित्यत्व

रस को आत्मचैतन्य स्वरूप मानने पर यह स्वाभाविक है कि उसका नित्यत्व स्वीकार कर लिया जाय। उसकी नित्यता की स्वीकृति से 'उत्पन्नो रसः,' 'विनष्टो रसः,' जैसे सर्वानुभवगोचर व्यवहार असंगत सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि जब आत्म-चैतन्य ही नित्य है तो उसका स्वरूप 'रस' भी अवश्यमेव नित्य ही होना चाहिए। आचार्यों ने रस के नित्यानित्यरूप के विषय में समुद्भूत शंकाओं का समाधान अत्यन्त तर्कसंगत दृष्टिकोण से किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार वैया-करणों के मतानुसार वर्णादि की नित्यता होने पर भी उनके व्यंजक कण्ठताल्वादि व्यापारों में होने वाले उत्पत्ति तथा विनाश के आरोप से 'उत्पन्नो गकारः,' 'विनष्टो गकारः' जैसे व्यवहार किये जाते हैं, उसी प्रकार रस का नित्यत्व होने पर भी उसके व्यंजक विभावादि से चर्वणा अथवा आवरण-भंग से होने वाले उत्पत्ति और विनाश सदृश धर्म 'रस' में आरोपित होते हैं, जिससे 'उत्पन्नो रसः' जैसे व्यवहार भी सहज सम्भव हैं। यहाँ एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि जब रत्यादि स्थायिभाव वासना रूप से सदैव वर्तमान रहते हैं तो उनकी प्रतीति सर्वदा

रसरूप में क्यों नहीं होती ? इसका समाधान इतना ही है कि जब तक आत्मा के ऊपर रहने वाला अज्ञान का आवरण हटा रहता है, तभी तक आत्मा रत्यादि भावों को भासित करती है और उनमें विभाव आदि की चर्वणा विद्यमान रहती है, किन्तु ज्यों ही आत्मा पर अज्ञानावरण छा जाता है, रत्यादिभाव विद्यमान रहकर भी उसी प्रकार प्रकाशित नहीं हो पाते जिस प्रकार दीपक के आवरणविहित होने पर उसकी पार्श्ववर्ती वस्तुएँ प्रकाशित नहीं हो पातीं। आत्मा के अज्ञाना-वरण को निराकृत करने के लिए भावकत्व नामक जिस अलौकिक व्यापार की कल्पना की जाती है, वह सहृदयता की महत्ता से परिणत बनी हुई काव्यार्थ विषयक भावना ही है, जिसमें विभावादि के साधारणीकरण की क्षमता विद्यमान होती है। वस्तुतः भावना से भावकत्व का पर्यवसान हो जाता है जिसके कारण सहृदय जन विभावादि का आस्वादन करने लगते हैं। उस आस्वादन का आनन्द योगियों की समाधि दशा से उपमित किया जा सकता है, जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सविकल्पसमाधि दशा में योगियों का अन्तःकरण आनन्दमयी वृत्तियों में लीन होकर सांसारिक विषयों के ज्ञान से परे हो जाता है, उसी प्रकार स्थायिभावों से युक्त आनन्दाकार चित्तवृत्ति भी सहृदयजनों को ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यानंद की अनुभूति प्रदान करती है।

नित्य तथा स्वप्रकाश्य स्थिति का निरूपण

आचार्यों ने जिस रूप में रस की नित्यता और स्वप्रकाशता सिद्ध की है, वह सर्वथा युक्तिसंगत है। इसका कारण यह है कि चाहे आत्मात्मक चैतन्य के विषयी-भूत रत्यादि स्थायिभावों को रस कहा जाय अथवा रति आदि स्थायिभाव विष-यक चैतन्यात्मक ज्ञान को, दोनों ही स्थितियों में यह निश्चित है कि रस के स्व-रूप में रत्यादि स्थायिभाव और चैतन्य दोनों ही आश्रित रूप से रहते हैं और दोनों ही विकल्पों में विशेषणीभूत अथवा विशेष्यीभूत चैतन्यांश को लेकर रस 'नित्य' तथा 'स्वप्रकाश' है। रस को जिस रूप में 'अनित्य' और 'परप्रकाश' कहा जाता है, वह भी सर्वथा असंगत नहीं है क्योंकि जिस प्रकार चैतन्यांश को लेकर रस 'नित्य' तथा 'स्वप्रकाश' है, उसी प्रकार रत्यादि अंश को लेकर वह 'अनित्य' तथा 'परप्रकाश' रूप भी है। उसे जिस प्रयोजन से चर्व्य-माण कहा गया है, उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि रस की चर्वणा एक प्रकार से अंतःकरण की आनंदाकार वृत्ति ही है जिसमें चैतन्यगत अज्ञानावरण का ध्वंस हो जाता है। विद्वानों ने रस की चर्वणा को ब्रह्मानंद से भी विलक्षण कहा है, क्योंकि सविकल्पक समाधिकाल में जो ब्रह्मानंद प्राप्त होता है उसके आस्वाद का आलम्बन विषय-विहीन शुद्ध 'आत्मानंद' है जो श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप व्यापारों से सम्पन्न होता है जबकि रस-चर्वणा का आनंद एक

ऐसा आत्मानंद है जो विभावादि विषयों और सांसारिक पदार्थों से मिश्रित भी रहता है। रस-चर्वणा की आनंदमयता वाणी से व्याख्यात नहीं की जा सकती और उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार समाधिकाल में आत्म सुख आभासित होता है, उसी प्रकार रसास्वाद की वेला में भी आत्मसंवेद्य सुख का भान होता है। जिस प्रकार समाधि सुख आत्यंतिक, बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय है, उसी प्रकार रसास्वाद भी, तभी तो श्रुति-वाक्य में रस को रसो वै स' तथा रसह्येवायं लब्ध्वा आनंदीभवति' कहा गया है। रस की आनंदमयता का व्यावहारिक निदर्शन सहृदयजन के हृदय हैं जो काव्यानुशीलन द्वारा उसका आनंदपूर्ण आस्वादन करते हैं।

विश्वनाथ के विचार

रसात्मक वाक्य को काव्य की अभिधा प्रदान करने वाले आचार्य विश्वनाथ ने सहृदय के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायिभावों को उस स्थिति में रस माना है जब वे कविवर्णित विभाव, अनुभाव और सचारिभावों द्वारा अभिव्यक्त होकर आस्वाद्य अथवा आनंदरूप हो जाते हैं।[1] विश्वनाथ द्वारा निर्धारित यह रस-परिभाषा भरतमुनि के रस निष्पत्ति-सूत्र की एक सुबोध और सरल विवृत्ति कही जा सकती है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में कविकृत विभावादि योजना और सहृदय हृदय की रत्यादि वासना की रसमयता में व्यंग्यव्यंजकभाव रूप सम्बन्ध अनिवार्य होता है जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त भी मानते हैं। 'ध्वन्यालोकलोचन' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि काव्य अथवा नाट्य का एकमात्र साध्य रसभावना ही है जिसकी सिद्धि में काव्य अथवा नाट्य का अभिव्यंजन व्यापार ही साधन बनता है। उस अभिव्यंजन व्यापार में गुणालंकारों का औचित्य अथवा समुचित शब्दार्थ-संयोजन परम सहायक अथवा उपकारी सिद्ध होता है। काव्य एवम् नाट्य को रस के भावक कहने का यही अभिप्राय है कि वे रस के व्यंजक होते हैं, जिनसे अलौकिक अभिव्यंजना व्यापार 'रस' का भोग अथवा आस्वाद सम्भव है। वस्तुतः 'रस का भोग' अथवा 'रस की व्यंग्यता' का एक ही रहस्य अथवा अभिप्राय है।[2] आचार्य मम्मट ने भी इस विषय में अपना अभिमत प्रकट करते हुए यही स्वीकार किया है कि काव्य अथवा नाट्य की अभिव्यंजना अथवा चर्वणा की अलौकिक विशेषता से विशिष्ट सहृदय-हृदय का रत्यादिरूप स्थायिभाव ही एक प्रकार का

---

1. विभावेनानुभावेन व्यक्तः सचारिणा तथा।
   रसतामेति रत्यादि स्थायीभावः सचेतसाम्॥ (साहित्यदर्पण, 3-1)
2. अभिनवगुप्तः ध्वन्यालोकलोचन, पृ० 189-190

लोकोत्तर आनंदात्मक अनुभव होता है।[1] विश्वनाथ के मतानुसार रत्यादि स्थायिभावों के व्यक्त होने का अभिप्राय है उनका एक दूसरे रूप में (अर्थात् रस रूप में) परिणत होना। रत्यादि भावों का रस-रूप अभिव्यक्ति दुग्ध की दधि रूप में अभिव्यक्ति (परिणति) के सदृश समझी जानी चाहिए, न कि दीपक द्वारा घट-पट की भाँति पूर्वसिद्ध स्थिति के समान। अभिनवगुप्त ने भी 'रस प्रतीत होते हैं' का स्पष्टीकरण 'ओदनं पचति अर्थात् भात पका रहे हैं' के व्यवहार से किया है। विश्वनाथ ने रस के स्वरूप का लक्षण निर्दिष्ट करते हुए रत्यादि के साथ स्थायिभाव विशेषण का प्रयोग साभिप्राय किया है, क्योंकि किसी रस विशेष (शृंगार) में रति-रूप चित्तवृत्ति स्थायी हो सकती है तो दूसरे रस में रति-रूप चित्तवृत्ति अस्थायी अथवा व्यभिचारी रूप में भी रह सकती है। वस्तुतः वही भाव स्थायीभाव कहा जाता है जो रस रूप में व्यक्त होता है।

धनंजय का अभिमत

धनंजय ने चन्द्रादि विभावों, निर्वेदादि संचारियों और रोमांचादि अनुभवों से भावित हुए स्थायीभाव को ही रस माना है।[2] उसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने लिखा है कि 'अतिशयोक्तिरूप काव्य व्यापार में समाहित चन्द्रादि विभावों, प्रमदादि आलम्बन-विभावों, निर्वेदादि संचारियों और रोमांच, अश्रु-निक्षेप तथा कटाक्ष आदि अनुभावों से (जो अवान्तर व्यापार के रूप में पदों के अर्थ हैं) विभावित अर्थात् भावरूपता को प्राप्त स्थायीभाव जब आस्वाद्य होता है तो उसे रस कहा जाता है।' आचार्य भरतमुनि ने रत्यादि स्थायीभावों और शृंगारादि रसों के विभावादि का प्रतिपादन करते हुए उनके पृथक्-पृथक् लक्षण भी निर्दिष्ट किए हैं, किन्तु धनंजय का मत है कि उनके विभाव आदि की एक-रूपता होने के कारण उन दोनों (रस और भाव) के लक्षण एक ही हैं। वस्तुतः धनंजय को रस का स्वरूप-लक्षण स्थायी भाव की आस्वाद्यता में ही स्वीकार है जिसमें विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भाव साधन बनते हैं। उनका कथन है —

> विभावैरनुभावैश्च सात्विकैः व्यभिचारिभि
> रानीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥[3]

---

1. मम्मट : काव्यप्रकाश, 4/27-28
2. दशरूपक : 4/46
3. वही : 4/1

रसानुभूति का स्वरूप :

कविराज विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रसभोक्ताओं की योग्यता तथा रसानुभूति का स्वरूप अत्यन्त तत्वपूर्ण और सारगर्भित शब्दों में व्यक्त किया है। उनके मतानुसार 'काव्यानंद अथवा नाट्यानंद के उपभोक्ता केवल वे ही सहृदय अथवा सामाजिक (प्रेक्षक) हो सकते हैं जिनके हृदय में काव्य अथवा नाट्य के परिशीलन में सत्व का उद्रेक अथवा प्राबल्य हो। सत्वोद्रेक के कारण सहृदयजनों को जो रसानुभूति होती है वह एक ओर 'अखण्ड' 'स्वयप्रकाश' 'आनंदपूर्ण' और 'चिन्मय' कही जाती है तो दूसरी ओर उसे 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' और 'ब्रह्मास्वादसहोदर' भी स्वीकार किया गया है। आचार्य विश्वनाथ ने उसे 'लोकोत्तर चमत्कारप्राण तथा स्वाकारवत् अभिन्नता से आस्वाद्यमान' के रूप में भी निरूपित किया है।'[1] रस स्वरूप तथा रसास्वाद के विषय में प्रयुक्त उपर्युक्त विशेषण सर्वथा समुचित और अनुभवसिद्ध है। क्योंकि उनमें काव्यास्वादन के आनंद का रहस्य अन्तर्निहित है। विश्वनाथ ने इन विशेषणों का चयन अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं के आधार पर करते हुए उनके निरूपण में अपना निजी वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया है। वस्तुतः रसानुभूति के लिए सत्वोद्रेक की अनिवार्यता का उल्लेख पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का पुनराख्यान-सा है क्योंकि जब तक सहृदय की मन स्थिति सत्वपूर्ण नहीं होती, तब तक वह काव्यास्वाद का अधिकारी ही नहीं माना जा सकता। 'सत्वोद्रेक' काव्यास्वादन की प्रक्रिया का मेरुदण्ड है जिस पर काव्य की रसमयता अधिष्ठित है। विद्वानों ने सत्व शब्द की विवेचना विविध दृष्टियों से की है जिनमें अवान्तर मतभेद होते हुए भी तत्वपूर्ण उपलब्धि का विचित्र साम्य है। साधारणतया रसास्वाद के प्रसंग में सत्व का अभिप्राय है 'मन की एक ऐसी अवस्था जो सहृदय सामाजिकों को घटपटादि वस्तुओं के ज्ञान से विमुख अथवा विरक्त बना देती है।' 'सरस्वती कंठाभरण' के लेखक आचार्य भोज ने 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मनः सत्वमिहोच्यते' द्वारा बतलाया है कि मन के उस स्वरूप को 'सत्व' कहा जाता है जिसमें रजोगुण और तमोगुण का कोई संस्पर्श न हो। 'ऐसी मन स्थिति के उद्रेक अथवा प्राबल्य का स्पष्ट अर्थ यही है कि सत्व की प्रतिष्ठा से रजोगुण

---

1. सत्वोद्रेकादखण्डस्व प्रकाशानंद चिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित् प्रमातृभि ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेना यमास्वाद्यते रस ॥
(विश्वनाथ साहित्य दर्पण, 3/203)

और तमोगुण अभिभूत हो जाते हैं और चित्त में किसी भी प्रकार की मुग्धता अथवा संकीर्ण मोहान्धता नहीं रहती। आचार्यों का मत है कि जब विभावादि रूप अलौकिक काव्यार्थ में सहृदयों के मानस का अन्तर्लय अथवा अभिनिवेश हो जाता है, तभी उद्रेक समझना चाहिए। सत्वोद्रेक होने पर ही भावकजनों का अन्तःकरण काव्यरस के भोग का अधिकारी होता है, क्योंकि तत्वतः वही एकमात्र आनंदपूर्ण आत्मसंवेदन का स्वरूप है।

विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रस को जिस अर्थ में 'अखंड' कहा है उसका मूल मन्तव्य केवल इतना ही है कि सहृदय जनों को जिस समय रस अथवा काव्यास्वादन का आनन्द उपलब्ध होता है, उस समय उनके अनुभव का विषय विभावादि के पृथक्-पृथक् अनुभवों में खंडित नहीं होता अपितु वह एक आनन्दघन, चमत्कारपूर्ण और अलौकिक संवेदन-रूप रहता है। रस की स्वप्रकाशता इस तथ्य में निहित है कि रसानुभूति किसी अन्य ज्ञान का विषय न बनकर स्वयम् प्रकाशित होती है। उसके चिन्मय होने का अर्थ यह है कि वह चिद्रूप अर्थात् स्वप्रकाशानन्दरूप है क्योंकि इस प्रसंग में प्रयुक्त 'चिन्मय' पद का 'मयट्' प्रत्यय 'प्राचुर्य' अर्थ का व्यंजक न होकर 'स्वरूप' अर्थ का व्यंजक है। भट्टनायक ने 'भोग' तथा अभिनवगुप्त ने 'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिरूप' अनुभव द्वारा इसी तत्व की ओर संकेत किया था कि रसानुभूति 'अखंड और स्वप्रकाशानन्दचिन्मय' होती है। उनके कथन का भी यही अभिप्राय है कि रसदशा की सम्भावना सामाजिकों के सत्वोद्रेक के कारण होती है और रसानुभूति को एक प्रकार से सहृदय सामाजिकों का साक्षात् आत्मसाक्षात्काररूप कहा जा सकता है जिसकी विद्यमानता में न तो मन की चंचलता रहती है और न उसकी मोहांधता ही। विश्वनाथ ने आस्वाद को जिस रूप में 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' और 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा है उस पर आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को जिस अर्थ में 'चर्व्यमाणतैकसार' कहा है, उसी अर्थ में विश्वनाथ ने उसे वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' माना है। वस्तुतः रसरूप में किसी भी अन्य वेद्यवस्तु का कोई भी अनुबोध या सम्पर्क सम्भव नहीं होता। रस की वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता के कारण उसके ज्ञेय-ज्ञातृत्व-भाव का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। कहने के लिए हम भले ही रस को 'ज्ञेय' और प्रमाता को 'ज्ञाता' कहें किन्तु रस मूलतः एक ऐसा स्वप्रकाशानन्दात्मक आत्मानुभव है जो अपनी वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता के कारण 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा जाता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि रस ब्रह्मानन्दरूप न होकर उसके सदृश-रूप है तभी तो उसे ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा गया है क्योंकि ब्रह्मानन्द में तो विशुद्ध चिदानन्दात्मक अनुभव होता है जबकि काव्यानन्द अथवा रसानुभूति में 'रत्यादि-सवलित चिदानन्दस्वरूप' की अनुभूति रहती है।

विश्वनाथ ने रस की स्वरूप-विवेचना तथा आस्वाद्यता के लिए जो 'लोकोत्तर-चमत्कार-प्राण' विशेषण दिया जाता है, वह अत्यन्त उपयुक्त है। यों तो अनेक आचार्यों ने 'चमत्कार' पद की व्याख्या विविध दृष्टियों से की है और उसे 'सकलविघ्नविनिर्मुक्त संवित्' माना है किन्तु इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का मत सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी विवेचना से स्पष्ट है कि 'चमत्कार' केवल निर्विघ्न संवेदन ही नहीं, अपितु अद्भुत 'भोगात्मस्पन्दावेशरूप' भी है जो साक्षात्कार स्वभाव, मानस अध्यवसाय, संकल्प अथवा स्मृति के रूप में हमारे मानस में प्रस्फुटित होता है। उनका यह मत सर्वथा उचित है क्योंकि चमत्कार के कारण हमें जो विस्मय-सुख मिलता है, वह एक प्रकार का विचित्र आनन्दावेश ही है। आचार्य विश्वनाथ ने 'चमत्कार' को 'चित्त का विस्तार रूप अपर विस्मय' कहा है जिसमें स्पष्ट है कि वे उसे रस-रूप अनुभव का प्राणतत्व मानना युक्तिसंगत मानते थे। उन्होंने अपने वृद्धप्रपितामह के संरक्षण में प्रचलित सहृदय-गोष्ठी के एक वरिष्ठ कवि श्रीनारायण पण्डित का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनके मत से तो चमत्कार ही रस में सारभूत तत्व है जिसका अनुभव सर्वत्र किया जाता है। अपनी धारणा में श्री नारायण पण्डित इतने सुदृढ़ थे कि उन्होंने 'चमत्कार' पद पर बल देते हुए समस्त रसों में अद्भुत रस का समावेश मान लिया।[1] नारायण पंडित का यह मत एक विशेष प्रकार की विवेचना द्वारा युक्ति-प्रतिपादित प्रतीत होता है क्योंकि यदि 'चमत्कार' का अर्थ 'अलौकिक और निर्विघ्न संवेदन' है तो उससे अधिक अन्य कोई भी पद रसानुभूति का व्यंजक नहीं हो सकता। ऐसे 'लोकोत्तर-चमत्कार प्राण' रस की चर्वणा केवल वे ही सहृदय व्यक्ति कर सकते हैं जो या तो पूर्वजन्म के संचित पुण्यों के कारण काव्यार्थ के परिशीलन अथवा भावन-कार्य में समर्थ हों अथवा रसानुभूति की वेला में जिनमें योगियों की भाँति समाधि-स्थिति विद्यमान रहे। विश्वनाथ ने रस को 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः' कह कर एक प्रकार से आचार्य मम्मट के 'स्वाकारइवाभिन्नोऽपि गोचरीकृत' का ही समर्थन किया है। आचार्यों का यह रस विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त तत्वसंवलित है क्योंकि उसमें ज्ञाता और ज्ञेय अथवा प्रमाता और प्रमेय की अभिन्नता अन्तर्निहित है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार परिणामवादी दार्शनिकों के मतानुसार ज्ञान और उसके विषय में अभेद होता है, उसी प्रकार रसदार्शनिकों की दृष्टि में भी आस्वाद और आस्वाद विषय 'रस' परस्पर भिन्न न होकर एक ही तत्व के

---

1. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
   तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।

(साहित्य-दर्पण, तृतीयपरिच्छेद)

प्रकाशन है। 'केवल सहृदय सामाजिक ही रसास्वाद करते हैं', इस कथन का रहस्य यह है कि सत्वोद्रेक के कारण केवल सहृदय सामाजिकों को ही स्वप्रकाशानन्दस्वरूप आत्मतत्व का साक्षात्कार हुआ करता है। साहित्यदर्पण के टीकाकार तर्कवागीश ने भी बुद्धि को स्वात्मरूप-प्रकाशिका कह कर इसी मत का समर्थन किया है।[1]

स्वरूपबोध के अन्य पक्ष

आचार्यों ने रस का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए उसे और भी अनेक प्रकार के तर्कपूर्ण तथ्यों से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनके मतानुसार रस को कारणजन्य कार्य-रूप पदार्थ नहीं कहा जा सकता और न उसे नित्यवस्तु ही माना जा सकता है। यदि रस को कार्य माना जाय तो विभावादि ज्ञान को ही उसका कारण मानना पड़ेगा जो युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि रस तो एकमात्र विभावादि-समूहालम्बनात्मक संवेदन-रूप है अतः विभावादि का ज्ञान रस का कारण कैसे माना जा सकता है? आचार्य अभिनवगुप्त ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रस न तो कार्य है और न विभावादि का बोध रस का कारण ही माना जा सकता है। यदि ऐसा हो तो विभावादि-बोध के नष्ट हो जाने पर भी रस का अनुभव होना चाहिए। क्योंकि जो कार्य कारणजन्य होते हैं, वे कार्य कारणों के नष्ट होने पर भी विद्यमान रह सकते हैं। विश्वनाथ ने इसी मत को कुछ रूपान्तरित करते हुए प्रस्तुत किया है। उसका आशय यह है कि जिस प्रकार चन्दन आदि के स्पर्श का ज्ञान और उससे प्राप्त होने वाला सुख एक ही संवेदन के विषय नहीं होते, उसी प्रकार रसरूप सुख (कार्य) और विभावादिबोध रूप कारण की भी एक ही समय में स्थिति नहीं हो सकती। चूंकि विभावादिबोध और रसरूप आनन्द एक ही समय में सवलित 'एकघन सुखसंवेदन' के रूप हैं, अतः उन पर कारण-कार्य का सिद्धान्त घटित नहीं किया जा सकता। इसके साथ-साथ रस को 'नित्य' मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि विभावादि के परामर्श से पूर्व उसकी प्रतीति ही असंभव है और जब प्रतीति के पूर्व उसका कोई अस्तित्व नहीं तो फिर रस को किस प्रकार नित्य माना जा सकता है? रस की अनित्य स्थिति को ही ध्यान में रखकर आचार्यों ने उसे 'ब्रह्मास्वादसविध' अथवा 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा है क्योंकि यदि उसे ब्रह्मास्वादरूप कहा जाता तो वह 'नित्यत्व' प्राप्त कर लेता और उसकी निष्पत्ति के लिए विभावनव्यापार अथवा काव्य-कृति की कोई

---

1. नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।
(साहित्यदर्पण, निर्णयसागर संस्करण, पृ० 72)

आवश्यकता नहीं रहती। सच तो यह है कि रस की स्थिति नित्य न होते हुए भी अलौकिक और विलक्षण अवश्य है, तभी तो उसे ब्रह्मास्वाद का सादृश्य प्रदान किया गया है। वस्तुतः काव्य का आत्मभूततत्व रस एक अनिर्वचनीय विषय है क्योंकि उसके सम्बन्ध में अन्य वस्तुओं की सी सम्भावना नहीं हो सकती। उसे काव्य अथवा नाट्य की भावना के पश्चात् उद्भूत होने वाली भावी वस्तु कहना भी समुचित नहीं है क्योंकि वह तो काव्यनाट्य भावना का ही समकालीन एक साक्षात् स्वप्रकाशानन्दमय अनुभव है। उसे वर्तमान वस्तु मानना भी असंगत है क्योंकि न तो वह कोई कार्यजन्य वस्तु है और न ज्ञाप्य वस्तु ही। उसे निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं माना जा सकता क्योंकि सहृदयों के अनुभव से सिद्ध है कि यह विभावादि के परामर्श का विषय बनता है तथा उसकी अनुभूति आत्यन्तिक सुख-चमत्कार के रूप में संवेदनाजन्य होती है। उसे सविकल्प ज्ञान का विषय मानना भी युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि सविकल्पक ज्ञान या संवेदन की वस्तुएँ (घटपटादि) किसी-न-किसी वाचक पद द्वारा संवेदित की जा सकती है जब कि रस के सम्बन्ध में कोई भी वाचक शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि रस न तो नित्य वस्तु है और न भावी तथा वर्तमान वस्तु ही। वह तो एक ऐसा अलौकिक स्वसंवेदन-संवेद्य तत्व है जिसका न तो बौद्धिक विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसे शब्दवाच्य ही माना जा सकता है। अतः सभी दृष्टियों से रस की स्थिति 'लोकोत्तर वैलक्षण्यमय' प्रतीत होती है। इस विषय में हम आचार्य विश्वनाथ की निम्नलिखित कारिकाएँ उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं जिनमें उपर्युक्त विवेचना का निष्कर्ष विद्यमान है :—

1 नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्य व्यभिचारतः।
यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः॥
तस्मान्न कार्यः नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः।
असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते॥
नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमयप्रकाशरूपत्वात्।
कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्तमानोऽपि॥
विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम्।
परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम्॥

अन्यान्य विशेषताएँ

रस के स्वरूप के सम्बन्ध में कतिपय अन्य विशेषताओं का उल्लेख करना

---

1. विश्वनाथ साहित्यदर्पण, 3/20-24

भी आवश्यक है जिनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि वह परोक्ष तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से परे होने के कारण अनिर्वचनीय स्वरूप है। रस को परोक्ष अथवा अतीन्द्रिय मानने में यह कठिनाई है कि वह 'साक्षात् अनुभव-स्वरूप' सा प्रतीत होता है किन्तु उसे प्रत्यक्ष रूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि वह एक ऐसा अलौकिक शब्दज्ञान है जिसकी निष्पत्ति काव्य अथवा नाट्य में उत्पत्ति विभावादि-ज्ञान द्वारा होती है। साहित्यदर्पणकार ने रस की परोक्षता तथा प्रत्यक्षता का विचार कर उसे अनिर्वचनीय कहना अधिक उपयुक्त समझा है। उनका मत यह है कि वस्तुतः रस एक ऐसा अलौकिक तत्व है जो एकमात्र सहृदय सामाजिकों द्वारा अपने सात्विक रूप में संवेद्य समझा जाता है। उसके सद्भाव का सब से बड़ा प्रमाण यही है कि वह सहृदय सामाजिकों की चर्वण अथवा रसना का ही रूप है। रस के 'रस्यमानतामात्रसार' तथा 'चर्वणारूप' होने से सहृदयों के आस्वादानुभव के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण को उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः 'चर्वणा' का अभिप्राय है 'आस्वादन' और 'आस्वादन' का अर्थ है विभावादि संवलित रत्यादि भावों से भावित सहृदय का चमत्कार।[1] सच तो यह है कि स्वप्रकाशानन्दमय रस के अस्तित्व में रसना-रूप प्रतीति के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। उसकी अलौकिकता का संकेत तो पूर्ववर्ती प्रघट्टक में किया ही जा चुका है। इस विषय में हमें 'चर्वणैव भगवती रसविस्स्वरूपादभिन्ने तस्मिन् प्रमाणम्' का ध्यान आता है जिसमें यह कहा गया है कि रस वस्तुतः स्वसंवेदन स्वरूप तत्व है जिसका अस्तित्व चर्वणा अथवा रसना से प्रमाणित किया जा सकता है। यह चर्वणा एक प्रकार की अलौकिक प्रतीति है जिसे 'रसब्रह्म की माया' कहना समीचीन प्रतीत होता है।

रस और आस्वाद का सम्बन्ध

विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रस और आस्वाद का तादात्म्य स्वीकार किया है, यद्यपि व्यवहार में यही कहा जाता है कि 'रस का आस्वाद किया जाता है।' वस्तुतः सहृदय सामाजिक द्वारा अनुभूत काव्य तथा नाटक का आस्वाद विभावादिसंवलित रत्यादि-रूप काव्यार्थ में सम्पृक्त सहृदय सामाजिक के आत्मानन्द का ही आस्वाद है जिससे स्पष्ट है कि रस और आस्वाद में किसी भी प्रकार की कोई भिन्नता नहीं है। 'रसः स्वाद्यते' अर्थात् रस का आस्वादन किया जाता है

---

1. चर्वणा आस्वादनं। तच्च 'स्वाद' काव्यार्थ संभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तप्रकारम्।

(विश्वनाथ. साहित्यदर्पण, 3/26 की विवृति)

कथन से रस और आस्वाद की अभिन्नता ही माननी चाहिए क्योंकि रस स्वतः ही अपने स्वरूपभूत अर्थात् अपने से अभिन्न आस्वाद का विषय हुआ करता है। रस और आस्वाद की भेद-कल्पना 'राहोः शिरः' अथवा 'राहु का सिर' जैसे उदाहरण से स्पष्ट की गई है जिसका भेदाभेदनिर्णय कर्मकर्तृ प्रक्रिया से बोधगम्य हो जाता है। वस्तुतः रस और आस्वाद में कोई भेद नहीं है। विद्वानों ने 'रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः' कह कर रस और आस्वाद में अनन्य भाव सिद्ध किया है। व्यावहारिक दृष्टि में रस और आस्वाद में जो भेद माना जाता है वह काल्पनिक अथवा उपचारमात्र है। दशरूपककार धनंजय ने भी 'स्वाद' काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' द्वारा रस और आस्वाद की एकता सिद्ध की है।

रस और आस्वाद की एकरूपता मानने पर इस बात की शंका उत्पन्न होती है कि जब रस अथवा आस्वाद स्वप्रकाशानन्दस्वरूप संवित्' हैं तो फिर रस को अनुभव का विषय कैसे सिद्ध किया जा सकता है? यह एक विचित्र बात है कि रस अथवा आस्वाद को प्रकाशरूप भी मान लिया जाय तथा प्रकाश अथवा संवेदन का विषय-रूप भी। यदि कहा जाय कि रस आस्वाद व्यंजना द्वारा वेद्य है तो भी उचित नहीं है क्योंकि रस अथवा आस्वाद की भाँति व्यंजना भी एक ज्ञान विशेष ही है जिससे रस और व्यंजना की अभिन्नता प्रतिपादित होती है। रस और व्यंजना को एक ही तत्व मानने पर रस को व्यंग्य-व्यंजना-वेद्य' मानने में कठिनाई हो सकती है क्योंकि रस तभी व्यंग्य कहा जा सकता है जब व्यंजना उससे एक पृथक तत्व हो। वस्तुतः व्यंजक-व्यंग्य-भाव प्रदीप और घट जैसी भिन्न वस्तुओं में ही सम्भव है। तो फिर क्या रस को व्यंग्य और विभावादि को व्यंजक मानना युक्तिसंगत नहीं है? इसका उत्तर देते हुए आचार्यों ने रस की अलौकिकता को पूर्णतया ध्यान में रखा है आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि 'आस्वादन-रूप व्यापार सर्वथा विलक्षण अलौकिक और अनिर्वचनीय व्यापार है जो कारक-हेतु के कर्तृत्व तथा ज्ञापक हेतु के ज्ञप्तिरूप व्यापारों से विलक्षण है। वस्तुतः आस्वादनात्मक व्यापार से रस अथवा आस्वाद सम्भव है, अतः उसे 'रसना' 'आस्वादन' और 'चमत्कार' आदि विलक्षण शब्दों से सूचित किया जाता है। रस को व्यंग्य मानने वाले आचार्यों का मूल अभिप्राय यह है कि व्यंजना-वृत्ति को स्वीकार किए बिना काव्यनाट्य के परमार्थभूत रसभावादिरूप अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती, क्योंकि उस प्रतीति में अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्याख्य वृत्तियों से काम नहीं चल सकता। 'रस व्यंग्य है' इसका स्पष्ट आशय इतना ही है कि वह एक विलक्षण रसनात्मक व्यापार का विषय है और वह व्यापार अनिर्वचनीय व्यंजना वृत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं हो

सकता। विश्वनाथ ने रस को 'ज्ञानरूप' तथा 'व्यंजनावेद्य' कह कर अभिनवगुप्त के उस मत का समर्थन किया है जिसके अनुसार काव्य-नाट्य की अभिधादि शक्तियों से विलक्षण तथा व्यंजना-शक्ति से प्रादुर्भूत रसनात्मक प्रतीति होती है। काव्य और नाट्य की व्यंजना विभाव आदि के साधारणीकरण से लेकर रसनारूप प्रतीति पर्यन्त स्फुरित होती रहती है, अत. 'रस' और 'रसना' रूप प्रतीति में औपचारिक अभेद मान कर रस को व्यंजनाजन्य अथवा व्यंग्य मान लिया जाय तो उसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

साधारणीकरण रसास्वाद का प्रमुख आधार है

रसास्वाद की भूमिका में साधारणीकरण अथवा तन्मयीभवन का अत्यधिक महत्त्व है। उसके द्वारा इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है कि काव्य अथवा नाट्य में उपस्थापित रामादि नायकों के रत्यादि भावों की उद्‌बुद्धता के कारण अथवा हेतुरूप सीतादि नायिकाओं के दर्शन अथवा श्रवण से सहृदय सामाजिकों की रत्यादि वासनाएँ किस प्रकार उद्‌बुद्ध हो सकती हैं? काव्यास्वाद की प्रक्रिया में यह एक ऐसा मौलिक प्रश्न है जिसका उत्तर देने का प्रयास अनेक आचार्यों ने किया है। विद्वानों की मान्यता है कि काव्य या नाट्य में वर्णित या अभिनीत विभावों, अनुभावों और व्यभिचारिभावों में साधारणीकरण अथवा विभावन-व्यापार की एक ऐसी लोकोत्तर शक्ति होती है, जिसके कारण सहृदय सामाजिक अपनी वैयक्तिक सीमाओं से ऊँचे उठ कर अपने आपको राम और महावीर जैसे नायकों से अभिन्न मानने लगते हैं और उनकी मनःस्थिति में रावणवध और समुद्रसंतरण जैसे असाधारण व्यापार साधारणीकृत दशा में अवस्थित हो जाते हैं। यों तो सहृदय सामाजिकों की उक्त मनोदशा के साधारणीकरण में काव्य अथवा नाट्य की व्यंजकता बहुत बड़ा आलम्बन होती है, किन्तु उसमें कम महत्त्व उनकी निजी भावयित्री शक्ति का नहीं होता, जिसके जन्मजन्मान्तरागत संस्कार उन्हें काव्यास्वादन की क्षमता प्रदान करते हैं। काव्य-कृति की व्यंजकता और काव्य-रसिकों की सुपात्रता का संयोग रसास्वाद-यिताओं और मूल पात्रों में एक प्रकार का तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करा देता है जिसके कारण सामाजिकों की रत्यादि वासनाओं और नायकों के रत्यादि भावों का साधारणीकरण हो जाता है। सच तो यह है कि काव्य और नाट्य के साधारणीकरण व्यापार से सामाजिकों की मनोवृत्ति में समुद्रसंतरण आदि के प्रति उत्साहादि रूप 'महाभाव' उद्‌बुद्ध हो जाता है, जिसके कारण वे रसानुभूति करने में समर्थ होते हैं। यदि रत्यादि भावनाओं का साधरणीकरण न हो तो बहुत सम्भव है, सभ्य सामाजिक उनकी स्वात्मगत प्रतीति में व्रीडा अथवा आतंक

आदि का अनुभव करने लगें और उनकी परगत प्रतीति उनके मन में उदासीनता अथवा अरस्यता के भाव उद्भूत कर दे। वस्तुतः काव्य और नाट्य से अभिव्यक्त रत्यादि भाव न तो स्वगत ही माने जा सकते हैं और न परगत ही। स्वगत मानने में सबसे बड़ी बाधा तो यह आती है कि सामाजिकों के मन में रत्यादि वासनाओं के प्रति एक प्रकार का सम्मोह सा हो जाता है और वे ऐसी क्षुद्रता और स्वार्थपरता में संलिप्त हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप उनके मानस में अपने आनन्द के अपगम के प्रति भीरुता, परिरक्षण के लिये व्यग्रता तथा उससे अधिक की उपलब्धि के लिये आकुलता उत्पन्न होना सहज स्वाभाविक है जिनके कारण रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। यदि रत्यादि भावों को परगत मान लिया जाय तो भी रसास्वाद के मार्ग में कठिनाई आती है क्योंकि रत्यादि भावों को नायकादिगत मानने से सामाजिक का चित्त रागद्वेषाभिभूत हो सकता है, जिसके कारण काव्यास्वाद के आनन्द में बाधा उपस्थित होने की सहज सम्भावना है।

काव्य अथवा नाट्य में वर्णित अथवा अभिनीत रत्यादि भावों के साधारणीकरण का सर्वप्रथम प्रभाव सहृदय सामाजिकों की चित्तवृत्ति पर पड़ता है। उसके कारण उन्हें इस बात का अनुभव होने लगता है कि काव्य अथवा नाट्य में वर्णित वस्तुएँ अथवा विषय न तो स्वगत कहे जा सकते हैं और न परगत ही। विभावादि का साधारणीकरण होने पर उन्हें ऐसी अनुभूति का आभास होने लगता है कि काव्य अथवा नाट्य में वर्णित वस्तुओं पर न तो वर्णित पात्रों अथवा अनुकार्यों का अधिकार ही निरूपित किया जा सकता है और न यह भी कहा जा सकता है कि उन पर उनका अधिकार ही नहीं है। साथ ही साथ वे यह भी निश्चय नहीं कर पाते कि उन वस्तुओं के वर्णनाभिनय से उनका भी कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं। वस्तुतः साधारणीकरण की स्थिति में सहृदय-सामाजिकों की मनोदशा विचित्र और लोकोत्तर सी हो जाती है, जिसके कारण काव्य-वर्णित वस्तुएँ स्वगत तथा परगत की भेदभावना से विनिर्मुक्त होकर सर्वसामान्यीकृत अधिकार की वस्तुएँ बन जाती हैं। उस समय काव्य अथवा नाट्यार्पित वस्तुओं के प्रति प्रमाता के हृदय में साधारणीकरण का भाव परिपुष्ट होकर उसे रसात्मक अनुभूति कराने में समर्थ हो जाता है। विश्वनाथ का मत है कि लोकगत रत्यादि भावों के कारण कार्य और सहकारी तत्व जब काव्य अथवा नाट्य के क्षेत्र में अवतीर्ण होते हैं तो वे विभावन, अनुभावन तथा व्यभिचरण का लोकोत्तर व्यापार आरम्भ कर देते हैं, जिसके कारण उनका अलौकिकत्व किसी भी प्रकार का कोई दोष न होकर गुण ही समझा जाता है। वस्तुतः 'विभावन' को काव्य अथवा नाट्य का ऐसा व्यापार माना जा सकता है

जिसमें इस बात की शक्ति अन्तर्निहीत है कि वह सामाजिक के हृदय मे अवस्थित रत्यादि वासनाओ को विशेष रूप से आस्वादाङ्कुरण का सामर्थ्य प्रदान कर सके। काव्य का 'अनुभावन व्यापार' अंकुरित रत्यादि वासनाओ को तत्काल ही रसादिरूप मे पल्लवित कर देता है तो व्यभिचरण-व्यापार विभावन से अंकुरित तथा अनुभावन से पल्लवित रत्यादि वासनाओ को सम्यक् रूप से पुष्ट बनाया करता है। इस प्रकार लौकिक दृष्टि से जिन्हें कारण, कार्य और सहकारी कहा जाता है, वे रसोद्बोध की दृष्टि से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का रूप धारण कर अपने समस्त सवासित रूप मे 'कारण' बन जाते हैं। चूंकि रसास्वाद की वेला में ममत्व और परत्व की कोई भावना नही होती, अतः विभाव आदि तीनो व्यापार पृथक्-पृथक रूप से रसाभिव्यक्ति न कराते हुए व्यंजना नामक एक ही शक्ति मे इस प्रकार सवलित हो जाते है कि उसके कारण प्रपाणक रस की भाँति अपूर्व प्रकार की आनन्दानुभूति होने लगती है।

रसास्वाद का वैलक्षण्य

विद्वानो ने जिस आनन्दाकार चित्तवृत्ति को रसचर्वणा कहा है वह शब्द के व्यंजना-व्यापार से उत्पन्न होने के कारण 'शाब्दबोधरूपा' है तथा अपरोक्ष सुख के आलम्बन के कारण 'प्रत्यक्षरूपा' है। नैयायिको ने शाब्दबोध की गणना परोक्ष ज्ञान मे करते हुए प्रत्यक्षबोध के साथ उसका अन्तर्विरोध निरूपित किया है, किन्तु वेदांतियों ने 'तत्त्वमसि' जैसे सुप्रसिद्ध श्रुतिवाक्यो के आधार पर जीव और ब्रह्म मे ऐक्य बुद्धि मानकर उस बुद्धि को शब्दजन्य होने के कारण 'शाब्द' तथा अपरोक्ष ब्रह्मविषयक होने मे 'प्रत्यक्षरूप' माना है, जिसके आधार पर तत्त्ववर्ती काव्यशास्त्रियो ने भी रसचर्वणा को 'शाब्द' तथा 'प्रत्यक्ष' दोनो रूपो मे स्वीकार किया है। इस प्रकार की रसविषयक मान्यता का समर्थन अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि आचार्यों की विवेचना से भी किया जा सकता है।

यो तो काव्यास्वादन का आनन्द 'ब्रह्मानन्द से भिन्न' तथा लौकिक कारणों से उत्पन्न होने के कारण 'चित्तवृत्तिविशेषात्मकलौकिक आनन्द' रूप ही है, किन्तु उसे स्रक् और चंदनादि उपभोगजन्य लौकिक सुखों से विलक्षण ही समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि अन्य लौकिक सुख 'अंतःकरण की वृत्तियो से युक्त चैतन्य स्वरूप' होते हैं जब कि रसरूप काव्यानन्द अतःकरण की वृत्तियो से युक्त चैतन्यस्वरूप न होकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और उस आनन्द की अनुभूति के समय प्रमाता की चित्तवृत्ति आनन्दरूप मे ही परिणत हो जाती है। उस चित्तवृत्ति को रसात्मक आनन्द की अनुभूति का अवच्छेदक या इयत्ताग्राहक धर्म भी नही कहा जा सकता क्योंकि वह आनन्द अनवच्छिन्न और इयत्तारहित होने

के कारण लौकिक सुखों की अपेक्षा विलक्षण होता है। काव्यानन्द की इसी विलक्षणता को ध्यान में रख कर मम्मट तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने भग्नावरणचिद्विशिष्ट इत्यादि स्थायिभावों को ही 'रस' कहा है। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि चैतन्यविषयीभूत रत्यादि को रस न मान कर ऐसे आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही 'रस' मानना चाहिए जिसके विषय रत्यादि स्थायिभाव हों। ऐसा मानने से 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतिवाक्यों का भी विरोध नहीं हो सकेगा।

आचार्यों का मत है कि काव्य-रस का आस्वादन अनुमिति अथवा स्मृति द्वारा भी नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ के अनुमेय होने में जितने भी हेतु उपस्थित किये जाते हैं वे सद्हेतु न होकर हेत्वाभासमात्र हैं। चूंकि रस का स्वरूप साक्षात्कारात्मक होता है, अतः उस पूर्वानुभव का संस्कार प्रबोधरूप स्मरण भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः साक्षात्कार और संस्कार-प्रबोध में जो अन्तर है, वही अन्तर रसस्वरूपतापन्न रस तथा रत्यादि की स्मृति में है। इस प्रकार की मान्यता रखने वाले विद्वानों ने व्यक्ति विवेककार आचार्य महिमभट्ट की उस मान्यता का खण्डन किया है जिसके अनुसार रसादि की प्रतीति एक प्रकार की अनुमिति ही है। इन विद्वानों का मत है कि रसानुमिति और रसाभिव्यक्ति को एक ही वस्तु सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि केवल अनुमान द्वारा स्वप्रकाशानन्दस्वरूप और सहृदयहृदयसंवेद्य रस की सिद्धि सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि रस-प्रतीति की संसिद्धि अनुमान प्रक्रिया से करने पर हेतु में व्यभिचार हो जाता है जिससे 'व्याप्तिग्रह' की सम्भावना नहीं रहती तथा हेतु की सिद्धि भी नहीं होती। वास्तव में रामादिगत रत्यादि की प्रतीति और रस अथवा काव्यास्वादन की चमत्कारात्मक अनुभूति में 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' सदृश व्याप्ति ही नहीं होती। काव्य और नाट्य के ऐसे अनेक पाठक और प्रेक्षक (मीमांसक और वैयाकरण आदि) होते हैं जिन्हें काव्य-नाट्य-समर्पित विभावादि की प्रतीति से रामादिगत रत्यादि की प्रतीति तो अवश्य होती है, किन्तु रसात्मक चमत्कार नहीं मिलता। सहृदयहृदय-संवेद्य रस की सिद्धि में रामादिगत रत्यादि की प्रतीति को भी हेतु नहीं माना जा सकता क्योंकि यहां न तो किसी प्रकार की व्याप्ति का निश्चय सम्भव है और न उसमें पक्षवृत्ति ही निर्धारित है। वस्तुतः वहां तो केवल हेत्वाभास है। अनुमितिवादी आचार्यों ने जिस अनुमान-प्रक्रिया का आश्रय लेकर रसानुमिति को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वह युक्तिसंगत नहीं है। चूंकि रामादिगत रत्यादि भाव की प्रतीति में 'सहृदयहृदयसंवेद्य सान्द्रानन्द निर्भरत्व' की हेतुता नहीं रहा करती, अतः रस नामक पदार्थ अनुमेय न होकर एकान्ततः अभिव्यङ्ग्य

अथवा रमणीय काव्यार्थ होता है। इतना ही नहीं, व्यंजनावादियों की दृष्टि में तो वस्तु अथवा अलंकाररूप प्रतीयमान अर्थ भी अनुमेय नहीं होता अपितु अभिव्यंग्य ही होता है।

आस्वाद्यता के आलोक में 'महारस' की अनुभूति

आस्वाद्यता अथवा रस-चर्वणा रस का भेदक लक्षण है। उसके कारण रस की प्रतीति अन्य प्रतीतियों से भिन्न होती है। आस्वाद्यमानता अथवा चर्वणात्मकता की दृष्टि से सभी रस तथा भाव एक ही हैं जिन्हें अभिनवगुप्त ने 'सामान्य रस' अथवा 'महारस' की संज्ञा दी है। शृंगारादि रस उस महारस के 'विशेष निष्पंद' कहे जा सकते हैं। एक ही 'महारस' के ये विशेष भेद विभावानुभावों के संयोग-विशेष के कारण होते हैं, किन्तु विभावानुभावादि का संयोग केवल निरपेक्ष नहीं होता। लौकिक दृष्टि से उसे किसी संचारी अथवा स्थायी भाव का अभिव्यंजक होना ही चाहिए, जिसके अनुरूप सामान्य रस के भाव तथा 'विशेष रस' संज्ञक दो भेद किये जाते हैं। भावों में उदय, संधि, शांति और शबलता आदि अवस्थाविशेषों के कारण जब 'चर्वणाव्यापार गोचरभाव' आस्वाद्य बनते हैं तो उनके अनुरूप भावोदय, भावसंधि, भाव-शांति और भाव-शबलता आदि भेदों की सृष्टि होती है। इसी प्रकार विशेष रसों में जहाँ रति, उत्साह, शोक और हास आदि स्थायी भाव आस्वाद्य होते हैं तो उनके अनुरूप शृंगार, वीर, करुण और हास्य आदि विशेष रस निष्पन्न होते हैं। जहाँ स्थायी भाव आस्वाद्य होता है वहाँ व्यभिचारी भावों की निरपेक्ष आस्वाद्यता नहीं रहती। स्थायी भावों की आस्वाद्यता में रसध्वनि होती है, किन्तु जहाँ व्यभिचारी भाव स्वतन्त्र रूप से आस्वाद्य रहता है, वहाँ भावध्वनि होती है। भावध्वनि के अधिक स्थल मुक्तक काव्य में रहते हैं जहाँ व्यभिचारी भाव भी निरपेक्ष रूप से आस्वाद्य हो सकता है। मुक्तक द्वारा रसास्वादन प्राप्त करने के लिए काव्य-भावक में विशेष प्रकार की योग्यता वांछनीय है जिसका कारण यह है कि उसमें सामान्यतः भाव-प्रतीति स्वतन्त्र रूप से आस्वाद्य होती है तथा विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का भी पूर्ण वर्णन नहीं रहता। उसमें कहीं तो विभावों का प्राधान्य रहता है और कहीं अनुभावों का। ऐसी स्थिति में मुक्तक काव्य के आस्वादयिता को अनेक बार पूर्वापर संदर्भों की परिकल्पना करते हुए कवि द्वारा अकथित किन्तु आस्वाद के लिए आवश्यक अर्थों का संयोग करना पड़ता है जिनकी निष्पन्नता में ही उसे रस-प्रत्यय हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाट्य अथवा प्रबन्ध काव्यों में इस प्रकार की परिकल्पना का प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता, क्योंकि नाट्य में तो रसनिष्पत्ति के प्रत्यक्ष अवसर रहते हैं तथा प्रबन्ध काव्यों में भी विभावानुभावों का समुचित

संयोजन होने पर नाट्य के समान ही रससौन्दर्य की प्रत्यक्षवत् कल्पना की जा सकती है। मुक्तक काव्य की स्थिति उनसे कुछ भिन्न है जिसका संकेत उपर्युक्त पंक्तियों में किया जा चुका है। सारांश यह है कि नाट्य, प्रबन्ध और मुक्तक आदि सभी प्रकार के काव्यों में 'रचना-व्यापार गोचरता' अथवा 'आस्वाद्यता' समान धर्म अनुस्यूत रहते हैं जिन्हें तात्त्विक अखण्डता में ग्रहण करते हुए अभिनवगुप्त ने उचित ही कहा है कि रस और भावादि सभी प्रकार के काव्यार्थ एक ही 'महारस' के निदर्शन हैं।

4

काव्य-रस का अधिष्ठान

काव्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि इससे उपलब्ध आनंद का मूल स्थान कहाँ माना जाए? इस प्रश्न का सम्बन्ध रस-निष्पत्ति के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है और सभी आचार्यों ने यथामति एतद्विषयक विमर्श भी किया है जिससे अनेक प्रकार की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ होती हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुशीलन से प्रकट है कि अद्यावधि उपलब्ध शोध-सामग्री के अनुसार सर्वप्रथम इस प्रश्न की ओर भरतमुनि का ध्यान आकृष्ट हुआ था। उन्होंने नाट्यशास्त्र की विवेचना करते हुए रस का स्थान 'नाट्य' में निर्धारित किया और बतलाया कि जब रंगमंच पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का संयोग स्थायिभाव के साथ होता है तो रस की निष्पत्ति होती है। उनकी मान्यता के अनुसार रस की स्थिति विषयगत है और नाट्य ही उसका आधार है क्योंकि वहीं पर रस की संसिद्धि होती है। उनके मतानुसार रस आस्वाद्य है क्योंकि उसका आस्वादन कर सहृदयजन आत्म-विश्रांति प्राप्त करते हैं।

नाट्य के साथ-साथ काव्य भी रस का अधिष्ठान है

भरतमुनि ने मुख्यतः नाट्य में ही रस का स्थान माना था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नाटकवत् प्रतीत होने वाले काव्य में रस नहीं होता। आचार्य भट्ट तौत का अभिमत है कि काव्यार्थ के विषय में भावना के बल से प्रत्यक्षकल्प संवेदना के उत्पन्न होने पर काव्य में भी रस का उदय हो जाता है। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-कौतुक' में लिखा है कि उन सर्गबद्ध काव्यों से भी रस का आस्वादन सम्भव है जो प्रयोग अथवा अभिनय को समापन्न न कर सके। वस्तुतः वर्णन-शैली के विस्तार तथा प्रौढ़त्व के कारण सुष्ठु रूप में अंकित किये गये उद्यान, कान्ता और चन्द्र आदि विभाव प्रत्यक्षवत् ही प्रस्फुटित होते हैं जिनकी रस-चर्वणा असंदिग्ध है। आचार्यों का कहना है कि सर्गबन्ध काव्य में भी गुण और अलंकारों के सौन्दर्यातिशय्य के द्वारा रस की चर्वणा होती है। इस

विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि, 'काव्य भी मुख्यतः दशरूपकात्मक ही होता है क्योंकि उसमें उचित भाषा वृत्ति, काकु एवं नेपथ्य आदि द्वारा रस-वत्ता की पूर्णता प्राप्त होती है।' ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त के मन में नाट्य के प्रति विशेष मोह था जिसके कारण वे उसे अन्य काव्यों की अपेक्षा उच्चतर गुरुता प्रदान करते रहे। उन्होंने लिखा है कि सर्गबंध आदि से युक्त महाकाव्य में नायिका आदि स्त्री पात्र भी संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे अन्य प्रकार का अनौचित्य अर्थात् रसभंग का कारण उपस्थित हो जाता है। वस्तुतः इस विषय में वे आचार्य वामन की विचारधारा के समर्थक हैं तभी तो उन्होंने महाकाव्यों और मुक्तक काव्यों के अभिव्यंजन-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए भी उन्हें दशरूपकों की अपेक्षा हीन कोटि का स्वीकार किया है। उनके मतानुसार 'हृदय-संवाद के तारतम्य की अपेक्षा से नाटक के श्रोता तथा प्रतिपत्ता की आत्मस्फुरणा या अनुभूति उसके स्फुट तथा अस्फुट आदि भेदों से अत्यन्त विविध प्रकार की होती है।' इस प्रसंग में हम उनके अभिमत का वह अंश उद्धृत करना चाहते हैं जिसमें उन्होंने बताया है कि नाट्यशास्त्र सहृदय और असहृदय दोनों का उपकारक है और नाट्य में ही रस होता है, लोक में नहीं। वस्तुतः नाट्य के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार है, तभी तो वे काव्य को भी रूपकादि से सहित नाट्य ही मानते हैं। उनका कथन है—

'तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितशोकमोहाभिलाप-परवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविधदशरूपकावर्णनसमये साधारणरसनात्मक-चर्वणग्राह्यो रससंचयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये तु तथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचित-तथाविधचर्वणलाभाय नटादिप्रक्रिया स्वगतक्रोधशोकादिसंकटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमिति न्यायात्। तेन नाट्य एव रसा न लोक इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेव।'[1]

परवर्ती आचार्यों के अभिमत

भरत के परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि रस निष्पत्ति और रस-स्थान का विमर्श करते हुए भरतमुनि की मूल पृष्ठभूमि का परित्याग नहीं किया, तथापि उनका विवेचन नाट्य के स्थान पर काव्य को अपना माध्यम बनाकर व्यक्त हुआ। इन आचार्यों ने काव्य को शब्दार्थमय कह कर रस की स्थिति काव्य के शब्दों और अर्थों में मानी और उसका सम्बन्ध काव्यालंकारों से भी उपनिबद्ध कर दिया। इन आचार्यों की प्रारम्भिक श्रेणी में आचार्य भामह और दण्डी आदि की गणना की जा सकती है, जिन्होंने अलंकारवाद के प्राधान्य से रस को गौण सत्ता प्रदान

1. आचार्य अभिनवगुप्त : अभिनवभारती : पृष्ठ 505

की ओर उसे 'रसवत्' अलंकार के रूप में ही विवेचित करना युक्तिसंगत समझा। ऐसे आचार्यों के मतानुसार शब्दार्थमय काव्य ही रस का स्थान है, जिसका आस्वादन कर सहृदय प्रमाता 'प्रीति' अथवा आनंद की अनुभूति करते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र की विकासोन्मुख परम्परा में यह एक अत्यन्त उल्लेखनीय विषय है कि ज्यों-ज्यों यहाँ के साहित्य-ज्ञान की सर्जना और चर्वणा में भारतीय मनीषियों की मेधाशक्ति अधिकाधिक काव्योन्मुख होती गई, त्यों-त्यों रस-निष्पत्ति और रस-स्थान के तात्विक विवेचन का विषय भी अधिकाधिक गम्भीर और महत्वपूर्ण बनता गया। इस विषय में आचार्य भट्ट लोल्लट, भट्टशंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त और पंडितराज जगन्नाथ के मत विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने नाट्य विवेचित रस-विमर्श को विभिन्न दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में निरूपित कर उनका स्थान निर्धारित किया है। इन मतों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय मत आचार्य लोल्लट का है जो अनुकार्य में रस की स्थिति स्वीकार करते हुए इस सिद्धान्त की स्थापना करते हैं कि रामादि मूल-पात्र ही रस के आस्वादयिता हैं जिनका गौण रूप से अभिमान कर नटादि अनुकर्त्ता भी आस्वाद लेते हैं। उनके मत से सहृदय सामाजिक रस की अनुभूति तो नहीं करता, रसात्मक स्थिति का साक्षात्कार कर चमत्कार का अनुभव अवश्य करता है। लोल्लट का मत मूलतः 'मीमांसा' दर्शन पर आधारित है और उनके विचार से निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' तथा 'संयोग' का अर्थ 'उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध' है। उनके मत का जो नवीन विमर्श हुआ है उसके अनुसार संयोग का अर्थ 'उपचेय-उपचायक सम्बन्ध' तथा 'उत्पत्ति' का अर्थ 'उपचिति' करना अधिक युक्तिसंगत माना जाता है। लोल्लट के मत का सारांश इतना ही है कि रस का वास्तविक स्थान अनुकार्य अथवा मूल पात्र का हृदय है जिसका गौण रूप से नट के चित्त में आरोप होने के कारण तज्जन्य चमत्कार से सहृदय के चित्त में भी उसकी कलात्मक प्रतीति होती है।

भट्ट लोल्लट ने रस की स्थिति अथवा उसके अधिष्ठान का जो विमर्श किया है, उसका व्यावहारिक पक्ष अनेक दृष्टियों से अपूर्ण है जिसकी विसंगतियों का अनुभव कर आचार्य शंकुक ने अपनी नवीन स्थापना प्रस्तुत की है। शंकुक का प्रतिपादन न्यायदर्शन पर आधारित है तथा वे 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' तथा संयोग का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध' करते हैं। उनके दर्शन को बौद्धों की न्यायमीमांसा की आधारशिला पर विवेचित करते हुए नवीन आचार्यों ने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुकृति' तथा संयोग का अर्थ 'अनुकार्य-अनुकारक सम्बन्ध' के साथ संयोजित कर रस स्थिति का निर्धारण करने का प्रयास किया है। शंकुक

का कथन है कि जब रामादि मूल पात्रों का अस्तित्व ही नहीं है तो उनके द्वारा अनुभूत रस की सत्ता वर्तमान में कैसे सम्भव है? ऐसी स्थिति में वे अनुकृत स्थायिभाव को ही रस की संज्ञा प्रदान कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब नटादि अनुकर्त्ता अपने कौशल एवं अभ्यास द्वारा स्थायिभाव का सफल अनुकरण करते हैं तो सहृदय प्रेक्षक उनके द्वारा अनुकार्य के स्थायिभाव का अनुमान कर रस-सिद्धि कर लेते हैं। इस मत के अनुसार नट को रस का कर्त्ता अथवा स्थायिभाव का अनुकर्ता अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु उसका आस्वादयिता अथवा अनुभववर्त्ता नहीं। वास्तव में नट का कार्य अथवा अभिनय ही रस का स्थान है जिसका अनुमान सहृदय सामाजिक अपने रागात्मक संस्कार तथा नटाभिनय-कौशल द्वारा करता है। शंकुक का यह अभिमत भरतमुनि की मान्यता का एक प्रकार का पुनराख्यान है जिसमें अभिनय पर विशेष बल दिया गया है जबकि भरत मुनि के अनुसार रस की सिद्धि में कवि-कर्म और नट-कर्म में समन्वय का अधिक आग्रह है। इस मत के अनुसार भी रस आस्वाद न होकर आस्वाद्य, तथा विषयिगत न होकर विषयगत है, यद्यपि उसके लिए प्रयुक्त 'अनुमान' पद से उसकी विषयिगत स्थिति का भी धूमिल आभास अवश्य मिल जाता है।

धनंजय की धारणा

रसास्वाद और उसके भोक्ता के विषय में दशरूपकार धनंजय का स्पष्ट मत है कि 'अपने स्वादत्व के कारण ही स्थायिभाव रस बनता है और वह रसिक में ही विद्यमान् रहता है, अनुकार्य में नहीं, क्योंकि रसिक की सत्ता ही विद्यमान सत्ता होती है। अनुकार्य तो केवल वृत्त है जो भूतकाल में वर्तमान था अतः उसमें रस की स्थिति मानना उचित नहीं है।[1] इस प्रकार धनंजय के विचार से 'काव्य अनुकार्यपरक न होकर रसिक परक होता है क्योंकि रसिक वर्तमान है। रस की प्रतीति लौकिक दर्शन को ही हो सकती है जो 'स्वरमयी समुन्न' है और जो प्रसंगागत क्रीड़ा, ईर्ष्या, राग और द्वेष आदि संचारियों का दर्शन कराता है। अतः रस अनुकार्यवर्ती न होकर दर्शकवर्ती ही होता है।[2]

धनंजय के मत का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्यार्थोपप्लावित रति आदि स्थायी भावों को रसिकवर्ती माना है क्योंकि रसिकजन ही 'निर्भर आनंद' की संवित्ति के आस्वाद्यस्वरूप रस की प्रतीति करते हैं। रस को अनुकार्यवर्ती मानने पर यह प्रश्न सहज भाव से उत्पन्न होता है कि

1. दशरूपकम् 4/38
2. वही 4/39

जब रामादि अनुकार्य भूतकाल मे विद्यमान थे तो उनमें वर्तमानकालीन काव्य की आस्वाद्यमानता का रूप कैसे माना जा सकता है ? यदि यह कहा जाए कि शब्दोपहित रूप से 'अवर्तमान का भी वर्तमान के समान अवभास' हो सकता है तो भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस अवभास का अनुभव काव्यरसिक सहृदयजन ही करते हैं, अतः हमारे आस्वाद के विभाव के रूप मे रामादि अनुकार्यों का वर्तमानवत् अवभास ही इष्ट है। सच तो यह है कि कवि द्वारा काव्य का प्रवर्तन रामादि पात्रो के हृदय मे रसोत्पादन के हेतु नही किया जाता अपितु वह सहृदयो के आनंद के लिए किया जाता है, अत यही कहना समीचीन है कि काव्य-रस सदैव 'समस्त-भावक-स्वसंवेद्य' होता है। यदि यह माना जाए कि शृंगारादि रसो की निष्पत्ति रामादि अनुकार्यों मे ही होती है तो उनका अभिनय देखकर प्रेक्षको को केवल यही प्रतीति होगी कि स्वकान्तासयुक्त नायकादि ही शृंगारवान् हैं और उस परिस्थिति मे उनमे रस का आस्वादन न होकर केवल लज्जा, असूया और अनुराग के अपहार की इच्छा उत्पन्न होगी जिससे रसादि की व्यंग्यता अपास्त हो जायगी। अतः धनञ्जय के मत से भी यही मानना समुचित है कि रस विभावादि के द्वारा प्रेक्षक अथवा सहृदय में ही भावित होते हैं।

भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के विचार

रस की स्थिति अथवा उसका स्थान निर्धारित करने के प्रसंग मे किये गए तत्व-विमर्श में आचार्य भट्ट नायक का मत विशेषतः उल्लेखनीय है क्योंकि प्राप्त सामग्री के आधार पर सर्वप्रथम उन्होंने ही रस का स्थान सहृदय के चित्त को निर्धारित किया था। उनके विचारो का मूल सूत्र इतना ही है कि जब सहृदय का स्थायिभाव साधारणीकृत विभावादि द्वारा भावित होता है तो वही रस बन जाता है। उनका मत साख्य दर्शन पर आधारित कहा जाता है जिसके अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'मुक्ति' तथा संयोग का अर्थ 'भोज्य-भोजक सम्बन्ध' है। नवीन विचारकों ने उसका विश्लेषण मीमांसा अथवा 'शैवाद्वैतवाद' के आधार पर करते हुए निष्पत्ति का अर्थ 'भावित' तथा सयोग का अर्थ 'भाव्यभावक सम्बन्ध' किया है। भट्ट नायक की मान्यता का मूल अभिप्राय यह है कि काव्य मे भावकत्व व्यापार द्वारा सहृदय के चित्त मे सत्वगुण का प्राधान्य और सत्वेतर गुणो का मांद्य हो जाता है जिसके कारण वे व्यक्तिगत संबधो से मुक्त होकर ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेते हैं जो ऐन्द्रिय विकारों से रहित होने के कारण उन्हें रस का भावन कराती है। वस्तुतः सहृदयो के भावित हृदय के स्थायिभाव की परिणति ही रस-रूप मे होती है जिसके कारण वे आनंदमय विश्रांति का अनुभव सा करने लगते हैं तथा उस अनुभूति में भोजकत्व शक्ति का भी सयोग रहता है जिसके द्वारा 'रस-भोग' की सिद्धि होती है।

रस की स्थिति निर्धारित करने में सर्वाधिक प्रामाणिक मत आचार्य अभिनवगुप्त का माना जाता है जिसके अनुसार तत्वतः रस आस्वाद्य न होकर आस्वाद-रूप है जिसे व्यावहारिक दृष्टि से भले ही आस्वाद्य कह दिया जाय। उन्होंने रस को 'रत्यादिविशिष्ट सोपाधिक आत्मानन्द' की संज्ञा प्रदान कर उसका स्थान सहृदय का चित् या आत्मा माना है। यद्यपि अभिनवगुप्त के मन में भरत मुनि के प्रति अपार आस्था है और वे मुनि-वचन को प्रमाण मान कर ही चले हैं तथापि उन्होंने उस विवेचन को जो तात्विक स्वरूप प्रदान किया है, वह निश्चय ही उनकी प्रतिभा का परिचायक है। यों तो उनका मत वेदान्त-दर्शन पर आधारित कहा जाता है, किन्तु गम्भीर दृष्टि से विवेचन करने पर उसका मूल आधार 'शैवाद्वैत' ही सिद्ध होता है जिसके अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' और संयोग का अर्थ 'व्यंग्यव्यंजक संबंध' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनवगुप्त ने जिस दार्शनिक प्रक्रिया द्वारा रस-मीमांसा की है उसे शांकर वेदान्त के साथ संयोजित कर पंडितराज जगन्नाथ ने उसे नवीन दीप्ति प्रदान करने का उपक्रम किया है जिसके अनुसार वे 'भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः' अर्थात् अज्ञानरूप आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य के विषयभूत रत्यादि स्थायी भाव को ही 'रस' न मान कर 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः' अर्थात् रति आदि स्थायी भाव से विशिष्ट आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही 'रस' की संज्ञा प्रदान करना सर्वतोभावेन समुचित समझते हैं। अभिप्राय यह है कि भारतीय काव्य-शास्त्र में रस का स्थान अथवा उसकी स्थिति का निर्धारण करने के अनेक सद्-प्रयत्न हुए हैं जिनकी भूमिका में भारतीय चिन्तन और ज्ञान की चिरंतन और अखण्ड परम्परा का सुविशाल और महान् इतिहास सुरक्षित है।

रस के अधिष्ठान का व्यावहारिक पक्ष

प्रश्न होता है कि रस अथवा काव्यानन्द के विषय तथा स्थान के विवेचन में भारतीय आचार्यों ने जो ऊहापोह किए हैं, उनका हमारे जीवन के व्यवहारिक पक्ष से क्या सम्बन्ध है? क्या रस का स्थान एकान्ततः विषयगत है अथवा विषयिगत? क्या कोई ऐसा स्थल भी है जहाँ इस प्रकार की मान्यताओं का समीकरण हो जाता है? रस अथवा काव्यानन्द का सिद्धान्त क्या भारतीय जीवन तथा दर्शन पर ही घटित है अथवा उसे विश्वजनीन सत्य के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है? उस सिद्धान्त में क्या ऐसे तत्वों का भी सन्निवेश है जो आधुनिक मनोविज्ञान के सुसमृद्ध ज्ञान की परम्परा में अधिष्ठित होकर हमें नवीन दृष्टि दे सकते हैं अथवा वे एकमात्र रूढ़िग्रस्त और देशकाल की सीमाओं में आबद्ध होकर ही काव्यानन्द की विवेचना करते हैं? इसी प्रकार के अनेक प्रश्न आधुनिक विचारक तथा साहित्यानुशीलक के सम्मुख उपस्थित होते हैं जिनका

विमर्श किए बिना रस-सिद्धान्त को सर्वथा सुग्राह्य स्वीकार करने में अनेक विद्वानों को आपत्ति है। इस सिद्धान्त को पूर्वाग्रहदंशित कर ऐसी अनेक समस्याओं को भी जन्म दिया गया है जो तात्विक दृष्टि से अपना कोई महत्वपूर्ण अस्तित्व नहीं रखती। उन समस्याओं के विवेचन तथा समाधान का विश्लेषण करना प्रस्तुत निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य विषय नहीं है। अतः यहाँ तो हम केवल इतना उल्लेख करना ही आवश्यक समझते हैं कि काव्यास्वादन की प्रक्रिया तत्वतः भारतीय रस-सिद्धान्त की भूमिका में ही समीक्षित होकर ही ऐसी तथ्योपलब्धि करा सकती है जिसके द्वारा देशकालावच्छिन्न साहित्य-साधना का सुखद आस्वाद निरूपित किया जा सके। यहाँ हम संक्षेप में उक्त सिद्धान्त की उपलब्धि का सारभूत उल्लेख करते हुए रस के अधिवास का प्रश्न व्यवहारिक दृष्टि से स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

कृति, कर्त्ता और भावक की संश्लिष्ट स्थिति

काव्यास्वाद की प्रक्रिया में काव्यकृति एवम् काव्य-सर्जक का महत्व विशेष है अथवा काव्यास्वादयिता का, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका यथेष्ट सम्बन्ध हमारे विवेच्य विषय से भी है। इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमारे सम्मुख तीन पक्ष आते हैं जिन्हें हम काव्यकार, काव्यकृति और काव्य-भावक के पक्ष कह सकते हैं। इन तीनों पक्षों का रहस्य समझे बिना काव्य-रस के आस्वादन और अधिष्ठान का विषय सुस्पष्ट किया ही नहीं जा सकता। काव्यकार अथवा काव्य का स्रष्टा एक ऐसा व्यक्ति है जो अपनी कृति के रूप में अपनी अनुभूति को स्वसंवेद्य बनाकर उपस्थित करता है जिससे काव्य का आस्वादयिता भी उसी की भूमिका में रसग्रहण करता है। काव्यकार और उसकी कृति के साथ-साथ काव्य के आस्वादयिता में कौन-कौन से गुण होने चाहिए उनका विवेचन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः काव्यास्वाद की विवेचना में उपर्युक्त तीनों पक्षों का सापेक्षिक महत्व है और एक ऐसा स्थल भी आता है जहाँ तीनों की तादात्म्यपरक भाव-समष्टि भी हो जाती है। काव्य की रसात्मकता तभी सार्थक है जब उसकी सर्जना में ऐसे भाव-रत्न प्रकाशित किए जायें जो शब्दार्थ के माध्यम से व्यंजित सौन्दर्य द्वारा काव्य-रसिकों को आत्मविभोर करने में समर्थ हों। 'रसे सारश्च चमत्कारः' 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' तथा 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के अतिरिक्त वक्रोक्ति, रीति, औचित्य, अलंकार तथा ध्वनि आदि को जिस रूप में काव्य का आत्मतत्व सिद्ध करने के प्रयत्न विविध दृष्टिकोणों से किये गए हैं, उनका मूल मन्तव्य यही है कि काव्यविधान में आनन्द-तत्व का सन्निवेश होता है जिसका स्रष्टा कवि का मानस-लोक है किन्तु वह रस जब तक प्रेषणीय नहीं बन पाता तब तक उसकी सार्थकता सफलीभूत नहीं

होती । वस्तुतः कवि और भावक के बीच तादात्म्य-सूत्र की अभिसंधि करने में काव्य-कृति ही माध्यम का काम करती है । कवि की 'स्वान्तः सुखाय' भावना किस प्रकार 'जनहिताय' बनकर लोककल्याण और लोकानन्द का प्रसार करती है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका महत्त्व किसी भी रूप में कम नहीं किया जा सकता । इस विषय में सभी देशों के साहित्यानुशीलकों और आचार्यों ने अपने-अपने मत अभिव्यक्त किए हैं । तुलसीदास जी के शब्दों में यदि रघुनाथ गाथा अथवा काव्यसर्जना एक ओर स्वान्तः सुखाय (कवि के आत्म-सुख के लिए) है तो दूसरी ओर वह सुरसरिसम 'सर्वजनहिताय' भी है क्योंकि ऐसा होने पर ही वह अपनी अभीष्ट प्रयोजन-सिद्धि कर सकती है । सच तो यह है कि काव्यादि साहित्यरूप रमणीय सौंदर्य की भाँति 'तन्मयीभवन' कराने वाले हैं तो काव्य-भावक उनमें तन्मय होने वाले चेतन प्राणी । इस प्रकार काव्य का आनन्द विषय-गत और विषयिगत पक्षों का समन्वय करता हुआ चलता है । बिहारी के शब्दों में 'रूप रिझावनहार वे, ये नैना रिझवार' की उक्ति काव्य-सर्जना और काव्या-स्वाद को एक दूसरे के पूरक रूप में उपस्थित करने का ही तो परामर्श है ।

कविगत संवित ही रसाधिष्ठान का आदि रूप है

रस के अधिष्ठान की विवेचना में कविगत साधारणीभूत संवित् का अत्यधिक महत्त्व है । यह संवित् सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त रहता है और परमार्थतः वही 'रस' संज्ञा का अधिकारी है । काव्य अथवा नाट्य में जिन चरित्रों की अवतारणा की जाती है, वे केवल कविगत संवित के कारण ही सहृदय सामाजिकों के सहृदय तक पहुँचने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं । ऐसे चरित्रों का निर्माण करते समय कवि या तो कल्पना का आधार लेता है या प्रख्यात इतिवृत्ति का । अपनी काव्य-सर्जना द्वारा वह इस बात का पूर्ण प्रयत्न करता है कि उसका अपना साधारणी-भूत प्रत्यय काव्यास्वादयिता सामाजिकों तक पहुँच सके । वस्तुतः कवि का प्रत्यय न तो उसका व्यक्तिगत मनोविकार है और न उसका निजी सुखदुःख ही । यह तो साधारणीकरण की भूमिका पर प्रतिष्ठित उसकी एक ऐसी अनुभूति है जो उसके लौकिक जीवन की दृष्टि तथा अनुभूति से भिन्न तथा लोकोत्तर श्रेणी की है जिन काव्यों में कवि-संवेदना की लोकोत्तर अभिव्यक्ति नहीं होती, वे काव्य न कहे जाकर 'काव्यानुकार' ही कहे जा सकते हैं जिन्हें प्राचीन विद्वानों ने 'आलेख्यप्रख्य' अथवा 'रसजीवनरहित प्रतिकृति' मात्र कहना अधिक उचित समझा है ।

कवि और रसिक का साधारणीभूत प्रत्यय एकजातीय है

कवि के जिस साधारणीभूत प्रत्यय का उल्लेख उपर्युक्त अनुच्छेद में किया गया है, उसका काव्य-रसिक की मनोभूमिका से भी अविच्छेद्य सम्बन्ध है ।

वस्तुत: कवि का साधारणीभूत प्रत्यय तथा रसिक के काव्य-पाठ अथवा काव्य-दर्शन से प्राप्त साधारणीभूत प्रत्यय एकजातीय हैं। दोनो के हृदयसंवाद अथवा वासनासंवाद में एक प्रकार के तादात्म्य के तत्व समाहित हैं। काव्यगत नायकादि के अभिचित्रण अथवा कवि की आत्माभिव्यक्ति को उस हृदय-संवाद के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुत: संवाद का अर्थ 'एकत्रदृष्टस्यअन्यत्र तथादर्शनंसंवाद:' है जिसके कारण का व्यक्तिचित्रित मूल पात्र, कवि तथा काव्य-रसिक के अनुभव की श्रेणी तथा उनका स्तर 'एक' हो जाता है। भट्टतौत ने इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए नायक, कवि और श्रोता के अनुभव को समानता प्रदान की है। कवि के साथ काव्यरसिक के हृदयसंवाद को दृष्टिगत करते हुए अभिनवगुप्त ने उचित ही कहा है कि 'कविसंवित् ही परमार्थत: रस है जिसकी प्रतीति काव्य-रसिक को होती है।

रस के अधिष्ठाता के लिए 'तन्मयीभवन' की योग्यता आवश्यक है

तन्मयीभवन की योग्यता काव्य-रसिक का एक आवश्यक गुण है। उस योग्यता की सम्पन्नता के लिए आस्वादयिता में तीन विषयों का होना आवश्यक है।—1 नाट्यगत अथवा काव्यगत अर्थों का सामान्यत्व से ग्रहण; 2—प्रतीति-विश्रान्ति और 3—अनुमानपटुता। नाट्य अथवा काव्यगत अर्थों का समन्वय से ग्रहण होने पर काव्यरसिक के सम्मुख व्यक्तिविशिष्ट सम्बन्धों की प्रतीति की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है जिससे रस-निष्पत्ति के मार्ग में विशिष्ट व्यवधान उपस्थित हो जाता है। काव्य अथवा नाट्य में कविद्वारा जो प्रतीति अभिव्यक्त की जाती है, उसमें रसिक-हृदय की विश्रांति अवश्यमेव होनी चाहिए। उस प्रतीति से किसी सिद्धि अथवा प्राप्ति का मान होने पर पूर्णतया रसास्वादन हो ही नहीं सकता। वस्तुत: काव्यनाट्यगत प्रतीति स्वयंपूर्ण होती है, अत उसका आस्वाद भी उसी भाव से लेना आवश्यक है। आचार्य आनन्दवर्धन ने उस बुद्धि को तत्वार्थदर्शिनी बुद्धि कहा है जिसमें सामान्यत्व से ग्रहण करने तथा काव्य-प्रतीति में विश्रान्त होने के दो विशेष धर्म रहते हैं। तन्मयीभवन के लिए तीसरी आवश्यक बात 'अनुमानपटुता' है जिससे काव्य-रसिक को झटिति प्रत्यय' अर्थात् 'तत्काल प्रतीति' हो जाती है। यों तो 'अनुमानपटुता' की प्राप्ति का क्रम वही है जो लौकिक अनुभवों से सम्बद्ध कार्यकारण-भाव आदि का होता है किन्तु काव्यास्वादन की वेला में वह अनुमानपटुता 'झटिति प्रत्यय के कारण रसिक में 'रसावेश' ले आती है जिससे काव्यानन्द की तत्काल प्रतीति हो जाती है। काव्य-वर्णित वृत्तियों का संगुम्फन जब विभानुभावों द्वारा तात्कालिक प्रतीति के रूप में होता है तथा उसके लिए हमारी बुद्धि को व्यग्र नहीं होना पड़ता तभी वास्तविक 'रस-प्रत्यय' हो पाता है। काव्य के रसास्वादन के मार्ग में उपस्थित होने वाले

अनेक रस-विघ्न भी होते हैं जिनका विवेचन एवं स्वतन्त्र निबन्ध में किया गया है। यहाँ पर तो हम केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि 'झटिति प्रत्यय' अथवा 'तात्कालिक अनुमानपटुता' के अभाव में काव्योत्पन्न रसिकता की ठीक वही दशा हो जाती है जो किसी जीर्ण शीर्ण अथवा टूटे फूटे बर्तन में रस की होती है। वस्तुतः रसास्वादन के समय भी अनुमान का एक क्रम रहता है, किन्तु उसकी प्रतीति ऐसे अविलम्ब भाव से होती है कि हम उसके क्रम का पता ही नहीं चलता। आचार्यों ने उस क्रम को 'फलानुमेय प्रारम्भ' के समान आस्वाद्यानुमेय कहा है और आचार्य आनन्दवर्धन ने तो इसी विषय के स्पष्टीकरण के लिए 'रसास्वाद' को 'असंलक्ष्यक्रमध्वनि' की संज्ञा दी है। उन्होंने रस के प्रत्यय का वर्णन निम्नलिखित कारिका में किया है जो अत्यन्त सारविद् और गूढ़ गम्भीर है —

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥

5

रसों की सुखदुःखरूपता

तत्त्वतः रस को आनन्द-रूप कहा गया है, किन्तु उसके व्यवहारगत विभेदों को दृष्टिगत रखते हुए विद्वानों ने उसकी सुखदुःखरूपता का भी निरूपण किया है। इस प्रकार की विचारणा के मूल में आत्मा और मन का संघर्ष विद्यमान है। यदि रस को आत्मप्रकाशन का ही रूप माना जाय तब तो वह अपनी चिदानंदमय स्थिति में आनन्दरूप ही है, किन्तु यदि उसे मानस-संवेदना से उद्भूत मनोविकार की उदात्त परिणति समझा जाय तो उसका स्वरूप सुख दुःख के उभयविध पुलिनों का संस्पर्श करता हुआ चलता है। इस विषय की गहनता और व्यापकता में न जाकर हम भारतीय काव्यशास्त्रियों की प्रमुख मान्यताओं के अनुरूप ही इसका विश्लेषण करेंगे।

रसों की सुखदुःखरूपता

आचार्यों ने नाट्य रसों की विवेचना के प्रसंग में उनकी सुखदुःखरूपता का जो विमर्श किया है वह काव्य-रसों पर भी सघटित हो जाता है। उन रसों में रति, हास, उत्साह तथा विस्मय नामक स्थायिभावों से क्रमशः निष्पन्न शृंगार, हास्य, वीर और अद्भुत रस मुख्यतः सुखरूप माने गए हैं, किन्तु उनके साथ दुःख का सम्बन्ध भी रहना अवश्य है। उनको सुखात्मक तो इसलिए कहा जाता है कि उनमें चिरकाल पर्यंन्त बने रहने वाले सुख की कामना और विषय-भोग की प्रमुखता होने से उनके लिए उत्कट अभिलाषा होती है और उनकी दुःखात्मकता का आधार यह है कि उनके विनष्ट होने के भय से रत्यादि के साथ दुःख का अंशतः सम्पर्क हो जाता है। यह कथन जहाँ शृंगार रस के सुख-दुःखमय उभयात्मक रूप का प्रमाण है, वहाँ आचार्यों ने हास्य रस को भी उभयात्मक माना है क्योंकि सुखात्मक हास में भी उसकी समाप्ति हो जाने पर सुख के साथ विद्युत-कांति सदृश दुःख का भी क्षणिक सम्बन्ध होता है। उत्साहप्रभूत वीर रस में दुःखमिश्रित सुखरूपता इसलिए मानी गई है कि उसमें तात्कालिक दुःख तथा श्रम उठाकर बहुत से लोगों का उपकार करते हुए चिरकाल पर्यंन्त सुख-प्राप्ति की कामना बनी रहती है। विस्मय नामक स्थायिभाव से निष्पन्न अद्भुत में निरनुसंधान अर्थात् बिना विचार के आपाततः तड़ित्तुल्य क्षणिक दुःखानुविद्ध सुखरूपता का आभास मिलता है। अभिप्राय यह है कि संसार के सुख-दुःख

समन्वित स्वभाव की भाँति पूर्वोक्त चारों रस प्रधानतः सुखात्मक होने पर भी व्यवहारतः उभयात्मक होते हैं।

आनन्दवादी और उपचयवादी आचार्यों के अभिमत

आनन्दवादी आचार्यों ने रस को आनन्दघन संवेदना का ही आस्वाद कहकर उसे निर्विघ्न संविद्‌विश्रांति की अवस्था अथवा चर्वणा कहा है तो उपचयवादी आचार्यों ने उसे सुखदुःखात्मक रूप माना है। एक ही दृष्टि में रस 'स्थायि-विलक्षण' है तो दूसरे के मतानुसार वह 'स्थायी' मात्र है। आनन्दवादी आचार्यों की परम्परा में ध्वनिकार आनन्दवर्धन भट्टतौत भट्टनायक, अभिनव गुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, प्रभाकर मधुसूदन सरस्वती और पण्डितराज जगन्नाथ आदि आते हैं तो उपचयवादी अथवा परिपोषवादी आचार्यों की परम्परा में दण्डी, वामन, लोल्लट शंकुक, भोज तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र की गणना की जाती है। सांख्यवादी आचार्यों को भी रस के सुख दुःखवाद की परम्परा स्वीकार है। केवल आनन्दवादी आचार्यों को यदि रस की ध्वन्यात्मकता में आस्था है तो सुखदुःखवादी आचार्यों को ध्वनितत्व स्वीकार नहीं है। यों तो आचार्य भट्टनायक आपाततः भोगवादी हैं, किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित भावकत्व और भोजकत्व सतत व्यापार तत्वतः व्यंजना-व्यापार के ही रूप हैं जिनका विवेचन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने उन्हें ध्वनिवादियों के शिविर प्रतिष्ठित किया है। तत्वदृष्टि से तो हमें आनन्दवादियों का अभिमत ही विशेष सुग्राह्य प्रतीत है, किन्तु सुखदुःखवादियों के तर्क भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनमें आधुनिक मनोविश्लेषणवेत्ताओं को भी प्रचुर ज्ञान-सामग्री उपलब्ध हुई है।

उपचयवादी आचार्यों का मतव्य

उपचयवादी आचार्यों ने उस स्थायी भाव को रस माना है जो विभाव तथा व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर स्पष्ट अनुभावों द्वारा साक्षात्कारित्व में निर्णीत होता है। यह रस सुखदुःखात्मक है।[1] इष्ट विभावादि द्वारा उपनीत होने वाले शृंगार हास्य, वीर, अद्भुत तथा शांत रस सुखकर हैं, किन्तु अनिष्ट विभावादि द्वारा आनीत करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक रस दुःखरूप। इन आचार्यों का मत है कि लौकिक अवस्था में विद्यमान रहने वाला सुखदुःखात्मक भाव जब उसी रूप में परिपुष्ट होता है तो अपनी परिपुष्ट अवस्था में रसनीय बन जाता है। उपचयवादी आचार्यों की परम्परा में रामचन्द्र-गुणचन्द्र को विशेष

---

1. स्थायी भावः श्रितोत्कर्षः विभावव्यभिचारिभिः।
   स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः॥

गौरव प्राप्त है, यद्यपि उनसे प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व आचार्य भोज रस की सुख-दुःखात्मकरूपता का प्रतिपादन कर चुके थे। अभिनवगुप्त ने सांख्यवादियों के एक विशेष मत का उल्लेख करते हुए उन्हें भी सुखदुःखात्मवादी माना है। क्योंकि ये भी रस-विवेचना में 'परिपोष भाव' को ही स्वीकार करते चले हैं। आचार्य वामन ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में एक श्लोक उद्धृत करते हुए बतलाया है कि करुणनाट्यों में रसिकजन सुख दुःखों के सम्प्लव का ही अनुभव करते हैं।[1] लोल्लट का परिपोषवाद जिस रूप में 'करुणादौ प्रस्तुत दुःखप्राप्ति' का प्रतिपादन करता है, वह अनेक स्थलों पर अभिनवगुप्त द्वारा खंडित किया गया है। अनुकरणवादियों के मत में भी रस की सुखात्मक और दुःखात्मक स्थिति की स्वीकृति के संकेत मिलते हैं। वस्तुतः सुखदुःखवादियों की परम्परा में 'स्थायी' को व्यक्तिसंबद्ध माना गया है और उस व्यक्ति-संबद्धता के परिपोष रूप को ही 'रस' कहना उन्हें समीचीन प्रतीत हुआ है। उनका मत है कि रस-निष्पत्ति में निरूपित विभाव आदि उपकरण स्थायिभाव के परिपोष के 'कारण' अथवा आदि—उपकरण हैं जिनकी उपपत्ति में स्थायी का लौकिक स्तर भी बना रहता है। वस्तुतः लौकिक स्थायी का स्वरूपतः परिपोषण ही 'रस' है, अतः अपनी लौकिक सत्ता के कारण यह सुखदुःखात्मक स्वरूप माना जाता है। करुणादि भावों में आनन्दोपलब्धि होने का कारण निरूपित करते हुए उन्होंने लिखा है कि नाट्यभावों का स्वभाव अथवा नट का अभिनिवेश किंवा अनुकृति-कौशल ही आनन्द का कारण है जिसे नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कवि अथवा नट-गत शक्ति का चमत्कार कहा है। ये उपचयवादी आचार्य रस-निष्पत्ति की विवेचना में एक विशेष क्रम को भी स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि स्थायी से लेकर रसत्व की प्राप्ति का क्रम इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है कि विभावों द्वारा 'उत्पन्न' अनुभावों के कारण 'प्रतीति योग्य' तथा व्यभिचारी भावों के कारण 'उपचित' होने वाला स्थायी भाव ही अन्तिम क्षण में रसत्व प्राप्त करता है। अपनी उपचित अवस्था में रस की संज्ञा धारण करने वाला स्थायी अपनी अनुपचित अवस्था में 'भाव' मात्र है और यदि उसका उपचय आवश्यक मात्रा में नहीं होता तो उसमें मंदतरता अथवा मंदतमता भी आ जाती है। अभिप्राय यह है कि उपचयवादियों की उपपत्ति के अनुसार रस को 'गमन-क्रिया के समान' पर्यन्त में आने वाली स्थायीभाव की उपचित अवस्था कहा जा सकता है जिसमें न तो 'झटिति-प्रत्यय' के ही अवसर रहते हैं और न 'अखण्डसंविद्विश्रान्ति' की ही सम्भावना है। अपनी

---

1. करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः।
कथानुभवतः सिद्धः तथैवोजःप्रसादयोः॥

पात्रगत, नटगत तथा रसिकगत लौकिक भूमिका पर अधिष्ठित रस की सुख-दुःखरूप उभयविधता की सिद्धि इसी आधार पर की जा सकती है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का विभज्यवादी दृष्टिकोण

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विभज्यवादी दृष्टि से कुछ रसों को केवल सुखात्मक माना है और कुछ रसों को केवल दुःखात्मक। उन्होंने 'नाट्यदर्पण' के तृतीय विवेक की १०६ वी कारिका की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "इष्ट विभावादि से उत्पन्न होने के कारण शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत नामक पाँच रस नितान्त सुखरूप हैं तथा अनिष्ट विभावादि से उत्पन्न होने के कारण करुण रौद्र, बीभत्स और भयानक नामक चार रस नितान्त दुःखात्मस्वरूप।" उन्होंने अपनी विवेचना के अन्तर्गत उन विचारकों के अभिमत का खंडन किया है जो सभी रसों को नितांत सुखस्वरूप मानते हैं। इस विषय में उनका कथन उद्धृत करना अनुचित न होगा—

'यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिबाधितम्। आस्तां नाम मुख्यविभावोपचितः, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवतां अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते।"

'अर्थात् जो लोग सब रसों को नितान्त सुखात्मक मानते हैं, उनका मत प्रतीति से बाधित हो जाता है। सिंह, व्याघ्र आदि मुख्य विभावों से उत्पन्न भयानक आदि रस तो निश्चित रूप से क्लेशप्रद और दुःखात्मक होते ही हैं, किन्तु काव्य के अभिनय से उपनीत विभावों से उपचित भयानक, बीभत्स, करुण या रौद्र रस भी उनके आस्वादयिताओं में किसी अनिर्वचनीय क्लेश-दशा को उत्पन्न कर देते हैं। यही कारण है कि, भयानक आदि रसों से प्रेक्षक समाज उद्विग्न हो जाता है। यदि भयानक आदि रस सुखात्मक होते तो उनसे उद्वेग उत्पन्न नहीं होता क्योंकि सुख के आस्वादन से उद्वेग हो ही नहीं सकता। वस्तुतः भयानक आदि रस दुःखात्मक ही होते हैं।'

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भयानक आदि दुःखात्मक रसों का विवेचन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है और वह यह है कि इन रसों के आस्वादन में एक प्रकार का चमत्कार प्रतीत होता है जिसका कारण कवि और नट का कौशलमात्र है। अपनी मान्यता को तर्कसम्मत बनाने के लिए उनका कथन इस प्रकार है—

'यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वांगाह्लादकेन कविनटशक्ति-

जन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धा परमानंदरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते । एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते । कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूपेण रामादिचरितं निबध्नन्त सुखदुःखात्मकरसानुबिद्ध-मेव ग्रथनति । पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदंते, इति ।

अर्थात् भयानक आदि दुःखात्मक रसो मे भी चमत्कार का जो अनुभव होता है, वह रसास्वाद के समाप्त होने पर वास्तविक वस्तु के स्वरूप को प्रदर्शित करने वाले कवि तथा नट के शक्ति-कौशल के कारण प्रतीत होता है। (इसका अभिप्राय यह है कि कवि के वर्णन कौशल अथवा नट के अभिनय कौशल मे एक ऐसी शक्ति होती है जो विशिष्ट समय पर्यन्त भावक अथवा प्रेक्षक के मन मे चमत्कार का अनुभव कराती है) यह विषय वैसा ही है जैसे किसी का सिर काट डालने वाले शत्रु के प्रहार-कौशल को देख कर वीरों को भी विस्मय होता है। भयानक आदि रसो के विभाव और अनुभाव आदि के दर्शन से भी विस्मय आदि भाव उत्पन्न हो सकते है। सब अंगो को आह्लादित करने वाले तथा कवि और नट की शक्ति से उत्पन्न चमत्कार द्वारा प्रवंचित होकर सहृदयजन करुण आदि दुःखात्मक रसो को भी सुखात्मक मानने लगते हैं। कवियों का कार्य सुखदुःखात्मक ससार के अनुरूप राम आदि के चरित को सुख-दुःखात्मक रूप से रसानुबिद्ध करना होता है। जिस प्रकार पानकरस के माधुर्य मे मिर्च आदि का तीक्ष्णरसास्वाद एक प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार दुःखात्मक करुण आदि रसो मे भी आनन्द का सा अनुभव होता है। वस्तुतः वे रस सुखरूप नही है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपनी मान्यता को उद्धृत करते हुए लिखा है कि शोकादि भाव सुखरूप हो ही नही सकते। उनका कथन है कि सीता का हरण, द्रौपदी का कचाम्बराकर्षण, हरिश्चन्द्र का चाण्डालदास्य, रोहिताश्व का मरण, लक्ष्मण का शक्ति-भेदन और मालती का व्यापादन आदि कार्य सहृदयो को किस प्रकार सुखास्वाद करा सकते हैं? वस्तुतः अनुकार्यगत करुणादिभाव दुःखात्मक ही थे, अतः यदि उन्हे अभिनय मे सुखात्मक माना जाय तो वह अभिनय यथार्थ अभिनय कहा ही नही जा सकता। ऐसी स्थिति मे नाट्यदर्पण-कार का कथन है कि करुणदि रसो को सुखात्मक मानना किसी भी रूप मे समुचित नही है। वे लिखते हैं.—

"अपि च सीताया हरणं, द्रौपद्याः कचाम्बराकर्षणं, हरिश्चन्द्रस्य चाण्डाल-दास्यं, रोहिताश्वस्य मरणं, लक्ष्मणस्य शक्तिभेदनं, मालत्या व्यापादनारम्भण-

---

1. नाट्यदर्पणः रामचन्द्र-गुणचन्द्र (बड़ोदा संस्करण) पृष्ठ 159

भित्याद्यभिनीयमान पश्यता सहृदयाना को नाम सुखास्वाद । तथानुकार्यंगताश्च-करुणादय परिदेवितानुकारित्वात् तावद् दुःखात्मका एव । यदि चानुकरणे सुखात्मान स्यु न सम्यगनुकरण स्यात् विपरीत्येन भासनादिति ।

रस के सुखदुःखमयरूप का रहस्य

रस की सुखदुःखरूपता के विवेचन मे जिन आचार्यों ने रस को जिस रूप मे केवल सुखमय माना है वह व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा सत्य नही कहा जा सकता क्योकि वास्तविक शकुंतला की रति वास्तविक दुष्यत मे सुखजनक होती है जो अपने कल्पित रूप म सहृदयो मे भी सुख उत्पन्न कर सकती है, किन्तु वास्तविक शोक, भय, क्रोध, और जुगुप्सा आदि भाव तो ससार मे दुःखजनक रूप मे ही प्रसिद्ध हैं । वे कल्पित होकर भी सहृदयो म किस प्रकार सुख उत्पन्न कर सकते हैं ? जब वे सुखोत्पादन ही नही कर सकते तो उन्हे किस प्रकार रस-रूप माना जाय यह भी एक समस्या ही है । इस कथन का उत्तर यदि इस रूप मे दिया जाय कि वास्तविक शोक भले ही दुःखमय हो, किन्तु कल्पित शोक सुखमय होता है क्योंकि उसका सम्बन्ध सहृदयजनो के मानस से है तो भी उचित नही है क्योकि व्यावहारिक उदाहरण से प्रकट है कि जिस प्रकार हम सर्प से भयभीत होते हैं उसी प्रकार रस्सी मे भ्रमवश कल्पित सर्प से भी भयकपित हो सकते हैं । जब हम वास्तविक रति की भाँति कल्पित रति से भी सुख की उत्पत्ति मानते हैं तो हम वास्तविक शोक की भाँति कल्पित शोक से भी दुःख की उत्पत्ति माननी चाहिए । ऐसा न मानने पर उक्त सिद्धान्त मे विरोध उपस्थित हो जाता है ।

रस की सुखदुःखरूपता का जो पूर्वपक्ष उल्लिखित किया गया, वह सुखवादी आचार्यों को मान्य नही है । उन्होंने शोकजन्य करुण रस से भी सुख की उत्पत्ति सिद्ध करने के सशक्त प्रमाण के रूप म सहृदयो का 'हृदयसवाद' उपस्थित किया है जिसके कारण वे करुणरसप्रधान काव्यो का आस्वादन कर सुख की ही प्राप्ति करते हैं । उनका मत है कि जिस प्रकार शृंगाररसप्रधान 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' आदि काव्यों से सहृदय जनो को सुखानुभूति होती है, उसी प्रकार करुणरसप्रधान 'उत्तररामचरित' आदि काव्यो मे भी, यह एक अनुभवसिद्ध विषय है । आचार्यों का कथन है कि कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर ली जाती है । अत लोकोत्तर दोष भावना से भी आनन्दजनकता की भाँति दुःख प्रतिबंधकता की भी कल्पना कर लेनी चाहिए । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दोष-भावना का आनन्दोत्पत्ति की जननी कहा जाता है, उसी प्रकार उसे दुःख का प्रतिबन्ध-हेतु भी कहा जा सकता है । कहने की आवश्यकता नही कि जिस प्रकार रतिक्रीडा अथवा सभोग-क्रिया मे दतक्षत आदि व्यापार सुख-जनक तथा दुःख-प्रतिबन्धक

माने जाते हैं, उसी प्रकार शृंगार तथा करुणरसप्रधान काव्य भी समान रूप से आह्लादकारी और दुःख प्रतिबन्धक होते हैं। यदि करुणरसप्रधान काव्यों से सुख और दुःख की उभयविध-प्राप्ति सहृदयसम्मत मानी जाय तो 'दोष-भावना मे दुःखप्रतिबन्धकता की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नही रहती क्योंकि अपने-अपने कारणवश दोनो की उत्पत्ति स्वतः सम्भव है। करुणरसप्रधान काव्यों से दुःखोत्पत्ति मानने के विषय मे एक कठिनाई यह भी है कि यदि काव्य-सर्जन और काव्यास्वादन दुःखरूप हो तो न तो कवियों की काव्य-रचना-विषयक प्रवृत्ति ही हो सकती है और न सहृदयों के मन में काव्य-रचना के पठन-पाठन अथवा श्रवण-दर्शन की भावना का ही उदय हो सकता है। यदि करुणरस से दुःखप्राप्ति मानने के विषय मे किसी का बहुत अधिक आग्रह ही हो तो अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उसमें सुख की समता में दुःख की मात्रा अत्यल्प होती है। इसका स्पष्टीकरण इस उदाहरण द्वारा किया जा सकता है कि जैसे चन्दनादि के घर्षण मे अंशतः दुःख के रहने पर भी उसके सौरभ और शैत्य का अनुभवजन्य सुख अपेक्षाकृत अधिक होता है जिसके कारण लोगो की उस क्रिया में प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार करुण-काव्यों में भी दुःख का अंश विरल और सुख का अंश बहुत मात्रा में होता है जिसके कारण सहृदयों की उस ओर प्रवृत्ति होना सहज है। हाँ, जो विद्वान भावना-दोष को दुःख-प्रतिबन्धक मान कर करुणरसप्रधान काव्यों मे भी एकमात्र सुख की ही उपलब्धि मानते है, उनकी मान्यता के विषय मे तो किसी को कोई शंका हो ही नही सकती।

करुणरसप्रधान काव्यो से एकमात्र सुख की उत्पत्ति न मानने वाले विद्वानो के अपने स्वतन्त्र तर्क हैं। उनका कथन है कि करुण-काव्यों के आस्वादन से जो अश्रुपात आदि होते हैं, उन्हे किसी भी प्रकार सुखजनक नही माना जा सकता क्योंकि अश्रुओं का प्रवाह दुःख का सूचक है। विद्वानो की इस धारणा मे किंचित् मात्र भी बल नही है, क्योंकि यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि केवल दुःख से ही अश्रुपात नही होता, अपितु अनेक बार सुखावस्था मे भी अश्रुपात होने लगता है। करुण रस की अनुभूति करते समय सहृदय जनो के जो अश्रु-पात होते हैं, वे दुःख के अभिव्यंजक न होकर उनके विलक्षण आनन्दातिरेक के ही प्रतीक हैं। प्रायः यह देखा है कि भगवत्कथा के श्रवण-काल में भगवद्भक्तो की आँखो से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है जिसे किसी भी रूप मे दुःख का प्रतिफलन नहीं कहा जा सकता। इस विषय मे आचार्यों ने उचित ही कहा है कि 'संसार मे दुःखजनक रूप से प्रसिद्ध पदार्थ काव्य मे समुपनिबद्ध होकर व्यंजना-व्यापार की महिमा से अलौकिकीभूत बनकर अलौकिक सुख की उत्पत्ति करते हैं।' लोक के अन्य व्यापारजन्य अनुभवो मे अचमत्कारवश वह कमनीयता नहीं होती जो काव्यव्यापरजन्य आस्वादरूप के अनुभव मे होती है,

तभी तो उसे अलौकिक चमत्कारपूर्ण और 'विलक्षण-व्यापार' कहा गया है। तत्वतः उस व्यंजना व्यापार में दोष-भावना का ही प्रामुख्य रहता है जिससे समुद्भूत रति आदि का आस्वादन कर हम आनन्द प्राप्त करते हैं। दोषात्मक भावना के कारण सहृदय जनों में दुष्यंत आदि की अभेद बुद्धि उत्पन्न होती है जिससे अगम्यत्वज्ञान रोक दिया जाता है अर्थात् वे स्वयं दुष्यन्त बनकर शकुन्तला को स्वसंभोग-योग्य समझने लगते हैं।

रसास्वाद की आनन्दरूपता से उद्भूत प्रश्न

काव्य-रस के आस्वाद को अनिवार्यतः आनन्दरूप मानने पर कुछ ऐसे सहज प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं जिनका समाधान किए बिना उसकी आस्वाद्यता सन्देहास्पद बन जाती है। ऐसे प्रश्नों में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि काव्य के व्यापक क्षेत्र में जब सुखात्मक और दुःखात्मक भावों की सादृश्य-मूला स्थिति है तो दुःखात्मकभावजन्य काव्य-रचना उसी प्रकार हमारा मनःप्रसादन किस प्रकार कर सकती है जिस प्रकार सुखात्मकभावोद्भूत काव्य-कृतियाँ करने में समर्थ होती हैं। काव्यानुसेवन से स्पष्ट है कि करुणादि रसों का आस्वाद भी सहृदय भावकों के चित्तानुरंजन का आह्लादप्रद विषय रहा है। वस्तुतः काव्यशास्त्रीय विवेचना का यह एक अत्यन्त मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसका विश्लेषण भारतीय तथा पाश्चात्य पद्धति के विद्वानों ने विविध दृष्टियों से किया है। इस प्रश्न की विवेचना द्वारा ऐसी अनेक वैचारिक गुत्थियाँ भी सुलझाई जा सकती हैं जो काव्य समीक्षा के प्रशस्त पथ पर कालानुक्रम से अवरोध उत्पन्न करती हैं।

करुण रस की आस्वाद्यता : विश्वनाथ के विचार

करुण रस की आस्वाद्यता का प्रश्न हमारे इस विवेच्य विषय से मुख्य रूप से सम्बन्धित है। उनके अनुसार यह कहा जा सकता है कि जब रस आनन्दरूप है तो फिर शोक आदि स्थायिभावों से निष्पन्न करुण आदि रस किस प्रकार अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान कर सकते हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि सहृदय सामाजिकों को करुणादि रसों में जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसका प्रमाण उनकी संवेदनात्मक अनुभूति ही है।[1] महर्षि वाल्मीकि का शोकत्व जिस प्रक्रिया से श्लोकत्व को प्राप्त हुआ, उसका विश्लेषण करने से भी यही व्यक्त होता है कि करुण रस की अभिव्यक्ति दुःखात्मक न होकर सुखात्मक ही है। भवभूति ने भी जिस प्रसंग में करुण को ही एकमात्र रस कहा है, उसमें भी उसका वैलक्षण्य प्रकट होता है। करुणादि रसों की आनन्द-

1. साहित्यदर्पण: 3/4

रूपता का दूसरा प्रमाण यह है कि यदि वे सुखात्मक न होते तो कोई भी व्यक्ति उनके आस्वादन के लिए लालायित नहीं रहता। यह एक बड़ी विचित्र बात है कि जो भाव लौकिक रूप से हमारे लिए शोकजनक अथवा उद्वेगकारी प्रतीत होते हैं, वे ही काव्यगत अभिव्यंजना प्राप्त करते ही सौहार्दजन्य 'हृदयसवाद' के कारण प्रीतिप्रद बन जाते हैं। इस विषय में आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त ने उचित ही कहा है कि लौकिक शोक जब काव्य-चर्वणा के विषय होते हैं, तो उनमें एक ऐसा तन्मयीभाव आ जाता है जिसकी आस्वाद्यता अलौकिक आनन्द की उपलब्धि कराती है। करुणा को दुःखजनक मानने पर तो रामायण आदि करुणप्रधान काव्यों को भी उद्वेगकर मानना पड़ेगा जबकि वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत है। वस्तुतः रामायण आदि महाकाव्यों का करुणभाव अपनी चमत्कृति में आनन्ददायक ही है और उसके श्रवण अथवा पठन-पाठन से जो अश्रुप्रवाह होता है, वह अपनी संवेदना में सुखात्मक ही कहा जायगा। लौकिक रीति से शोक को भले ही दुःख का उत्पादक माना जाय, किन्तु जब वह काव्य और नाट्य में व्यंजित होता है तो उससे निष्पन्न करुण रस की स्थिति आनन्द की चमत्कृति से उत्पन्न हो जाती है। सच तो यह है कि जिस प्रकार लोक और काव्य-नाट्य परस्पर विलक्षण हैं, उसी प्रकार लौकिक शोक-हर्ष तथा काव्यगत शोक हर्ष भी परस्पर भिन्नता रखते हैं। काव्य और नाट्य के क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही रामवनगमन तथा शैव्या-विलाप आदि घटनाएँ लौकिक दुःखों का क्षेत्र छोड़कर विभावन-व्यापार द्वारा हृदयग्राह्य बन जाती हैं जिनके द्वारा सहृदय सामाजिक अपनी शोकवासना का अलौकिकआस्वादन करने लगते हैं। आचार्यों ने लौकिक शोक की काव्यगत अलौकिक सुख-परिणति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार रतिप्रसंग में दंतक्षत तथा नखक्षत कामाभिभूत रमणियों के लिए दुःख के हेतु न होकर सुख के ही जनक होते हैं, उसी प्रकार काव्य और नाट्य की विभावरूप दुःखद घटनाएँ एकमात्र आनन्द की ही सृष्टि करती हैं। काव्य-कला में एक ऐसी विलक्षण शक्ति है जिसके द्वारा लौकिक शोकानुभूति परमानन्द-सन्दोहरूप रसमयता में परिणत हो जाती है। सच तो यह है कि रस की अनिर्वचनीयता के लिए करुणरस जितना अधिक उपयुक्त है उतना शृंगार रस भी नहीं है। काव्य अथवा नाट्य में उपस्थापित करुण-चरित का श्रवण अथवा प्रेक्षण सहृदयों की चित्तवृत्ति विगलित कर देता है जिसके कारण उनका अश्रुपात हृदय के मधुर भार को हल्का करता हुआ आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि शोकादि भावों की काव्यगत परिणति का आनन्दपूर्ण आस्वाद केवल वे ही सहृदय प्राप्त कर सकते हैं जिनके अंतःकरण में रत्यादिरूप वासना के संस्कार जन्म-जन्मान्तर से संचित हों तथा जिनमें रस-चर्वणा की योग्यता के अनुकूल लक्षणों का संघटन

भी उपस्थित रहे। इस विषय में आचार्य धर्मदत्त ने उचित ही कहा है कि जिन सामाजिकों के हृदय में रत्यादि वासनाओं का अखंड कोष संचित है, वे ही काव्य का रसास्वादन कर सकते हैं किन्तु जिनमें उक्त वासनाओं का अभाव है, उनकी स्थिति रंगशाला के स्तम्भ, दीवार और पत्थरों के समान है।[1] इस विषय में महाकवि कालिदास का कथन है कि रम्य दृश्यों का अवलोकन तथा मधुर ध्वनि का श्रवण करने से हमारे चित्त में विशेष प्रकार की जो उत्सुकता उद्भूत हो जाती है, उसके मूल में विलीन किसी प्रकार की जो प्राक्तनी वासना के संस्कार अवश्य ही विद्यमान रहते हैं।[2] यदि ऐसा न हो तो वैयाकरण और मीमांसक जैसे शुष्क-हृदय व्यक्ति भी उसी प्रकार काव्य का रसास्वादन करने लगें, जिस प्रकार रत्यादि वासनासम्पन्न सहृदय जन किया करते हैं।

धनञ्जय और धनिक का दृष्टिकोण

धनञ्जय और धनिक ने भी काव्योद्भूत आस्वाद की प्रक्रिया और उसके प्रकारों का विवेचन किया है। उनके मतानुसार काव्य का आस्वाद काव्यार्थ के सम्भेद से आत्मानन्द के रूप में उत्पन्न होता है और मन की चार अवस्थाओं (विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप) के अनुसार उसके चार भेद हैं जो क्रमशः शृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र नाम से संज्ञित किये जाते हैं। इन चारों भेदों से क्रमशः हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण रसों की उत्पत्ति होती है। धनिक के शब्दों में 'आस्वाद एक प्रकार से प्रकृष्टतर स्वानन्दोद्भूति-रूप है जो विभावादि से संसृष्ट स्थाय्यात्मक काव्यार्थ के भावक के चित्त की अन्योन्य संवलित स्व-स्व-विभाव की समाप्ति होने पर उत्पन्न होता है।' सम्भेद की दृष्टि से रसों की संख्या आठ है और इसी के द्वारा उनका स्पष्टीकरण तथा भेद निश्चय किया जाता है। उक्त आचार्य द्वय ने शृंगार, वीर और हास्य की विनोदात्मक प्रवृत्ति में काव्यार्थ के सम्भेद से आनन्दोद्भूति मानी है, किन्तु साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया है कि करुणादि रसों में भी सहृदय के चित्त में आनन्द का ही उदय होता है। उन्होंने काव्यगत करुण रस को लौकिक करुण से भिन्न माना है क्योंकि उसमें रसिकजनों की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यदि काव्यगत करुण लौकिक

---

1. सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
   निर्वासनास्तु रंगान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥
2. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
   पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
   तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं,
   भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

करुण के समान दुःखात्मक हो तो उसमें कोई भी प्रवृत्त होना नहीं चाहेगा और उस स्थिति में रामायण आदि महाग्रंथों का उच्छेदन ही हो जाएगा। करुणात्मक काव्यों के पठन-पाठन अथवा श्रवण-दर्शन से रसिकजनों के मन में दुःख अथवा अश्रुपातादि का जो आविर्भाव होता है, वह केवल वृत्तवर्णन के श्रवण से उद्भूत है। लौकिक वैकल्य-दर्शन के समान वे प्रेक्षकों में भी उत्पन्न होता है, किंतु उनमें कोई आनंद विरोधी तत्व नहीं समझना चाहिए। अन्य रसों की भाँति करुण रस भी आनंदात्मक ही है—यही उनके कथन का मूल मंतव्य है।[1]

अभिनवगुप्त का अभिमत

अभिनवगुप्त का मत है कि सभी रस 'स्वसंवित् चर्वणारूप ज्ञान के आनंदमय होने से सुख प्रधान होते हैं।' लौकिक जीवन में जिस शोक को दुःखजनक कहा जाता है, वही शोक हृदय की निर्विघ्न विश्रांति का रूप बनकर अपनी आस्वाद-प्रक्रिया द्वारा सुकुमार रमणियों के हृदय में भी आनंद की उपलब्धि करा सकता है। वस्तुतः हृदय की अविश्रांति का नाम ही दुःख है, तभी तो सांख्यदर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल तथा उनके अनुयायियों ने दुःख को रजोगुण की वृत्ति कहकर चंचलता अथवा अविश्रांति को ही दुःख का प्राण माना है। विचारणीय विषय यह है कि जब करुण रस में भी हृदय की विश्रांति होने के कारण उसका उपभोग सुखजनक होता है तो फिर अन्य रसों की आनंदरूपता में तो संदेह किया ही नहीं जा सकता। अभिनवगुप्त का कहना है कि यों तो सभी काव्यरस आनंदमूलक हैं, किन्तु उपरंजक विषयों के कारण उनमें भी दुःख का संस्पर्श रह सकता है। जिस प्रकार वीर रस क्लेश और सहिष्णुता प्रधान होता है, उसी प्रकार रति आदि से निष्पन्न शृंगार आदि रसों में भी विषयों की उपरंजकता पाई जाती है। हास, शोक, भय, जुगुप्सा और विस्मय आदि भावों में तो सकललोकसुलभ विभावों द्वारा उपरंजकता की मात्रा अधिक होती है, अतः उनसे निष्पन्न होने वाले रसों का प्राधान्य अपेक्षाकृत कम माना जाता है। यही कारण है कि उत्तम प्रकृति के धीरोदात्त नायकों में हासादि का वर्णन प्रधान रूप से नहीं किया जाता और यदि वे वर्णित भी किये जाते हैं तो केवल रत्यादि के अंगरूप में ही। वस्तुतः आनंदमूलक विश्रांति की दृष्टि से उनकी विशेष उपयोगिता नहीं है।

स्वसंविद् की चर्वणा ही रस रूप है

स्वसंविद् की चर्वणा को रस-स्वरूप कह कर आनंदवादियों के शीर्षस्थानीय आचार्य अभिनवगुप्त ने सभी रसों की आनंदरूपता प्रतिपादित की है। उनके मतानुसार रसचर्वणा मूलतः एकघन तथा प्रकाशमयी होती है, अतएव आनंद ही

1. धनंजय-दशरूपक 4/44 धनिक कृत अवलोक की विवृति।

उसका सारभूत तत्व है। रसास्वाद के समय सहृदय का हृदय एकघन निर्विघ्न संविति में विश्रान्त होता है जिसमें न तो किसी प्रकार का अंतराय रहता है और न चित्त का रजोवृत्तिजन्य चांचल्य ही रह पाता है। चूंकि काव्य का रसास्वादन लौकिक हर्ष और शोक आदि का अनुभव न होकर स्वसंवेदना का आस्वाद है, अतः उसकी आनंदरूपता स्वतः सिद्ध हो जाती है। अभिनवगुप्त ने करुण रस से निष्पन्न होने वाले आनंद की संसिद्धि भी इसी आधार पर की है। यों तो अनुकरणवादियों ने भी नाट्यादि रस का अलौकिकत्व निरूपित करते हुए करुण में आनंद की निष्पत्ति विवेचित की थी, किन्तु अभिनवगुप्त ने इस प्रश्न का समाधान अधिक विवेक-सम्मत विधि से किया है। उन्होंने प्रथमतः लौकिक जीवन से उदाहरण उपस्थित करते हुए यह मान्यता प्रतिष्ठित की है कि शोक से दुःखोद्भव होने का कोई शाश्वत नियम नहीं है क्योंकि हम अपने व्यावहारिक जीवन में प्रायः इस विषय का अनुभव करते हैं कि हम अपने आत्मीय-जनों के शोक से दुखी शत्रुओं के शोक से सुखी तथा तटस्थ जनों के शोक के प्रति उदासीन रहते हैं। वस्तुतः स्वगत सन्दर्भ में सीमित शोक भले ही हमें दुःखी बना दे, किन्तु व्यक्ति सम्बन्ध से परे रहने वाले शोक से दुःखानुभूति मानी ही नहीं जा सकती। अभिनवगुप्त ने तो इस प्रश्न को ही अस्वाभाविक एवम् असंभव कहा है कि 'शोक सुख का हेतु कैसे होता है ?' उन्हें अनुकरणवादियों का यह उत्तर भी मनोग्राहक नहीं प्रतीत होता कि 'नाट्य भावों से आनंद प्राप्त होना तो इनका स्वभाव है।' उनकी तो मान्यता है कि 'सहृदय आस्वादयिता मूलतः अपनी संवेदना का ही आस्वाद करता है और उसका संवेदन् स्वतः आनंद-रूप है, अतः संवेदना के आस्वाद में दुःख की आशंका कैसे हो सकती है ?[1] सच तो यह है कि उचित विभावादि की चर्वणा से हृदयसंवाद तन्मयीभवनक्रम द्वारा लोकोत्तर काव्यार्थ की निर्विघ्न प्रतीति ही रस का स्वरूप है, अतः यहाँ दुःख की कोई संभावना ही नहीं हो सकती। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि शोक और रति आदि वासना-संस्कारों से तत्कालीन उद्बोध के कारण उस एकघन संविदास्वाद में वैचित्र्य-निर्माण भले ही हो जाय। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि वासनाओं का यह उद्बोध लौकिक कारणों से न होकर अभिनयादि व्यापार से ही होता है।[2]

'महारस' की कल्पना में सभी रसों का आनंद निष्पन्नित है

अभिनवगुप्त ने सभी रसों की आनंदरूपता का निरूपण करते हुए जिस

---

1. अस्मिन्मते तु संवेदनमेव आनन्दघन आस्वाद्यते । तत्र का दुःखाशङ्का ?
2. केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने च अभिनयादिव्यापारः ।

'महारस' की कल्पना की है यह 'चर्व्यमाणैकप्राण' है जिसका आशय यह है कि मुख्यभूत महारस का सारतत्व उसकी चर्वणा ही है। शृंगार आदि रस विशेष चर्वणारूप व्यापार के निदर्शक 'महारस' के भिन्न-भिन्न रूप कहे जा सकते हैं। आस्वादरूप एक ही महारस के शृंगारादि संज्ञक जो भिन्न-भिन्न रूप परिकल्पित होते हैं, उनका कारण विभावादि की विभिन्नताएँ हैं। अभिनवगुप्त ने 'अनेन विभावादिभेद रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति'"स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव' आदि अनेक युक्तियों से यही तथ्य निरूपित किया है कि तत्वतः 'रस' एक ही है, किंतु विभावादि के भेद से उसके अनेक भेद हो जाते हैं। वस्तुतः रसास्वाद में विभावादि की चर्वणीयता के कारण सहृदयजनो के तन्मयीभूत वासना-संस्कार उद्बुद्ध होते हैं, जिनसे चर्वणा में विशिष्टरूपता आती है। कविकृत विभावादि की संयोजना के अनुरूप ही रसिक जनो की चर्वणा को विशिष्ट रूपता प्राप्त होती है जिसके कारण रसास्वाद की चर्वणा में भी वैचित्र्य का निर्माण होता है। अभिप्राय यह है कि शृंगार तथा वीर आदि रस एक ही महारस के विभावादिकृत भेद के कारण बने हुए रसभेद हैं, जिनका विवेचन रस के सामान्य लक्षण से न किया जाकर विशेष लक्षण से किया जाना अधिक युक्तिसंगत है।

6

रस-विघ्न तथा उनका निराकरण

रस-विघ्नों का सामान्य रूप

रस-विघ्न काव्यास्वादन की प्रक्रिया के बाधक अथवा अवरोधक तत्व हैं। उनका सम्बन्ध काव्य के रचयिता और आस्वादयिता की मनोभूमिका से किसी न किसी रूप में अवश्य जुड़ा रहता है। काव्य-रचना की शब्दार्थमयी शरीर संघटना और रसमयी आत्मवत्ता में यदि किसी भी प्रकार की अपरिपक्वता के अंश उपस्थित हो जाते हैं तो उसके भावानोपकरणों में आत्मविश्रांति-विषयक न्यूनता की सत्ता अपना अस्तित्व धारण कर लेती है। यों तो रसास्वादन की प्रक्रिया में सहृदय प्रमाता की चेतना अथवा उसके संवित् का प्राधान्य है क्योंकि वही रस का मूल्य आश्रय है, किन्तु काव्यगत रस-विघ्न भी आस्वादन-क्रिया में व्यवधान लाते ही हैं। यदि ऐसा न होता तो एक ही विषय पर निर्मित रचनाओं में रसानुभूति कराने का समान सामर्थ्य होता। महर्षि वाल्मीकि से लेकर अद्यावधि जिन कवियों ने राम-कथा का चित्रण किया है, वह अपनी रूप प्रक्रिया और वैचारिक पृष्ठभूमि में किस प्रकार का पार्थक्य रखता है, यह उसके सुधी भावकों से अप्रकट नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रचनाओं में रसास्वादन कराने की पृथक्-पृथक् क्षमता अथवा शक्ति रहती है, उसी प्रकार उनके आस्वादयिताओं की मनःस्थिति का सम्बन्ध भी उनके रस-ग्रहण सामर्थ्य के अनुपात के कारण पृथक्-पृथक् रहता है। इस विचार-बिंदु को रस विघ्नों के साथ संयुक्त कर इस मान्यता का प्रतिस्थापन सहज भाव से किया जा सकता है कि काव्यगत रसभंग सहृदय जनों के मानसगत रसभंग का एक प्रमुख कारण है और उसकी विवेचना के बिना काव्यास्वाद की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष अस्पृष्ट-सा रह जाता है।

'रस-भंग' अथवा 'रसदोष' रस विघ्नों के पर्याय हैं

आचार्य आनन्दवर्धन ने कवि की दृष्टि से रसभंग के मुख्य पाँच कारण निर्धारित किये हैं, जिनका विस्तार एवम् विश्लेषण परवर्ती आचार्यों द्वारा विविध प्रकार के रस-दोषों के रूप में किया गया है। ये रस-दोष मूलतः रस-विघ्नों से ही सम्बन्धित हैं क्योंकि उनके द्वारा भी काव्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया में

अन्तराय उपस्थित होता है। आनंदवर्धन ने विरोधी रस-सम्बन्धी विभावादि के परिग्रह, 'रस-सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन' 'असमय में रस की समाप्ति अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन,' रस का पूर्ण परिपोष होने पर भी उसका पौनःपुन्येन दीपन एवम् व्यवहार के अनौचित्य आदि तत्वों में जिन रस-दोषों का व्याख्यान किया है, वे एक प्रकार से रसास्वाद की प्रक्रिया में बाधास्वरूप ही हैं। आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त रस-दोषों की स्वीकृति के अतिरिक्त 'रसों की स्वशब्दवाच्यता' 'विभावानुभावों की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति' 'अंगी की उपेक्षा' और 'अनंग का अभिधान' आदि कतिपय विशेष व्यवधानों को जोड़ कर उनकी संख्या वृद्धि कर दी है जिनकी विवेचना से काव्यास्वाद की प्रक्रिया के मार्ग में उपस्थित होने वाले अंतरायों का स्पष्टीकरण विशेष सुबोधता से किया जाता है। ये व्यवधान काव्य के समस्त रूप-प्रकारों और उनकी विधाओं में अंगभूत बन कर किसी न किसी स्थिति में उपस्थित हो ही जाते हैं। यों तो ये व्यवधान काव्यास्वादन की प्रक्रिया में दोषोद्भावक हैं, किन्तु आचार्यों ने उनकी नित्यता और अनित्यता का उल्लेख कर ऐसे स्थलों का भी विवेचन किया है जहाँ पर उनकी स्थिति काव्य के रसास्वादन की क्रिया में ऐसी बाधा नहीं ला पाती, जिससे उसकी सदोषता सर्वत्र सन्दिग्ध समझ ली जाये। वस्तुतः रस-विघ्नों का यह विषय अत्यन्त गम्भीर और विचारणीय है, जिसका सम्यक् विमर्श काव्यकृतियों की अनुशीलन-वेला में ही सुचारू रूप से किया जा सकता है।

रस-विघ्नों के प्रकार और उनका निराकरण

अभिनवगुप्त के मतानुसार रस-प्रतीति के मार्ग में सात प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. ज्ञान के अयोग्य होना अर्थात् रस की सम्भावना का अभाव।
2. स्वगत (सामाजिकगत) अथवा परगत (नटगत) रूप से देश-काल-विशेष का सम्बन्ध।
3. अपने व्यक्तिगत सुखादि का विवशीभाव।
4. प्रतीति के उचित उपायों का वैकल्य अथवा अभाव।
5. प्रतीति के स्फुटत्व का अभाव।
6. अप्रधानता।
7. संशय का योग।

अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त समस्त विघ्नों का उल्लेख करने के साथ-साथ उनके

निवारण के उपायों का भी प्रतिपादन किया है। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है—

1 रस-प्रतीति के प्रथम विघ्न को 'सम्भावना विरह' अथवा कल्पना का अभावरूप भी कहा जा सकता है। इसका आशय यह है कि काव्य अथवा नाट्य-वस्तु की कल्पना से अपरिचित व्यक्ति रसास्वादन करने में अक्षम होता है। कारण यह है कि जब ज्ञान के विषय को असम्भव समझने वाला व्यक्ति उस विषय में अपने ज्ञान को ही निश्चित नहीं कर पाता तो फिर उसमें आनंद की अनुभूति या विश्रांति हो ही कैसे सकती है? इस विघ्न के कारण प्रतिपत्ता में रस की सम्भावना का सर्वथा अभाव रहता है। जिस प्रकार काव्यवर्णित अनाम वस्तु की प्रतीति न होने से काव्य का पाठक या आस्वादयिता उसके साथ अपना हृदय-संवाद न कर पाने के कारण रसचर्वणा में असमर्थ होता है, उसी प्रकार कवि का अज्ञान से भी रसास्वादन में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

रस प्रतीति के इस विघ्न के निराकरण का सबसे प्रमुख उपाय यह है कि अन्य सामाजिकों के साथ लोकसामान्य वस्तु-विषय का हृदयसंवाद कर लिया जाय। समुद्रलंघन आदि लोकोत्तर व्यापारों में उनकी असम्भाव्य स्थिति के कारण रस प्रतीति में जो एक प्रकार का विघ्न-सा आ जाता है उसे केवल उसी स्थिति में निराकृत किया जा सकता है जब हम अबाधित प्रसिद्धि से उत्पन्न एवम् बद्धमूल विश्वास को परिपुष्ट करने वाले राम आदि प्रख्यात नामों का परिग्रहण नट आदि के रूप में कर लें। नाटकों में लोकोत्तर उत्कर्ष का प्रदर्शन इस प्रयोजन से किया जाता है कि उनके द्वारा सामाजिकों को उपदेश मिलता रहे और उनका चित्त भी चमत्कृत होता चले। इस प्रकार की क्रिया से यदि रस-ग्रहण की पद्धति में कोई बाधा हो तो उसे सामान्य भावभूमि पर अवतीर्ण कर रस प्रतीति विषयक 'सम्भावनाविरह' नामक विघ्न का अपसरण किया जाना सहज सम्भव है।

2 इस रस विघ्न को मूलतः रतिगत कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि सामाजिक स्वगत सुखदुःख आदि प्रतीतियों का अनुभव करता है तो कभी उनके नष्ट होने के भय से, कभी उनकी रक्षा के लिए व्यग्र हो जाने से, अथवा उनके सदृश अन्य सुख की प्राप्ति की इच्छा से, अथवा उस दुःख के परित्याग की कामना से अथवा उनको प्रकट करने की अभिलाषा से, अथवा उनको छिपाने की भावना से अथवा अन्य किसी प्रकार से अन्य ज्ञान का उत्पन्न हो जाना भी रसास्वाद की प्रक्रिया के मार्ग में एक बड़ा विघ्न है। यदि रस को परगतरूप (नटगतरूप) के नियम से युक्त माना जाय तो भी सुख-दुःख आदि का संवेदन होने पर सामाजिक के भीतर निश्चय रूप से सुख, दुःख मोह या माध्यस्थ्यादि अन्य ज्ञानों के उत्पन्न होने के कारण भी रसास्वाद में विघ्न

होता है। अभिनवगुप्त के मतानुसार इस विघ्न के निराकरण का उपाय यह है कि पूर्वरंगविधि तथा अन्य प्रस्तावनाओं के अवलोकन से जो नटरूपता की प्रतीति होती है, उसके साथ अनुकार्यों की वेषभूषा आदि के अनुरूप नट के स्वरूप की प्रतीति या आच्छादन कर लिया जाय जिससे स्वगत तथा परगत रूप में किसी भी प्रकार के देश और काल विशेष का सम्बन्ध न रहे। भरतमुनि ने साधारणीकरण की सिद्धि द्वारा रसास्वादन के उपयोगी कारण-कलापों का संग्रह सा कर दिया है जिनका अनुशीलन करने से इस बात का पता लग जाता है कि स्वगत या परगत रूप में रसानुभूति में आने वाले विघ्नों का निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है।

3. रसानुभूति के मार्ग में तीसरा विघ्न तब आता है जब अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख आदि से विवश बना हुआ व्यक्ति रसास्वाद-रूप वस्तु में अपना ध्यान एकाग्र न कर सके। इस विघ्न के निराकरण का उपाय यह है कि नाटक आदि के प्रत्येक पदार्थ में रहने वाले साधारणीकरण के प्रभाव से सबके भोग्य होने योग्य, शब्दादि विषयों से युक्त तथा गान, वाद्य और नृत्य आदि मण्डपपद में चतुर गणिकाओं के द्वारा सामाजिक के मनोरंजन का आश्रय लिया जाय। इस प्रकार के आयोजन देखकर शुष्क एवम् अरसिक व्यक्ति भी हृदय की निर्मल सरसता प्राप्त कर सहृदय-सा बन जाता है जिससे उसके व्यक्तिगत सुख-दुःख के भाव तिरोहित हो जाते हैं। उस समय उनकी मानसी क्रिया विचित्र प्रकार की सी हो जाती है जिसके कारण सभी प्रकार के काव्य उसे रसास्वादन कराने लगते हैं।

4. 5. प्रतीति के उचित उपायों का अभाव होने से तो रस प्रतीति के मार्ग में विघ्न आता ही है, किन्तु अस्फुट प्रतीति भी रसानुभूति के मार्ग में एक उल्लेखनीय बाधक तत्व है। इन दोनों कारणों से उत्पन्न विघ्नों के निराकरण के लिए आवश्यक है कि उन लोकधर्मी तथा वृत्ति और प्रवृत्ति से उपस्कृत अभिनयों का आश्रय लिया जाय जो शब्द तथा अनुमान से भिन्न प्रकार का प्रत्यक्षकल्प व्यापार उपस्थित करते हुए सहृदय जनों के हृदय में साक्षात्कारात्मक रसानुभूति करा सके।

6. रस-प्रतीति के मार्ग में छठा विघ्न उस समय आ जाता है जब हम एक ऐसी सन्देहमूलक स्थिति से संत्रस्त हो जायें जिसके कारण गुणालंकारों की अपेक्षा रस की स्थिति अप्रधान या गौण हो जाती है। रस की अप्रधानता के फलस्वरूप हमारी अनुभूति विश्रांत नहीं हो सकती। यह अप्रधानता अचेतन विभाव और सअनुभाव वर्ग में भी हो सकती है तथा संविदात्मक व्यभिचारिभावों में भी। वैसी स्थिति में उन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से अतिरिक्त स्थायि-

भाव ही चर्वणा या आस्वादन के योग्य होता है। इस विघ्न का निराकरण तभी हो सकता है जब रस की प्रधानता प्रतिष्ठित हो जाय और आस्वादयिता के मानस में किसी भी प्रकार की भ्रांति न रहे।

7. रस-प्रतीति का सप्तम विघ्न 'संशययोग' है। चूंकि रस-प्रक्रिया में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का पृथक्-पृथक् स्थायिभावों में नियत रूप से अधिष्ठित रहने का कोई नियम नहीं है अतः अनेक बार यह निर्णय करने में संशय उत्पन्न हो जाता है कि अश्रुपातादि को करुण रस के अनुभाव समझा जाय या किसी प्रकार के नेत्ररोग अथवा आनन्द के प्रतीक। यही स्थिति क्रोध तथा भय नामक मनोभावों की है। व्याघ्र आदि विभाव रौद्र रस के स्थायिभाव 'क्रोध' तथा भयानक रस के स्थायिभाव 'भय' इन दोनों के हेतु हो सकते हैं अतः उन्हें देख कर रौद्ररस की उत्पत्ति होगी या भयानक रस की, इस प्रकार का संदेह उत्पन्न होना सहज संभव है। इस विघ्न का निराकरण करने के लिए ही आचार्य अभिनवगुप्त ने 'संशय' के साथ 'योग' शब्द का प्रयोग किया है। उसका आशय यह है कि विभाव और अनुभाव आदि पृथक्-पृथक् रूप से तो संशय के उत्पादक हो सकते हैं, किन्तु अपनी सामग्री की समग्रता अथवा संयोगजन्य परिस्थिति में संशयजनक नहीं रहते।

रस विघ्नों की स्थिति उभयविधि है

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन-प्रसंग में जिन रसविघ्नों को बाधास्वरूप सिद्ध किया गया है, उनके रस-दोषों के रूप में व्याख्यात होने का संकेत किया जा चुका है। कवि और काव्य की दृष्टि से उनकी सत्ता विषयगत है, किन्तु भावक अथवा सहृदय सामाजिक की दृष्टि से उन्हें विषयिगत कहा जा सकता है। यदि रस की स्थिति तत्त्वपूर्ण सहृदय की चेतना में मानी जाय तब तो उनका सम्बन्ध विषयिगत रूप से ही सिद्ध होता है। हमें तो उनकी सत्ता दोनों ही रूपों में स्वीकार्य प्रतीत होती है, क्योंकि सहृदयजन जिस रसानुभूति का आस्वाद प्राप्त करते हैं, वह मूल रूप में कवि-कृति के माध्यम से ही उपलब्ध होता है। निश्चित है कि जब कवि-कर्म में किसी प्रकार की अपूर्णता अथवा दोषोद्भावना होती है तो वह सहृदयजनों की प्रतीति में भी दोष उत्पन्न कर देती है। काव्य-सृष्टि में अभिव्यक्ति और अनुभूति का समान महत्त्व है और उन दोनों में अविच्छेद्य सम्बन्ध रहता है, अतः रस-विघ्नों की विवेचना अथवा काव्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया में बाधक बनने वाले उपकरणों का विश्लेषण करते समय कवि और भावक की उभयविध मनःस्थिति तथा रचना एवम् विवेचना के अनुकम का समानुपातिक ध्यान रखना परम आवश्यक है।

रस-विघ्नों के निरास में ही रस-प्रतीति की प्रक्रिया सम्भव है

अभिनवगुप्त ने रस-प्रतीति के मार्ग में जिन सात विघ्नों का उल्लेख किया है, उनका निरास अथवा अभाव होने पर ही नाट्य अथवा काव्यरस का समग्रतः आस्वादन किया जा सकता है। वस्तुतः काव्य अथवा नाट्य में औचित्यपूर्ण विधि से प्रयुक्त विभावादि में ही ऐसी शक्ति होती है जो काव्य-रसिक के हृदय में विघ्नापसारणपूर्वक रसना व्यापार की निष्पत्ति कर सके तथा उसे निर्विघ्न रस-प्रतीति हो सके। अभिनवगुप्त के शब्दों विघ्नविहीन रस-प्रतीति की प्रक्रिया निम्नलिखित है :—

"तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचरात्मकलिंगदर्शनजस्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवात् अधुना तैरेव उद्यानकटाक्षधृत्यादिभिः लौकिकीम् कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैः विभावनअनुभावनसमुपरंज कत्वमात्रप्राणैः, अतएव अलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भि. प्राच्यकारणादिरूप संस्कारोपजीवीनाद्यव्यापनायविभावादिना नामामधेयव्यपदेश्यैः. गुणप्रधानतात्पर्येण सामाजिकधियिसम्यक् योग (संयोग) सम्बन्धम् ऐकाग्र्य वा आस्वादयिद्‌भि. अलौकिक निर्विघ्नसंवेदनात्मक चर्वणागोचरता नीतो अर्थः, चर्व्यमाणैकसारः न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्त कालावलम्बी, स्थायिविलक्षण एव रस।"

उपर्युक्त मत का स्पष्टीकरण

अभिनवगुप्त का उपर्युक्त रस-प्रतीति-विषयक अभिमत अत्यन्त तत्वपूर्ण और व्यावहारिक है। उन्होंने लोकव्यवहारिक का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि इस संसार में प्रत्येक मनुष्य कारण, कार्य तथा उनके अन्य सहचरों का दर्शन करता हुआ उनके लिंगों अथवा चिह्नों से अपनी तथा दूसरों की स्थायी चित्तवृत्तियों का अनुमान करता है, जिसके नित्यप्रति अभ्यास से उसे लोकव्यवहारगत पटुता प्राप्त होती है। काव्य-पठन अथवा नाट्य-दर्शन द्वारा वह प्रमदा, उद्यान आदि कारणों, कटाक्षादि कार्यों और धैर्यादि अर्थों में लौकिक व्यवहार का प्रत्यक्षीकरण सा करता है जिसकी एक विशेषता यह है कि वह प्रत्यक्षीकरण काव्य अथवा नाट्य की भूमिका ग्रहण करते ही लौकिक कारणों तथा कार्यादि रूपों से भिन्न हो जाता है। यों तो काव्य में भी उनका कार्य क्रमशः विभावन, अनुभावन तथा समुपरंजन कराना होता है, किन्तु वे काव्यवर्णित विभाव, अनुभाव, तथा संचारी भाव अलौकिकता की अन्वर्थक संज्ञाओं से निर्दिष्ट किये जाने लगते हैं। वस्तुतः लौकिक कारणत्वादि की प्रतीति के स्थायी संस्कार विभावादि के आश्रय अथवा उपजीव्य बनकर लौकिक जीवन और काव्य-पठन से उद्‌बुद्ध होने वाले कार्य-कारणों में विभेद उत्पन्न कर देते हैं जिसकी अनुभूति अथवा भेदक धर्म का बोध केवल काव्यानुशीलन के क्षणों में ही

किया जा सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उक्त भेदक धर्म को उपलक्षित कर काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन-प्रसंग में काव्य-वर्णित विभावादि को लौकिक संज्ञाओं से भिन्न दृष्टि से निरूपित किया है। उनका मत है कि गुणप्रधान तारतम्य के कारण काव्य-रसिक को प्रतीति में अलौकिक विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों का जो औचित्यपूर्ण सम्यक् योग होता है, वह उसकी बुद्धि में प्रकाशित हो उसे एक विशेष प्रकार की एकाग्रता अथवा निर्विघ्न संवेदना प्रदान करता है जिसकी चर्वणा का नाम 'रस' है। यह चर्वणा अथवा आस्वाद ही काव्य-रस का सारभूत धर्म है जिसमें चर्वणातिरिक्त कालावलम्बन न होकर तात्कालिकता तथा स्थायीभाव से विलक्षणता रहती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उनका परिज्ञान 'चर्वणामात्रैकसार', 'तात्कालिक' तथा 'स्थायिविलक्षण' आदि धर्मों के माध्यम से कराया है।

काव्यास्वाद को निर्विघ्न बनाने के लिए कतिपय परामर्श

काव्य का आस्वादन कथनीय न होकर व्यंग्य होता है। वाचक शब्द में इस विषय की क्षमता नहीं होती कि वह रस अथवा भाव का द्योतन करा सके। अनेक स्थलों पर तो वाचक शब्द अपनी स्वशब्दवाच्यता द्वारा रसास्वादन की क्रिया में विघ्न-सा उत्पन्न कर देता है। इसका कारण यह है कि काव्य का प्रतिपाद्य केवल तथ्यबोध अथवा अर्थग्रहण कराना ही नहीं होता, अपितु भावों की मूर्त व्यंजना अथवा साक्षात्कारात्मक प्रतीति कराना भी नहीं होता है जो केवल व्यंजना-व्यापार द्वारा ही सम्भव है। आचार्यों ने बिम्ब-विधान को जिस रूप में काव्यगत महत्व प्रदान किया है उसका अभिप्राय यही है कि उसके द्वारा सहृदय भावक जनों को भावों की ऐसी सद्यानुभूति होती है जिसके द्वारा वे अखंड आस्वादना का आनन्द प्राप्त कर लेते हैं। आचार्यों ने काव्य-कृतियों और सामान्य वार्ताओं का अन्तर उनकी इतिवृत्तात्मकता और व्यंग्यता को ही दृष्टिकोण में रखकर निर्धारित किया है। हाँ यह बात अवश्य है कि कहीं-कहीं प्रबन्ध-काव्यों के विशिष्ट प्रसंगों पर इतिवृत्तात्मकता का चित्रण अनिवार्य सा हो जाता है, किन्तु ऐसे स्थलों पर भी कवि को कथानुबन्ध की सौष्ठवपूर्ण प्रविधि का ध्यान रखना पड़ता है। मुक्तक काव्यों में सामान्यतः ऐसी स्थिति नहीं आती। अभिप्राय यह है कि आचार्यों ने रस तथा उसकी निष्पत्ति के साधनभूत विभावानुभावादि की स्वशब्दवाच्यता को जिस रूप में काव्य के आनन्दमय आस्वादन में बाधक माना है, उसे विशेष प्रकार की परिसीमा में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। वस्तुतः रसों की स्वशब्दवाच्यता सभी स्थलों पर रस-निष्पत्ति अथवा काव्यानन्द की आस्वादना में अवरोध उत्पन्न नहीं करती। जिन प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने रसों तथा भावों की निष्पन्नता से सम्बद्ध उपकरणों में स्वशब्दवाच्यता के

आधार पर उनकी विभ्रममयी स्थिति का निरूपण किया है, वह आज के संवर्धित ज्ञान-विज्ञान के आलोक में निरस्त किया जा सकता है। रससिद्ध कवियों की कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उनके वर्ण्य विषयों की भावव्यंजना एवं रस-व्यंजना में स्वशब्दवाचकता भी रहती है, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति के प्रबल प्रवाह के सम्मुख उसका अस्तित्व नहीं जम पाता। ऐसी स्थिति में हम न तो रसों की स्वशब्दवाच्यता के एकांत पक्ष में ही हैं और न उनके सर्वथैव निषेध की मान्यता में आस्था रखते हैं।

किसी भी प्रबन्ध-रचना को लोकोत्तर रमणीय एवं सहज आस्वाद्य बनाने के लिए आवश्यक है कि उसमें रस-व्यंजना और भाव योजना का निर्दुष्ट संचार किया जाय। प्रबन्ध काव्यों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उनमें साधारणतया एक रस अंगी तथा अन्य रस उनके अंग-विशेष बनकर उपस्थित होते हैं। ऐसे काव्य-स्रष्टाओं का मूल प्रयोजन किसी रस-विशेष का पूर्ण परिपाक कराना होता है। एकरस की चरम परिणति के उपरान्त जब कोई काव्यकार उसका पुनः पुनः अभिव्यंजन करता है तो उसकी अभिव्यक्ति में विरसता अथवा परिम्लानता सी आ जाती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इस प्रकार की पुनः पुनः रस-दीप्ति को 'परिम्लान कुसुम' से उपमित कर उसे चमत्कारविहीन और अवसाद-जनक कहा है, क्योंकि उसमें सहृदयजनों के लिए चित्त-विश्रांति की सामग्री नहीं रहती। यों तो कुशल कवियों ने एक ही रस की पुनः पुनः दीप्ति को भी नवीनता के परिवेश में आलोकित किया है। किन्तु सभी परिस्थितियों में वह संभव नहीं है। काव्य की रमणीयता तो इसी बात में है कि वह किसी एक मूल भाव को उसके विविध उपकरणों से संयुक्त कर उसे रस-कोटि पर्यन्त पहुँचा दे। उस कोटि पर पहुँचे हुए-माधुर्य का आस्वादन कर उसके प्रमाताओं का मानस परितृप्त हो जाता है और वे उसके आनन्द में तन्मय हो जाते हैं। प्रबन्ध काव्य की सुरम्य वनस्थली में यह क्रम एक ऐसी श्रृंखला से नियोजित रहता है कि उसको पुनः पुनः प्रदीप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। उनकी पुनः पुनः दीप्ति की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता के विषय में आचार्यों में मत-वैविध्य होना सहज सम्भव है, किन्तु अधिकांश विद्वानों की तो यही मान्यता रही है कि काव्य में रस-योजना की अभिसंधि करते समय उसे पिष्टपेषण की वृत्ति से दूर रखा जाय। काव्य-कलेवर के सुगठित संघटन और समुचित समायोजना की दृष्टि से इस तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है अन्यथा काव्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। आचार्यों ने इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रबन्धगत रस-दोष की कोटि में परिगणित किया है और कवियों को परामर्श देते हुए लिखा है कि वे रस-परिपाक की कोटियों को सहज विधि में

हृदयगम करने का महत्व समझे और अपनी रचना को ऐसी न बनने दे जिससे सहृदय काव्य-रसिकों के मन में वर्नाति अथवा म्लानता का सचरण हो जाय।

काव्यानन्द के आस्वादन को अधिक से अधिक प्रतीतिगम्य और विगलित-वेद्यांतरस्पर्शशून्य बनाने के लिए आवश्यक है कि उसकी निष्पत्ति के आधारभूत अगो का अभिनिवेश अत्यन्त सजीवता और सनात्मकतापूर्वक किया जाय। वस्तुत काव्य की वर्ण्य विषय सामग्री अपने प्रस्तुत एव अप्रस्तुतविधान में जितनी अधिक जीवत और मूर्तिमयी बन कर उपस्थित होती है, उतनी अधिक वह काव्यानन्द की उपजीव्य निधि बनती है। जिस कवि की कृति का आस्वादन करते समय उसके भावो का सहज चित्र अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति में हमारे मनो-मुकुर पर अकित नहीं होता, वह अपनी रचना में महान् नहीं कहा जा सकता। कवि का कर्तव्य है कि वह अपनी वर्ण्य-योजना को ऐसी दुरूह क्लिष्ट न बना दे कि उसका बिम्ब-विधान हो न हो सके और उसके ग्रहीता को कष्ट-कल्पना करनी पड़े। इसमे कोई सदेह नहीं कि काव्य मे पाण्डित्य-प्रदर्शन के भी अवसर होते है, किन्तु वे उसके प्रकृत उपकरण नहीं हैं। वैदग्ध्यभगीभणिति अथवा ऊहात्मक चमत्कृति के अवकाश में वे भले ही महिमामडित कहे जा सकें, किन्तु काव्य-सरिता के सहज प्रवाह के मार्ग में वे दुर्लाह्य ही होते हैं। आचार्यों ने अनेक प्रसगो मे उन्हे क्लिष्टत्व दोष की अभिधा से लाछित भी किया है। वस्तुत उनमे काव्य की रमणीय गुण-गरिमा और निष्कपट अभिव्यजना का अभाव रहता है। उनकी उपयोगिता काव्य-कौतुक की द्राविडी प्राणायाम-क्रिया की भांति ही होती है जिसमे कवि कही तो सूर्य-बिम्ब को रक्तमुख वानर से उपमित कर प्रात कालीन सुषमा को कुमायशी रग प्रदान करता है तो कही दृष्टि-कूटो, प्रहेलिकाओं और समस्यापूर्तियो के सम्भार मे ही अपना बुद्धि-कौशल नियोजित कर देता है। ऐसे काव्यों की प्रशसा करने वाले भावक भी मिल जाते हैं, किन्तु उन्हे एक विशिष्ट वर्ग पर्यन्त ही सीमित किया जा सकता है। व्यापक दृष्टि से ऐसी कृतियों में लोकानुरजन और मन प्रसादन की अभीष्ट सामग्री की न्यूनता ही परिलक्षित होती है जिसे लोकसामान्य भावभूमि पर ग्रहण करने मे शकास्पद होने के अनेक अवसर विद्यमान हैं। साराश यह है कि काव्यानन्द की अनुभूति में विभावादि की कष्ट-कल्पना अथवा भाषा-चमत्कार के कुतूहलजनक प्रयोग एक सीमा तक ही ग्राह्य हैं जिसका विवेकसम्मत अभिज्ञान काव्य-स्रष्टा अथवा काव्य-भावक को अवश्यमेव होना चाहिए।

रस-विघ्नों के स्वरूप और उनके निवारण के कतिपय उपायों का विमर्श करने के पश्चात् अब हम केवल एक बात का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं और वह यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र में उनकी विवेचना विशुद्ध साहित्यिक

दृष्टि से की गई है। आज के युग-जीवन की संकुलता में मानव-मन की ग्रन्थियों में जो जटिलताएँ और विसंगतियाँ उत्पन्न कर दी हैं, वे कदाचित रस विघ्नों के सामान्य रूपों से कहीं अधिक आगे हैं, किन्तु काव्य-साहित्य को रागात्मिका वृत्ति के परिपार्श्व में निरूपित करते समय पूर्व-विवेचित रस-विघ्नों की स्थिति और उनके निराकरण के उपायों को भली भाँति समझ लिया जाय तो काव्य के आनन्द-बोध की प्रक्रिया के सम्यक् उद्घाटन की दिशा में उपस्थित होने वाले अनेक व्यवधान निराकृत किये जा सकते हैं।

7

भक्ति-रस का रूप-विमर्श

भक्ति-रस का आदि स्रोत

भक्ति की रस-रूप में प्रतिष्ठा तथा उसके तत्त्वों का विमर्श भारतीय काव्यशास्त्र में ऊहापोह का एक अत्यंत आकर्षक विषय रहा है। भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक जिन काव्यशास्त्रियों ने अपना रस-विमर्श प्रस्तुत किया है, वे भक्ति को स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित न कर देवादिविषयक रति की संज्ञा देते हुए केवल भावमात्र मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार देवादिविषयक रति और व्यंजना-वृत्ति से ज्ञात हुए व्यभिचारिभाव केवल 'भाव' ही कहे जा सकते हैं। उसे स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन वैष्णव आचार्यों को है जिन्होंने अपनी मधुरोपासना को मूर्द्धन्य स्थिति प्रदान करते हुए भक्ति को सर्वोपरि गुरुता प्रदान की थी। इस विषय में श्री रूपगोस्वामी-विरचित 'भक्तिरसामृतसिंधु' नामक ग्रंथ विशेषतः उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने काव्यशास्त्रीय पद्धति से समस्त रसों का पर्यवसान भक्ति-रस में करते हुए अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में माधुर्य भक्ति का जो प्रबल प्रचार रहा, उसका मूल उद्घाटित करना कठिन सा है, किन्तु तत्वमीमांसा की दृष्टि से उसका आदि उत्स मनुष्य की उस प्रेम-भावना या रति-वृत्ति में माना जा सकता है जो आत्म-प्रसार और आत्म-साक्षात्कार करती हुई अपने जीवन का परम प्राप्य उपलब्ध करने के लिए अनादिकाल से समर्पणोन्मुख रही है। विद्वानों ने वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त 'मधुविद्या' और 'मधुलता' आदि शब्दों की व्युत्पत्ति में माधुर्योपासना का बीज अनुसंधित किया है, पर यह मत सर्वमान्य नहीं है। भागवत सम्प्रदाय की पांचरात्र संहिताओं में वर्णित चर्यापाद का विषय विवेचन माधुर्यभाव की भक्ति का पृष्ठाधार सा प्रतीत होता है। बौद्धों की तांत्रिक साधना, सूफियों की माधुर्यभावना और ईसाइयों की प्रेमोपासना में भी मधुरभक्ति के तत्त्व-कण समाहित हैं। श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्तिरसायन' नामक ग्रन्थ में भक्ति की जो परिभाषा की है, उससे उसमें प्रेम, अनुराग और चित्त से द्रवीभाव का प्राधान्य सिद्ध होता

है।[1] 'नारदभक्तिसूत्र' में उसे 'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा' तथा 'शांडिल्यभक्तिसूत्र' में उसे 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' कहा गया है। इस विषय में गौड़ीय आचार्यों का का योगदान विशेष महत्वपूर्ण है। उन आचार्यों के विवेचन और निरूपण का ही यह प्रभाव है कि भक्तिपरक काव्य पर माधुर्य भावना का प्रचुर प्रभाव पड़ा और हिन्दी साहित्य का मध्यकाल भक्ति की अजस्र धारा से प्रपूरित हो गया। उस काव्य-साहित्य के वर्ण्य विषयों की शास्त्रीय समीक्षा करने पर भक्ति की स्थिति निश्चय ही एक प्रमुख रस के रूप में स्पष्ट हो जाती है।

चैतन्य मत और भक्ति-रस की परम्परा

यद्यपि महाप्रभु चैतन्यदेव ने किसी मत या सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं किया तथापि उनके व्यक्तित्व में ऐसा प्रबल आकर्षण और विलक्षण सम्मोहन था जिसके कारण वृन्दावन के षट् गोस्वामियों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर उनके सिद्धान्तों को शास्त्रीय व्यवस्था प्रदान की। बलदेव विद्याभूषण आदि विद्वानों ने चैतन्य-मत को माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत निरूपित करने का प्रयत्न किया है,[2] किन्तु उनकी यह धारणा सत्यसंगत नहीं है। वस्तुतः चैतन्य मत का दार्शनिक सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' है जिसकी व्याख्या करते हुए जीव-गोस्वामी ने लिखा है कि 'भगवान में स्वरूप आदि शक्तियों के अभिन्न होने के कारण विचार करना अशक्य होने से भेद प्रतीत होता है और भिन्न होने से विचार करना शक्य न होने से अभेद प्रतीत होता है, इसीलिए इनमें भेदाभेद स्वीकार किया जाता है। ये दोनों अचिन्त्य हैं जिसके कारण इस मत का नाम 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' है।[3] हमें यहाँ माध्वमत और चैतन्य मत का तात्विक अन्तर निरूपित करना अभीष्ट नहीं है। हम तो यहाँ पर केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि काव्य में भक्ति-रस की मधुर प्रतिष्ठा कराने के क्षेत्र में चैतन्यमतावलम्बी षट् आचार्यों का महत्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि

---

1. द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता।
   सर्वेशे मनसो वृत्ति-भक्तिरित्यभिधीयते॥
   द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकाररूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति।
2. इस विषय में बलदेव विद्याभूषणरचित 'गोविन्दभाष्य' और 'प्रमेय रत्नावली' नामक ग्रन्थ पठनीय हैं।
3. स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेद., भिन्नत्वेन चिंतयितु शक्यत्वाद् अभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदौ अंगीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्।
   (जीवगोस्वामी, भगवत्संदर्भः)

उन्हीं से भक्ति-रस की परम्परा को वास्तविक शास्त्रीय प्रौढ़ि प्राप्त हुई है। इस विषय में 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' नामक ग्रन्थ सभी दृष्टियों से दर्शनीय है जिसमें न केवल काव्यशास्त्रीय रसों का भक्ति-रस में पर्यवसान किया गया है अपितु 'भक्ति' को मुख्य रस मानकर अन्य साहित्यिक रसों का वर्णन उसके अंग रूप में हुआ है। इस ग्रन्थ का विभाजन सिन्धु के रूप में करके उनके रचयिता ने 'मनोहरीभूतवस्तु समुद्र' के अनुसार उसके चार विभाग-पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर-किए हैं जिनमें कुछ मिला कर तेईस लहरियाँ हैं और जिनके अन्तर्गत क्रमश: सामान्यभक्ति साधनभक्ति भावभक्ति और प्रेमभक्ति का निरूपण पूर्व विभाग में, विभाव अनुभाव सात्विक भाव, व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव का वर्णन दक्षिण विभाग में शान्तरस, प्रीतिभक्तिरस प्रेयोभक्तिरस वत्सलभक्तिरस और मधुरभक्तिरस का वर्णन पश्चिम विभाग में तथा हास्य-भक्ति-रस, अद्भुतभक्तिरस, वीरभक्तिरस, करुणभक्ति-रस, रौद्रभक्ति-रस, भयानकभक्ति-रस, वीभत्सभक्तिरस, मैत्रीवैरस्थिति-भक्ति-रस और रसाभास का विवेचन उत्तर विभाग में किया गया है। यह समस्त विवेचन आचार्य रूप-गोस्वामी के प्रकाण्ड पाण्डित्य और अगाध प्रतिभावैभव का परिचायक है। उनके अनुशीलन द्वारा भक्तिरस का प्रकृति निश्चित, भक्ति-रस का प्राचीन शास्त्र में भेदाभेद, प्राक्तन रससिद्धांत की भक्ति रस के प्रति उपजीव्यता और भक्तिरस की प्रक्रिया का सम्यक् बोध हो जाता है। आचार्य रूपगोस्वामी का यह विवेचन रस प्रक्रिया में विवेचित किये जाने वाले साधारणीकरण, सविधिस्थिति, और मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति की कोटि में भी निदर्शित किया जा सकता है जिसके कारण अनेक प्रकार की मौलिक उपलब्धियों के लिए सम्भावनाएँ बनी हुई हैं। आचार्यप्रवर के मतानुसार कृष्ण का अन्याभिलाषशून्य अनुशीलन ही उत्तम भक्ति का लक्षण है जिसके सम्मुख मोक्षादि सुख भी तुच्छ हैं। उनके शब्दों में उस उत्तम एवं सुदुर्लभ भक्ति का रूप निम्नलिखित है :—

> अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥[1]
> क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
> सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥[2]

भक्ति-रस की काव्यशास्त्रीय प्रक्रिया

रूपगोस्वामी ने काव्यशास्त्र-विवेचित रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया के अनुरूप भक्ति-रस की विवेचना की है। श्रीमद्भागवत में जिस भागवत रस को 'अमृत-

---

1. भक्तिरसामृतसिन्धु, 1 : 1 : 11
2. वही 1, 1, 13

द्रवसंयुत फल' से उपमित किया गया था,[1] उसे श्री रूपगोस्वामी ने न केवल रस-विषयक पूर्णता ही प्रदान की अपितु उसे सर्वोपरि अंगी रस भी सिद्ध किया। जिस प्रकार रस-निष्पत्ति के लिए स्थायिभावों के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का संयोग अपेक्षित है, उसी प्रकार भक्तिरस के लिए भी वे अंग वांछनीय हैं। आचार्य जी ने सामान्यतया काव्य-शास्त्रीय रस-निष्पत्ति की परम्परा को अपनाकर उसी के साँचे में भक्तिरस का निरूपण किया है। उनका मत है कि 'भक्तिरस का स्थायिभाव भगवद्रति अथवा कृष्णरति है जो विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारिभावों द्वारा श्रवण अथवा मनन आदि की सहायता से भक्तों के हृदय में आस्वाद्यता को प्राप्त होता है। भक्ति-रस का आस्वादन केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसके मानस में पूर्वजन्म तथा वर्तमान जीवन की उत्तम कोटिपरक वासना या भक्ति-संस्कार विद्यमान हो।'[2] अपने मन्तव्य को विशेष स्पष्ट करने के प्रयोजन से उन्होंने लिखा है कि 'साधन रूपा वैधी भक्ति के द्वारा जिनके दोषों का शमन हो गया है अतएव प्रसन्न और निर्मल चित्तवाले, भगवान् और भागवत धर्मों के संसर्ग में अनुरक्त रहने वाले, भगवान के चरणों की भक्ति को अपना जीवन-सर्वस्व समझने वाले, प्रेम के अन्तरंग कार्यों का सदैव अनुष्ठान करने वाले भक्तों के हृदय में ही प्राक्तन तथा आधुनिक दोनों प्रकार के संस्कारों से उज्ज्वल आनन्दरूपा रति ही आस्वाद्यता को प्राप्त होकर कृष्णादि रूप विभावादि के द्वारा देखने से प्रौढ़ चमत्कार की पराकाष्ठा को प्राप्त होती है'।[3] आचार्य ने रति (भाव) और प्रेम में अन्तर माना है और बतलाया है कि प्रेम की स्थिति भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट श्रेणी की है, अतः वह भाव की अपेक्षा अधिक सरलता से रसरूपता प्राप्त कर लेता है। उन्होंने भक्ति-रस के लिए अभीष्ट विभावानुभावादि का भी वर्णन किया है और उनके सामान्य लक्षण-निरूपण में भी भक्ति के अनुकूल पदार्थों की योजना कर ली है। आचार्य का कहना है कि रति के आस्वादन-हेतुओं का नाम 'विभाव' है और उसके आलम्बन और उद्दीपन नामक दो भेद हैं। उन्होंने कृष्ण और उनके भक्तों को आलम्बन माना है क्योंकि वे ही रति के विषय तथा आधार बनते हैं। कृष्ण नायकों में शिरोरत्न ही नहीं, अपितु साक्षात् भगवान् हैं और उनमें समस्त महागुण नित्य रूप में विराजमान रहते

---

1. निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालय, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥
2. रूप गोस्वामीः भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभागः प्रथम लहरी, श्लोक-5-7
3. वही, श्लोक, 8-11

हैं। उनका आलंबन आत्मरूप भी होता है तथा अन्य रूप भी। उन्होंने कृष्ण में चौंसठ गुण निर्दिष्ट कर उनका लक्षण-पुरस्सर सोदाहरण विवेचन किया है। भारतीय काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में धीरोदात्तादि संज्ञक जो चार प्रकार के नायक माने गये हैं, उनके भी लक्षण श्रीकृष्ण-चरित में निरूपित कर श्री स्वामीजी ने उदाहरणपूर्वक उनका संघटन प्रस्तुत किया है। इस विश्लेषण द्वारा रूपगोस्वामी की अद्भुत योग्यता का बोध होता है। उन्होंने विविध ग्रन्थों से उदाहरण संचित करते हुए अपने सहज सौहार्द और नीरक्षीर विवेक का परिचय दिया है। इस विवेचन की एक मुख्य विशेषता यह है कि श्रीरूप-गोस्वामी के मतानुसार लोक में दोषवत् प्रतीत होने वाले मात्सर्य आदि भाव भी कृष्ण की चरित लीला के आश्रय से गुण बन जाते हैं। इसी प्रसंग में उनका यह निर्णय विशेषतः उल्लेखनीय है कि कृष्ण के गुण ही भक्तों के गुण होते हैं।

भक्ति-रस के उद्दीपन विभाव

भक्तिरस के उद्दीपन विभावों के विषय में रूपगोस्वामी का कथन है कि उनके अन्तर्गत भगवान् श्रीकृष्ण के गुण, चेष्टाएँ तथा अलंकरण आदि मुख्य रूप से आते हैं। गुणों का क्षेत्र कायिक, वाचिक और मानसिक रूपों तक व्याप्त है। कायिक गुणों में आयु सौन्दर्य, रूप तथा मृदुता आदि आते हैं। यद्यपि कायिक गुण कृष्ण के स्वरूपभूत ही हैं तथापि वे स्वरूप से अभिन्न होने पर भी काल्पनिक भेद को स्वीकार करके ही स्वरूप से भिन्न गुणों के रूप में कहे गये हैं, क्योंकि इस प्रकार से कथित होने पर ही वे उद्दीपन विभाव होते हैं। इन गुणों में आलम्बनत्व तथा उद्दीपनत्व का उभयनिष्ठ समावेश रहता है। आयु में कौमार, पौगण्ड तथा कैशोर अवस्थाएँ आती हैं तो सौन्दर्य में अंगों का यथोचित सन्निवेश रहता है। रूप का अभिप्राय यह है कि जिसके द्वारा अलंकार अलंकार्य बन जाय। कोमल स्पर्श को भी सहन न कर सकने को मृदुता कहते हैं। रूपगोस्वामी ने वाचिक तथा मानसिक गुणों का वर्णन न कर उनका उल्लेख मात्र किया है। उन्होंने कृष्ण-भक्ति के उद्दीपन विभाव की चेष्टाओं में रास आदि लीलाओं और दुष्टों के वध आदि को महत्त्व दिया है। अलंकरण और प्रसाधन के उपकरण वस्त्र विन्यास और अलंकार आदि हैं। प्रसाधन का एक अन्य साधन 'आकल्प' या केशादि की बनावट है। 'आलेप' भी अनेक प्रकार के होते हैं। मंडन-रूप प्रसाधन में मुकुट, कुण्डल, हार, चौकी और नूपुर आदि की गणना की जाती है। आचार्य के गुण, चेष्टा तथा प्रसाधन रूप उद्दीपन विभावों के अतिरिक्त स्मित को भी चतुर्थ उद्दीपन विभाव माना जाता है। अंग-सौरभ पंचम उद्दीपन विभाव है। वेश नामक षष्ठ उद्दीपन विभाव में वेणु, मुरली और वंशिका-वादनकाल की भंगिमाएँ परिगणित होती हैं। रूपगोस्वामी ने शृंग, नूपुर, चरण-चिह्न, क्षेत्र, तुलसी, भक्त और दिवस नामक सात और

अंग जोड़कर तेरह प्रकार के उद्दीपन माने हैं। इस प्रकार का वर्णन इतना अधिक भव्य और आकर्षक बन गया है कि उसके द्वारा शृंगार की उद्दीपन अवस्था विशेष आकर्षण के साथ व्यक्त हो सकी है।

अनुभावों और सात्विक भावों का विमर्श

रूपगोस्वामी ने अनुभावों को चित्त में स्थित मुख्य भावों के बोधक कहकर उन्हें प्रायः बाह्य क्रिया रूप माना है और उन्हें 'उद्भास्वर' की संज्ञा दी है। उनके मतानुसार भक्ति-रस में साधारणतया शीत और क्षेपण नामक दो प्रकार के अनुभाव आते हैं जिनमें नृत्य, विलुठन, गीत, क्रोशन, तनुमोटन, हुंकार, जृम्भण, श्वासभूमा, लोकानपेक्षिता, लालसा, अट्टहास, घूर्णा और हिक्का आदि की गणना होती है। इन तेरह प्रकार के अनुभावों के अतिरिक्त शरीर का फूलना तथा रक्त का निकलना नामक कुछ अन्य अनुभाव भी हैं, पर वे बहुत कम देखे जाते हैं अतः उनका वर्णन नहीं किया गया है।

सात्विक भावों के सम्बन्ध में रूपगोस्वामी का कहना है कि साक्षात् अथवा किंचित् व्यवधान से कृष्ण-सम्बन्धी भावों से आक्रान्त चित्त का नाम 'सत्व' है। सत्व से जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें सात्विक भाव कहते हैं। स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्ष संज्ञक तीन प्रकार के सात्विक भाव हैं। स्निग्ध के दो प्रकार हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् रूप से कृष्ण संबंधिनी रति से आक्रांत सात्विक भावों को गौण कहते हैं। दिग्ध सात्विक भाव वे हैं जो मुख्य तथा गौण नामक दोनों प्रकार की रति के बिना होने वाले भावों से मन के आक्रांत होने पर रति के अनुगामी रूप में उदित हों। रूक्ष भाव एक प्रकार के रोमांचित भाव हैं जो कृष्ण की मधुर तथा आश्चर्यमयी वार्ताएं सुनने से उत्पन्न होने वाले आनन्द और विस्मय के कारण भक्त-सदृश किन्तु रतिशून्य पुरुष में कहीं-कहीं उत्पन्न होते हैं। चित्त के वेग के कारण विकार को प्राप्त होकर जब प्राण शरीर को अत्यन्त विक्षुब्ध कर देता है, तब भक्त के शरीर में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, कम्पन, वैवर्ण्य, अश्रुपात तथा मूर्छा नामक सात्विक भावों की उत्पत्ति होती है। उस समय प्राणों की गति या तो आकाश को छोड़कर अवशिष्ट चार तत्वों का अवलम्बन करती है या कभी स्वयं स्वतन्त्र रूप से वह (प्राण) देह में सर्वत्र विचरण करता है। आचार्यों का कथन है कि प्राणों का बाह्य विक्षोभ 'अनुभाव' कहलाता है तथा आंतरिक विक्षोभ सात्विक भाव। इन सात्विक भावों के अनेक आधार और रूप हैं। स्तम्भ नामक सात्विक भाव हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद और क्रोध से उत्पन्न होता है और उसमें वाणी आदि का अभाव, निश्चलता और शून्यता आदि होते हैं। स्वेद नामक सात्विक भाव हर्ष, भय और क्रोध आदि आंतरिक वृत्तियों से उत्पन्न होकर बाह्य अनुभावों के रूप में

शरीर में प्रस्वेद उत्पन्न कर देता है। रोमांच की उत्पत्ति आश्चर्य, हर्ष, उत्साह और भयादि से होती है। उसमें रोम खड़े हो जाते हैं और अंगों में किसी वस्तु के स्पर्श आदि जैसा अनुभव होने लगता है। स्वरभेद नामक सात्विक भाव विषाद, विस्मय, अमर्ष, हर्ष और भय से उत्पन्न होने वाली 'स्वरविकृति' का नाम है जिसे 'गद्गदिका को आदि जननी' कहा जा सकता है। वेपथु नामक सात्विक भाव भय, क्रोध, और हर्ष आदि से उत्पन्न होकर शरीर को अस्थिर बना देता है। वैवर्ण्य में विषाद, रोष और भय आदि के कारण मुखाकृति में मलिनता और कृशता-जन्य विवर्णता आ जाती है। यह विवर्णता विषाद में श्वेतिमा, धूमलता और कालिमा रूप होती है जबकि क्रोध में वह रक्तिमा एवं भय में रक्तिमा तथा शुक्लिमा रूप रहती है। अश्रु की उत्पत्ति हर्ष, रोष और विषाद-जन्य है जिनमें नेत्रों के क्षोभ, राग और समार्जन आदि होता है। प्रलय उस सात्विक भाव का नाम है जो सुख या दुःख के अतिशय के कारण चेष्टा तथा ज्ञान से रहित हो जाने की स्थिति में उत्पन्न होता है।

यों तो सत्व से उत्पन्न होने के कारण स्थायी तथा व्यभिचारी सभी भाव भी सात्विक ही होते हैं, किन्तु मुख्य रूप से स्वेद और स्तम्भ आदि आठ सत्व-मूलक भाव ही सात्विक भाव कहलाते हैं। जिस प्रकार सत्व के न्यूनाधिक्य द्वारा प्राण तथा शरीर के विक्षोभ में भी तारतम्य होता है, उसी प्रकार सात्विक भावों में भी न्यूनाधिक्य तारतम्य पाया जाता है। अधिकाधिक बढ़ते हुए सात्विक भाव क्रमशः धूमायित, ज्वलित, दीप्त तथा उद्दीप्त नाम से चार प्रकार के होते हैं। सात्विक भावों की यह वृद्धि भूरिकालव्यापकता, बह्वंग-व्यापिता और स्वरूपोत्कर्ष के कारण तीन प्रकार की होती है। रूपगोस्वामी ने सात्विक भावों के इन प्रकारों का वर्णन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया है। उनका मत है कि उद्दीप्त भाव ही कृष्णविषयक परमरति अर्थात् 'महाभाव' में और भी अधिक उद्दीप्त हो जाते हैं जिसमें समस्त सात्विक भाव एक साथ चरम सीमा तक पहुंच जाते हैं। उन्होंने बतलाया है कि सात्विक भावों की भांति चार प्रकार के सात्विकाभास भी होते हैं जो या तो रत्याभास और सत्वाभास से उत्पन्न होते हैं या सत्वरहित या विपरीत रूप में पाये जाते हैं। रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' के दक्षिण विभाग की तृतीय लहरी में इन सबका अत्यंत विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

व्यभिचारिभावों की रस संस्थिति

रूपगोस्वामी ने वाचिक, आंगिक और सात्विक रूप से स्थायिभाव की गति का संचालन करने वाले भावों को व्यभिचारिभाव या संचारिभाव कहा है। ये भाव स्थायिभाव रूप अमृत-सागर में ऊर्मिवत् उन्मज्जित और निमज्जित

होते हैं; लहरों के समान उसे संवर्धित करते हैं तथा अन्त में तद्रूपता को प्राप्त होते हैं।[1] उन्होंने काव्यशास्त्र में प्रतिपादित व्यभिचारिभावों के ही समान तैंतीस प्रकार के व्यभिचारिभाव माने हैं और प्रत्येक व्यभिचारिभाव का वर्णन कृष्णभक्ति को उपलक्षित करते हुए किया है। इन व्यभिचारिभावों में से कोई व्यभिचारिभाव किसी दूसरे व्यभिचारिभाव का परस्पर विभाव और अनुभाव भी हो सकता है। जैसे ईर्ष्या निर्वेद का विभाव (कारण) होती है जबकि असूया में ईर्ष्या की निश्चित रूप से अनुभावता रहती है।[2] रूपगोस्वामी ने व्यभिचारिभावों की परस्पर विभावता का वर्णन करने के साथ स्वतन्त्र और परतन्त्र के भेद से भी उनकी प्रकार-गणना की है। व्यभिचारिभावों के अतिरिक्त व्यभिचारिभावाभास भी होता है। उसका प्रयोजक या तो अस्थानत्वरूप प्रातिकूल्य होता है या अनौचित्य। व्यभिचारिभावों की भी उत्पत्ति, संधि, शबलता और शांति नामक चार अवस्थाएं होती हैं। वस्तुतः भावों का यह विवेचन अत्यन्त गहन है। रूपगोस्वामी ने 'भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः' कहकर स्वाभाविक तथा आगंतुक नाम से उनके दो विभाग किये हैं तथा इन दोनों की पृथक् पृथक् रूप से व्याख्याएँ भी की हैं। उन्होंने स्वाभाविक भाव को 'व्याप्यान्तर्बहिः स्थितः' माना है और मंजिष्ठा राग से उपमित किया है। उसके प्रति विभावों की विभावता नाममात्र की ही होती है। आगंतुक भाव पटादि की लालिमा के समान हैं। वह अपने विशेष कारणों से ही उत्पन्न होता है और उन्हीं से बढ़ता है। रूपगोस्वामी ने इस विषय का भी विश्लेषण किया है कि भावों के वैशिष्ट्य की भाँति भक्तों में भी वैचित्र्य होता है। उन्होंने चित्त की स्थिति गरिष्ठ, गम्भीर, महिष्ठ और उत्तान नामक अभिधा से चार प्रकार की मानी है। गरिष्ठ चित्त स्वर्णपिण्डवत् होता है तो लघिष्ठ चित्त तूलपिण्डवत्। गम्भीरचित्त को सिंधुसम तथा उत्तान को 'पल्लवादिवत्' कहा जा सकता है। महिष्ठ चित्त में भाव विद्यमान होने पर भी नहीं दिखलाई देते, किन्तु क्षोदिष्ठ चित्त में वे अनायास ही प्रदर्शित हो जाते हैं। कर्कशचित्त वज्र, स्वर्ण और जतु के समान माना गया है और कोमलचित्त मोम, मक्खन तथा अमृत के तुल्य। रूपगोस्वामी का निर्णय है कि श्रेष्ठ कृष्णभक्तों का चित्त अमृत के समान स्वभावद्रवीभूत तथा गरिष्ठादि गुणों से युक्त रहता है।

स्थायिभावका लक्षण और कृष्णविषयक 'रति' का प्राधान्य

रूपगोस्वामी ने स्थायिभाव की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'जो भाव

---

1. भक्तिरसामृतसिंधु- दक्षिणभाग, चतुर्थी लहरी, श्लोक-संख्या 1-3
2. भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण भाग, चतुर्थ लहरी श्लोक संख्या 4-8

अविरुद्ध और विरुद्ध समस्त भावों को अपने वश में करके उत्तम राजा के समान शोभित होता है, वह 'स्थायिभाव' कहलाता है। भक्तिशास्त्र में श्रीकृष्ण विषयक रति ही स्थायिभाव है जिसे रसज्ञों ने मुख्य तथा गौणी नामक दो भेदों में परिकीर्तित किया है। शुद्धत्व विशेषात्मारति ही मुख्य रति है जिसके स्वार्था और परार्था नामक दो भेद हैं। स्वार्थारति अविरुद्ध और स्फुट भावों से अपने को पुष्ट करती है और विरुद्ध भावों के द्वारा उसका अभिभव करना कठिन हो जाता है। परार्था रति का कार्य स्वयं का संकोच कर अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भावों का पोषण करना है। मुख्य परार्था रति को शुद्धा प्रीति, सख्य, वात्सल्य तथा प्रियता-भेद से पाँच प्रकारों में विभक्त किया गया है। इनमें भी शुद्धारति सामान्या स्वच्छा और शांति नामक तीन प्रकारों की होती है और वह अंगों में कम्पन तथा नेत्रों में मीलनोन्मीलन उत्पन्न करती है। रति के शेष प्रकारों में भी श्रीकृष्ण तो आलम्बन होते ही हैं। इन सब रतियों के भेदोपभेदों का विवेचन 'भक्तिरसामृतसिंधु' के दक्षिण विभाग की पंचम लहरी में किया गया है।

गौणी रति के प्रयोजन-प्रकार और उनकी रसमयता

रूपगोस्वामी ने गौणी रति का निरूपण करते हुए लिखा है कि जो रति विभाव के उत्कर्ष से उत्पन्न भावविशेष को, स्वयं संकुचित सी होती हुई ग्रहण करती है, वह गौणी रति कहलाती है। गौणी रति के प्रयोजक सात प्रकार के भाव-विशेष होते हैं, जिनके नाम हास, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा हैं। इनमें से जुगुप्सा को छोड़ कर शेष छह भावों में श्रीकृष्ण विभाव हो सकते हैं। जुगुप्सा रति में केवल देहादि का ही विभावत्व स्वीकार्य है।[1] 'रूप-गोस्वामी का मत है कि हासादि सातों भाव विशेष किसी विशेष भक्त में रति द्वारा सौन्दर्यातिशय प्राप्त कर उस समय की लीला आदि के अनुसार कुछ काल के लिए स्थायित्व प्राप्त कर लेते हैं, अतः उन्हें स्थायिभाव कहा जाता है। गौणी रति के हास आदि भेदों में कोई आधार नियत नहीं है। किसी नियत आधार के अभाव में ये सातों सामयिक भाव सहज होने पर भी बलिष्ठ भावों से तिरस्कृत होकर लीन हो जाते हैं। अपने आधारों के कारण अपने स्वरूप में सर्वत्र विद्यमान रति आत्यंतिक स्थायिभाव है जो समस्त भक्तों में रहता है। विपक्ष अर्थात् भक्तों से भिन्न व्यक्तियों में स्थायिभावत्व को प्राप्त होने पर भी भक्ति रस के क्षेत्र में इस रति के बिना हास आदि सारे भाव व्यर्थ हो जाते हैं। सच तो यह है कि रतिशून्य होने के कारण अविरुद्ध भावों से सबलित होकर

---

1. भक्तिरसामृतसिंधु- दक्षिण विभाग, पंचम लहरी श्लोक सं. ३०-३२

अखिल व्यभिचारिभाव अपने समन्वित रूप में भी भक्तिरस की योग्यता नहीं प्राप्त कर सकते। निर्वेदादि व्यभिचारिभाव नष्ट हो जाते हैं, अत उनको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता। मति और गर्व आदि तो स्थायिभाव हो ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति मे यही कहना उचित है कि हासादि सातो रति-भाव ही संपुष्ट होकर भक्तो मे स्थायिभाव बनते हैं तथा श्रीकृष्ण के प्रति अपना प्रेम सर्वाधित करते हैं।[1] रूपगोस्वामी ने हासादि रति भावो के लक्षण निरूपित कर उदाहरण पुरस्सर उनका विवेचन किया है। उनका मत है कि हासादि भावो मे रतिरूप का ही प्राधान्य है और जब तक वे रसावस्था प्राप्त नही कर लेते, तब तक 'स्थायिभाव' ही कहलाते हैं।

रूपगोस्वामी ने काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार तैंतीस व्यभिचारिभाव, आठ स्थायिभाव और आठ सात्विक भाव के योग से कुल उन्चास भाव माने हैं। उनका यह कथन उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने यह तथ्य स्वीकार किया है कि 'श्रीकृष्ण के साथ सम्बद्ध होने के कारण त्रिगुणातीत तथा प्रौढानन्द रूप होते हुए भी त्रिगुणात्मक पदार्थों से उत्पन्न होने के कारण वे सब भाव सुख-दुःखमय अर्थात उभयात्मक से प्रतीत होते हैं।[2] 'सुखप्रधान भावों को शीत तथा दुःखात्मक भावों को उष्ण भी कहते हैं। यह एक विचित्र बात है कि परमानन्द-मयी होने पर भी रति स्वभावत शीत भाव न होकर उष्णभाव मानी जाती है, किन्तु बलिष्ठ शीतभावो से पुष्ट होकर वह शीतरूप बन जाती है। वही रति उष्णभावों के सम्पर्क से अत्यधिक उष्ण होकर सतापित करती हुई सी प्रतीत होने लगती है जिसके कारण विप्रलम्भ मे दुःख का भारातिशय्य सा आभासित होने लगता है।[3] वस्तुतः रूपगोस्वामी भी इस मत के समर्थक हैं कि मुख्या और गौणी नामक रति श्रीकृष्ण आदि के स्मरण, दर्शन और स्मरण द्वारा उनके विभावादि की रूपता प्राप्त कर भक्तो मे रस-रूप हो जाती है। उन्होंने 'पानक' के स्थान पर 'रसाल' शब्द का प्रयोग कर रसानुभूति का आनन्द स्पष्ट किया है। इस विषय में उनकी निम्नोक्त कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं.

रतिद्विधाऽपि कृष्णाद्यैः श्रुतिरूपतैः स्मृतैः।
तैर्विभावादिता बद्भिस्तद्भक्तेषु रसो भवेत्॥
यथा दध्यादिकं द्रव्यं शर्करामरिचादिभि.।
सयोजनविशेषेण रसालाख्यो रसो भवेत्॥[4]

---

1. भक्तिरसामृतसिंधु दक्षिणभाग, पचम लहरी, श्लोक-संख्या-35-41
2. वही, श्लोक-सख्या 61-62
3. भक्तिरसामृतसिंधु: दक्षिणभाग, पंचम लहरी, श्लोक सख्या 61-62
4. वही, श्लोक सख्या 63-64

'पानक' अथवा 'रसाल' रस की प्रक्रिया

श्री रूपगोस्वामी ने बतलाया है कि यों तो 'रसाल' नामक आस्वाद्य रस भक्तों के अंतःकरण में अपूर्व चमत्कार की उत्पत्ति करता है, किन्तु वह रत्यादि विभावों द्वारा एक रूप में होते हुए भी प्रमाताओं की भिन्न-भिन्न विशेषताओं के कारण अनेक रूपमय भी प्रतीत होता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले विभावादि अवयव रस की एकरूप अखण्डता प्राप्त कर कभी-कभी विशेष रूप की प्रतीति कराते हैं जिसे पानक-रस की प्रक्रिया से समझा जा सकता है।[1] विभाव का अर्थ है 'रति की तत्तद् आस्वाद-विशेष के लिए योग्यता उत्पन्न करने का साधन।' उसकी सामान्य व्युत्पत्ति "विभाव यति आस्वादयोग्यता कुर्वन्ति इति विभावा" के रूप में की जा सकती है। 'अनुभावयन्ति इति अनुभावा' की व्युत्पत्ति के अनुसार यदि रति का अनुभव कराने वाले अथवा उसके आस्वादित्विषय को हृदय के अंतर्गत व्याप्त कराने वाले 'अनुभाव' हैं तो 'सञ्चारयति इति सञ्चारिण' के अनुसार आस्वाद-योग्य एवं अन्तःकरण में अनुभूत होने वाली रति को जो संचारित करते हैं अथवा विचित्रता को प्राप्त कराते हैं, उन्हीं का नाम 'संचारिभाव' है। 'विभावादि के ये लक्षण रूपगोस्वामी को भी अभिप्रेत हैं और उन्होंने भक्तिरस की निष्पत्ति की प्रक्रिया में उनका समुचित प्रयोग किया है। उनका तो स्पष्ट मत है कि विभावताऽऽदीनानीय कृष्णादीन्मंजुलारति 'अर्थात् मंजुलरति ही कृष्णादि को अपना विभाव बना कर विभावन आदि व्यापारों को प्राप्त अनुभावादि के द्वारा अपने आपको पुष्ट करती है जिससे रस की निष्पत्ति होती है।' उनका तो यहाँ तक कहना है कि परिपक्व रति वालों के लिए तो काव्य और नाट्य की भी कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि उन्हें सामान्य रूप से की जाने वाली भगवच्चर्चा में भी अलौकिक रस का आस्वादन होने लगता है। वास्तव में नाटकादि का दर्शन और काव्यादि का पठन-पाठन तो अंकुरित रति के लिए परिपोषक मात्र है। इस विषय में निम्नलिखित कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं :

रत्नालयो भवत्येभिर्वृष्टैस्तैरेव वारिधि।
नवे रत्यंकुरे जाते हरिभक्तस्य कस्यचित्॥

---

1. प्रतीयमाना प्रथमं विभावाद्यास्तु भागशः।
गच्छन्तो रसरूपत्वं मिलिता यान्त्यखण्डताम्॥
यथा मरिचखण्डादेरेकीभावेऽपि पानके-
उद्‌भासः कस्यचित् क्वापि विभावादेस्तथा रसः॥

विभावत्वादि हेतुत्वं किंचित्तत्काव्यनाट्ययो. ।
हरेरोपच्छ्रु ति विधौ रसास्वादः सतां भवेत् ॥[1]

भक्ति-रस के आलोक में रस-सिद्धान्त का अंतर्बोध

यद्यपि रूपगोस्वामी का विवेचन मुख्यत. भक्ति-रस की प्रतिष्ठा के लिए ही अभिप्रेत है, किन्तु उसके द्वारा काव्यस्वाद के व्यापक सिद्धांत भी हस्तगत हो जाते हैं। उन्होंने भगवद्विषयक रति को अपनी विवेचना का मुख्य आधार बनाकर अपना मंतव्य व्यक्त किया है और बतलाया है कि समस्त रस-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण उसके माध्यम से सहज रीत्या किया जा सकता है। अन्य आचार्यों की भाँति उन्हें भी रस का अलौकिकत्व मान्य है और वे भी विभावादि के अन्तर्गत साधारणीकरण की एक ऐसी शक्ति मानते हैं जिसके कारण प्रमाता अथवा सामाजिक अपने आपको विभावादि रूप राम आदि से अभिन्न समझने लगता है। लौकिक स्थिति में स्वसंबद्ध रूप में अपने हृदय के भीतर प्रतीत होने वाले दु:खादि मनोभाव भी काव्यनाटकगत अलौकिक विभावादि के कारण प्रबल आनन्दात्मक रसास्वाद उत्पन्न करते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि लौकिक रूप में जिन्हें स्वगत दु:ख कहा जाता है, वह काव्य और नाटक में प्रौढ़ आनन्दरूप हो जाता है।[2]

रूपगोस्वामी ने रस की सुखस्वरूपता के साथ-साथ उसकी साक्षात्कारात्मक प्रतीति मानी है। उनका मत है कि संसार में सुखादि भाव भले ही पराश्रित रूप से प्रतीत होते रहें, किन्तु काव्य और नाटक में विभावनादि व्यापार के कारण सामाजिक के हृदय में वे परमानन्दसंदोह के उत्पादक होते हैं। भरतमुनि के रस-निष्पत्ति-सूत्र के अनुसार तो रसनिष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की त्रयी अनिवार्यत. अपेक्षित हैं, किन्तु रूपस्वामी के मतानुसार काव्य और नाटक आदि में कहीं-कहीं उनमें से एक या दो की अनुपस्थिति होने पर भी रसास्वाद हो सकता है। ऐसे स्थलों पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव में जिन एक या दो का वर्णन उपस्थित होता है, वे शेष दो या एक का आक्षेप करा लेते हैं और इस प्रकार तीनों की उपस्थिति हो जाने से रस-

---

1. भक्तिरसामृतसिंधुः दक्षिण विभाग, पंचम लहरी- कारिका संख्या 77-78
2. प्रमाता तदभेदेन स्वं यथा प्रतिपद्यते ।
   दुःखाद्यः स्फुरंतोऽपि जातु स्वीयतया हृदि ॥
   प्रौढानन्दचमत्कारचर्वणामेव तन्वते ।
   पराश्रयतयाप्येते जातुयातः सुखादयः ॥ वही- कारिका संख्या 86
   (भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग, पंचम लहरी, कारिका 85-86)।

निष्पत्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती। उन्होंने स्त्री पुरुषादि-विषयक सामान्य और लौकिकी रति से भी रस की निष्पत्ति नहीं मानी है क्योंकि लौकिकी रति में तो लज्जा और घृणा जैसे भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं जबकि काव्य और नाटक आदि में साधारणीकरण तथा विभावनादि व्यापार द्वारा वही रति अपने व्यक्ति विशेषानुबद्ध स्वरूप का परित्याग कर सामाजिक भाव में व्याप्त अलौकिक स्वरूप प्राप्त कर लेती है जिसका अर्थ यह है कि वह रसास्वादन रूप है। कृष्ण-रति को तो उन्होंने और भी अधिक अलौकिकी और आश्चर्यमयी कहा है क्योंकि यह कृष्ण का संयोग होने पर भक्त के भीतर अत्यन्त आह्लादप्रद रस विशेष उत्पन्न करती है तथा वियोग दशा में भी अद्भुत आनन्द का विवर्त धारण करती हुई भी वृद्धि को प्राप्त होकर अत्यन्त तीव्र दुःखाभास प्रकाशित करती है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि रूपगोस्वामी के मतानुसार कृष्ण का व्रजवासी रूप ही कृष्ण विषयक रति की चरमावधि है और उसकी श्रीदामा के सम्मुख द्वारिकाधीश कृष्ण के महान कार्यों की भी कोई महत्ता नहीं है क्योंकि व्रजवासी कृष्ण के मुखनव का अगस्त्य नक्षमोपरि कृष्ण की माधुरी से उत्पन्न आनन्द-सागर का भी पान कर सकता है। इस विषय में उस 'भक्तिरसामृतसिंधु' की पंचम लहरी की निम्नलिखित कारिकाएँ उद्धृत करने योग्य हैं

> हृदये परमानन्दसंदोहमुपबिम्बवत् ।
> सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्विविन्मात्रस्य जायते ॥ 87 ॥
> सद्यश्चतुष्टयाशेषात्पूर्णतैवोपपद्यते ।
> रतिः स्थिताऽनुकार्येषु लौकिकरत्यादिहेतुभिः ॥ 88 ॥
> रसः स्यान्नेति नाट्यज्ञा यदाहुर्युक्तमेव तत् ।
> अलौकिकी त्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्भुताद्भुता ॥ 89 ॥
> योगे रसविशेषत्वं गच्छत्येव हरिप्रिया ।
> वियोगे त्वद्भुतानन्द विवर्तत्वं दधत्यपि ॥ 90 ॥
> तनोत्येषा प्रगाढार्तिमरामासत्वभूजिता ।
> तत्रापि वल्लमाधीशमदनालम्बना रतिः ॥ 91 ॥
> सान्द्रानन्दचमत्कारपरमावधिरिष्यते ।
> मत्गुणौघाल्पवागस्त्यं पिबत्येव स्वतन्त्रमा ॥ 92 ॥
> रमणमाधुरीमालात्कारानन्दाब्धिमप्यलम् ।
> परमानन्दतादात्म्याद्रत्यादेरस्य वस्तुनः ॥ 93 ॥

श्री रूपगोस्वामी को रस का स्वप्रकाशत्व और अखण्डत्व भी मान्य है। इस विषय में वे भारतीय काव्यशास्त्र की रस विषयक विचारधारा से पूर्ण सहमत हैं। रसानुभूति एक प्रकार से आत्मानुभूति ही है और आत्मा ब्रह्मस्वरूप

है जिसका अर्थ यह है कि उसमें ब्रह्म का आनन्दपरक गुण होना अनिवार्य सा है। ब्रह्म की अनुभूति के समान रसानुभूति भी स्वप्रकाश और अखण्ड है और उसे घट-पट आदि सांसारिक पदार्थों के समान 'पर-प्रकाश' या 'चिदाभास्य' नहीं कहा जा सकता। आत्मा का स्वप्रकाशत्व सूर्य के प्रकाश द्वारा उपमित किया जा सकता है। जिस प्रकार सूर्य अपना स्वरूप स्वयं प्रकाशित करता है, तथा संसार के अन्य पदार्थों का भी प्रकाशन करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वप्रकाश स्वरूप है तथा अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। ब्रह्म की अखण्डता की भाँति रस भी अखण्ड है और वह वेदान्त के मतानुसार सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद से शून्य है। इसी बात को ध्यान में रख कर श्री रूपगोस्वामी ने रति को तत्वतः ब्रह्मास्वादरूप परमानन्द से भिन्न और परमानन्द-तादात्म्य रूप कहा है जिससे उसकी स्वप्रकाशता और अखण्डता सिद्ध होती है।

भक्ति-रस के प्रकार और उनके वर्ण तथा देवता

रूपगोस्वामी ने मुख्य रति और गौण रति के अनुसार भक्ति के भी मुख्य तथा गौण नामक दो प्रकार माने हैं। उन्होंने मुख्य भक्ति-रस में शांत, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल और मधुर नामक भेदों की गणना की है तथा गौण भक्ति-रस में हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स भक्ति रस को। इस प्रकार उनके मतानुसार क्रमशः पाँच और सात के भेदों में मुख्य तथा गौण भक्ति रस विभक्त है और वह सब मिलाकर बारह प्रकार का होता है। पुराणों में मुख्यतया पाँच ही प्रकार का भक्तिरस माना गया है और गौण भक्तिरसों का अंतर्भाव रसों में न किया जाकर भावों में कर लिया है।

भरतमुनि आदि काव्यशास्त्रियों की भाँति रूपगोस्वामी ने रसों के वर्णों और देवताओं का भी वर्णन किया है। दोनों के वर्णन में पर्याप्त साम्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि भरतमुनि ने नौ प्रकार के रसों के वर्ण और देवता निरूपित किये हैं, किन्तु रूपगोस्वामी ने बारह प्रकार के। एक विशेष बात यह भी है कि उन्होंने जिन सात रसों को गौण भक्तिरस के रूप में स्वीकार किया है, वे काव्य-शास्त्र में स्वतन्त्र रस के रूप में विवेचित हैं। उनके द्वारा विवेचित मधुर रस वस्तुतः शृंगार रस का ही रूप है। भरतमुनि द्वारा विवेचित रसों के वर्णों और देवताओं का विवरण प्रायः सर्वत्र सुविदित है अतः उनका पिष्टपेषण करना उचित न समझ कर हम रूपस्वामी द्वारा विवेचित विवरण का उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। रूपगोस्वामी के अनुसार शांत, प्रीति, प्रेयान्, वात्सल्य, मधुर नामक मुख्य भक्तिरसों के वर्ण क्रमशः श्वेत, चित्र, अरुण, शोण और श्याम हैं तो हास्य, अद्भुत, वीर करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स नामक गौण भक्ति

रसों के वर्ण क्रमशः पांडुर, पिंगल, गौर धूम्र, रक्त, श्याम और नील हैं। इसी क्रम में उनके देवताओं के नाम कपिल, माधव, उपेन्द्र, नृसिंह, नंदनंदन, बलराम, कूर्म, कल्कि राघव, भार्गव, किरि और बुद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रूप-गोस्वामी ने रसों के रंग-वर्णन में तो भरतमुनि का अनुगमन किया है, किन्तु उनके देवताओं के निरूपण में स्वतंत्रता से काम लिया है। एक विशेष बात यह है कि उनके द्वारा निरूपित देवताओं में मत्स्यावतार को छोड़ कर भगवान विष्णु के शेष नौ अवतार समाविष्ट हो गए हैं। उन्होंने शेष तीन रसों के लिए कपिल, माधव और उपेन्द्र नामक देवताओं की परिकल्पना कर अपने विवेचन को पूर्ण बना लिया है। उनके इस विवेचन में एक-दो परिवर्तन चिन्त्य और विचारणीय हैं। साहित्यशास्त्र में शांत और बीभत्स रस के देवता क्रमशः बुद्ध और महाकाल माने गए हैं, किन्तु रूप गोस्वामी ने उनके स्थान पर क्रमशः कपिल और बुद्ध को रखा है। इनमें कपिल को तो भले ही शांत रस का देवता मान भी लिया जाय, किंतु बुद्ध जैसे शांतिप्रिय देव को बीभत्सरस का देवता मानना अनेक दृष्टियों से अनुचित है। सम्भव है इस प्रकार के परिवर्तन के मूल में या तो कोई साम्प्रदायिक भावना रही हो या मूल अंश परिवर्तित कर दिए गये हों या वे क्षेपक-रूप हों। 'भक्तिरसामृतसिंधु' के दक्षिण विभाग की पंचम लहरी की कारिका संख्या 96 से लेकर कारिका संख्या 101 तक यह सारा वर्णन प्रस्तुत किया गया है—

> मुख्यस्तु पंचधा शान्तः प्रीतिः, प्रेयाश्च वत्सलः ॥
> मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमा।
> हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि ।।
> भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा।
> एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते।।
> वस्तुतस्तु पुराणादौ पंचधैव विलोक्यते।
> श्वेतश्चित्रोऽरुणः शोणः श्यामः पाण्डुरपिंगलौ।
> गौरो धूम्रस्तथा रक्तः कालोनील क्रमादमी।
> कपिलो माधवोपेन्द्रो नृसिंहो नंदनंदनः ।।
> बलः कूर्मस्तथा कल्की राघवो भार्गवः किरि।
> बुद्धः इत्येषु कथिताः क्रमाद् द्वादशदेवता ।।

भक्ति-रस के आस्वादन के आधार

रूपगोस्वामी ने पंचविध भक्ति रसों का आस्वाद चित्त की पांच प्रकार की विशेष अवस्थाओं के आधार पर निरूपित किया है जिन्हें क्रमशः पूर्ति, विकास,

विस्तार, विक्षेप तथा विक्षोभ नामक अवस्थाएँ कहा जा सकता है। उन्होंने शांत में 'पूर्ति,' प्रीति, प्रेयवान्, वात्सल्य, मधुर तथा हास्य में 'विकास,' वीर तथा अद्भुत में 'विस्तार', करुण तथा रौद्र में 'विक्षेप,' और भयानक तथा वीभत्स में 'विक्षोभ' नामक चित्त-वृत्तियों का योग माना है। चित्तवृत्तियों का यह वर्णन साहित्य शास्त्र की मान्यता पर आधारित सा है, क्योंकि वहाँ भी विकास, विस्तार क्षोभ तथा विक्षोभ नामक चार अवस्थाएँ मानी गई हैं जिनमें क्रमश शृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र तथा उनसे जन्य हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण रसों का क्रमिक सम्बन्ध है। साहित्यशास्त्रियों ने शान्त रस को अभिनेय न मानने के कारण उस ओर ध्यान नहीं दिया था, किन्तु भक्ति रस में तो शान्तरस का विशिष्ट महत्व है। रूपगोस्वामी ने शान्तरस के आस्वाद का सम्बन्ध 'पूर्ति' या 'तृप्ति' नामक चित्तावस्था के साथ जोड़ कर सर्वथा उचित विधान ही किया है।

भक्ति-रस के साधक :

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि करुण, भयानक और वीभत्स आदि रसों को उत्पन्न करने वाली विभावादि सामग्री लौकिक दृष्टि से दु खजनक होती है, किन्तु काव्य तथा नाट्य में अपने अलौकिक व्यापार के कारण वह सुखात्मक बन जाती है। रूपगोस्वामी ने अपनी भक्तिरसविषयक विवेचना में भक्तिरस के साधकों के पाँच भेद-भव्य, भावक, प्राज्ञ, अज्ञ, और ग्राम्य मान कर भाव्य तथा भावक भक्तों को प्रमुख्य प्रदान किया है। उनके मतानुसार कृष्ण की लीलाओं के साथी अथवा 'लीलापरिकर' भक्त भाव्य भक्त हैं तथा शेष भावक भक्त हैं। अज्ञ, ग्राम्य तथा प्राज्ञ, भक्त एक प्रकार से भावक भक्तों के ही भेद हैं। इनमें अज्ञ, और ग्राम्य तो निम्न कोटि के भक्त हैं, किन्तु प्राज्ञ उत्तम कोटि के। प्राज्ञ भक्तों के लिए साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त 'सहृदय' शब्द उपयुक्त कहा जा सकता है। वस्तुत. वे ही रसास्वाद के सच्चे अधिकारी हैं और उन्हें ही करुणादि सामग्री भी सुखजनक अनुभूत होती है। इस विषय में हम यहाँ अधिक लिखना उचित नहीं समझते क्योंकि करुणरस में हमें किस प्रकार आनंदानुभूति होती है। इसका विवेचन रसों की सुखद. स्वरूपता शीर्षक निबन्ध में कर दिया गया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ तथा अन्य आचार्यों ने भी करुणादि रसों से सुखोपलब्धि का उल्लेख कर 'सचेतसामनुभव प्रमाणं तत्र केवलम्' की बात अन्यथा नहीं लिखी है। सच तो यह है कि करुण संज्ञक रस ही सर्वत्र उत्पादक होता है अन्यथा करुणरसाभिषिक्त रामायण आदि काव्य हनुमान जैसे सहृदयजनों के लिए किस प्रकार प्रीतिकारक हो सकते थे—

सर्वत्र करुणाख्यस्य रसस्यैवोपपादनात् ।
भवेद्रामायणादीनामन्यथा दु खहेतुता ॥

तथात्व रामपादाब्जप्रेमकल्लोलवारिधि ।
प्रीत्या रामायण नित्य हनुमान् शृणुयात्त्वम् ॥

भक्तों की पारस्परिक रति तथा भक्ति रस के अधिकारी पात्र

भक्तिरस के इस विवेचन के सन्दर्भ म अब केवल दो विषयो का उल्लेख करना अवशिष्ट है। प्रथम तो यह है कि भगवद्भक्तो म एक दूसरे के प्रति जो पारस्परिक रति पाई जाती है यह रस न होकर 'भावमात्र' होती है और द्वितीय यह है कि वैराग्य तथा शुष्क ज्ञान का अवलम्बन करने वाले वेदान्ती या कोर तार्किक एवम् कर्मकाडी मीमासक भक्तिरस का आस्वादन करने म असमर्थ हैं। मीमासक तो उनम सबस निम्नकोटि के हैं अत उनसे भक्तिरस रूपी महानिधि उसी प्रकार छिपाकर रखना चाहिए जिस प्रकार चोर से महानिधि बचाई जाती है। सच तो यह है कि अभक्त जनों के लिए भक्तिरस सर्वथा दुरूह है और उसका आनद केवल वे ही व्यक्ति ले सकते हैं जिनके लिए भगवान के चरणार्विद ही सर्वस्व हैं। इस विषय म रूपगोस्वामी जी ने उचित ही लिखा है—

मीमासका विशेषण भक्त्यास्वादबहिर्मुखा ।
इत्यय भक्तिरसिकैश्चौरादिव महानिधि ।
शुष्कमीमासकाद्रक्ष्य कृष्णभक्तिरस सदा ।
सर्वथैव दुरूहोऽयमभक्तैर्भगवद्रस ॥
तत्पदाम्बुजसर्वस्वैर्भक्तैरेव वाद्य रम्यते ।
व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कृतिभारभू ॥[1]

1. भक्तिरसामृतसिंधु दक्षिण विभाग, पचम लहरी, कारिका 112-114

8
शांत रस की आस्वाद्यता और स्थिति

शांत रस की आस्वाद्यता:

क्या शमप्रधान शान्तरस भी काव्य का आस्वाद्य होता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर भरतमुनि से लेकर अद्यावधि अनेक आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से दिया है। अभिनवगुप्तकृत भरतमुनि की व्याख्या के अनुसार शांत रस शमस्थायिभावात्मक मोक्षप्रवर्तक रस है जिसकी उत्पत्ति तत्वज्ञान, वैराग्य और आशयशुद्धि आदि विभावों से होती है। दृश्य काव्य में उसका अभिनय प्रयोग यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना, सर्वभूतदया, लिंगग्रहण (सन्यास-धारण) आदि अनुभवों द्वारा किया जाना चाहिए। निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ और रोमांच आदि उसके व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने नवम रस के रूप में शांत रस की प्रतिष्ठा करते हुए लिखा है कि यह रस मोक्ष और अध्यात्मसाक्षात्कार का जनक, तत्वज्ञान रूप हेतु से युक्त तथा निःश्रेयस सिद्धि के लिए उपदृष्टि है जिसकी उपलब्धि बुद्धि तथा इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) का निरोध करने वाले आत्मनिष्ठ साधकों को होती है तथा जो समस्त प्राणियों के सुखहित का विधायक होता है। वस्तुतः यह रस सुख, दुःख, द्वेष और मत्सर आदि भावनाओं से रहित तथा समस्त प्राणियों में समभावनिरूपक है। उनका कथन है कि शृंगार आदि रसों के स्थायिभाव प्रकृतिरूप शांत रस के ही विकार मात्र हैं जो शांत रस से ही उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाते हैं।

मूलरस के रूप में प्रतिष्ठा

शांत रस को प्रमुख तथा मूल रस रूप में प्रतिष्ठित करने वाले आचार्यों की मान्यता है कि जिस प्रकार इस संसार में धर्म, अर्थ और काम नामक पुरुषार्थ-त्रय की प्रतिष्ठा की गई है, उसी प्रकार शास्त्र, स्मृति तथा इतिहास-ग्रंथों में मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ की सत्ता भी स्वीकार की गई है। उनके मतानुसार जिस प्रकार काम आदि के योग्य रति आदि शब्दों से निर्दिष्ट चित्तवृत्तियां कवियों और नटों के व्यापार द्वारा उस प्रकार के हृदयस्पर्शी सामाजिकों के प्रति शृंगार आदि के रूप में आस्वाद-योग्य बनाई जाकर रसरूप को प्राप्त होती हैं, उसी

प्रकार मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के योग्य शमरूप चित्तवृत्ति भी आस्वादयोग्य बनकर शांतभाव को प्राप्त होती है। वस्तुतः मोक्षरूप पुरुषार्थ की साधिका चित्त वृत्ति ही शांत-रस का स्थायिभाव है। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त के विचार उल्लेखनीय हैं जिन्होंने शांत रस को मूल रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेयस्कर प्रयास किया है। यद्यपि उनके पूर्व भरतमुनि ने शान्तातिरिक्त शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर भयानक, वीभत्स और अद्भुत नामक केवल आठ 'नाट्यरस' माने थे, किन्तु अभिनवगुप्त ने अपने मत की सम्पुष्टि के लिए भरतमुनि के क्षेपक रूप में प्रसिद्ध छंदों को प्रामाणिक रूप में उद्धृत करने का उपक्रम किया है।[1] उन्होंने शांतरस का स्थायिभाव शमप्रधान आत्मज्ञान को माना है जो परिकल्पित विषयभोग आदि वासनों से रहित और विशुद्ध ज्ञानानंद स्वरूप होता है। उनका मत है कि रस का सच्चा स्वरूप तो केवल शानरस में ही अंतर्भूत है क्योंकि रति और शोक आदि स्थायिभाव भी शान्तरस में स्थायी आत्म-चैतन्य की स्थिति प्राप्त कर शृंगार और करुण आदि रसों में परिणत होते हैं। शांत रस की प्रशंसा में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य अभिनवगुप्त लोकोत्तर आनंद का प्रापक केवल शांत-रस को ही मानते थे क्योंकि उसके द्वारा विषयजन्य दुःखों का विनाश और आत्मरूप ज्ञान का प्रकाश होता है। उनके अनुसार शांतरस का 'तत्वज्ञान' संज्ञक स्थायिभाव सकलभावान्तरभित्ति का स्थानीय और समस्त स्थायिभावों का भी स्थायी है। उन्होंने शांतरसेतर प्रत्येक रस की स्थायी वृत्तियों का उल्लेख कर अनेक उदाहरण देते हुए यह बात सिद्ध करनी चाही है कि शांत रस के प्रसंग में इत्यादि अन्य स्थायी वृत्तियाँ स्वभावतः व्यभिचारित्व को प्राप्त हो जाती हैं क्योंकि शांत रस में पृथक् स्थायी की कल्पना की ही नहीं जा सकती। अभिनवगुप्त से अधिक प्रबल शब्दों में शांत रस की महत्ता का निरूपण अन्य किसी भी आचार्य ने नहीं किया है। उनकी विचारधारा से प्रकट है कि वे शृंगार और हास्य आदि रसों को शांत रस के ही रूपान्तर मानते थे तथा उनका विश्वास था कि अन्य सभी रसों के स्थायिभाव शांत रस के प्रति उन्मुख होकर ही चलते हैं।

विरोधी विचारकों के तर्क-वितर्क

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने गहन चिंतन और तर्क-बल पर शांत रस को

---

1. भावा विकारा रत्याद्या शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
   विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥
   स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तान् भावः प्रवर्तते।
   पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

मूर्द्धन्य स्थिति स्वीकार की है जो उनके विरोधी विचारकों को मान्य नहीं है। उनके विरोधी विचारकों ने विविध दृष्टि-बिंदुओं के आधार पर शांतरस के अस्तित्व पर शंका करते हुए अपने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनका सम्यक् विमर्श करने के पश्चात् आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने मत का सत्यापन किया है। विरोधी विचारकों के तर्कों और उनकी युक्तियों का सामान्य रूप निम्नलिखित है—

(1) शम और शान्त दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। शांतरस के समर्थकों का यह कथन कि शम और शांत में क्रमशः स्थायिभाव और रस का विभेद है, समीचीन नहीं है। जब शम और शान्त शब्द समानार्थक हैं तो फिर भला शांत को रस तथा शम को स्थायिभाव कैसे माना जा सकता है ? वस्तुतः शात नामक कोई रस होता ही नहीं है।

(2) शम को स्थायिभाव और शान्त रस को रस मानना इसलिए भी उचित नहीं है कि आचार्यों ने भावों की जो ४९ संख्या नियत की है, उसमें 'शम' भाव की गणना नहीं है ; शांत को रस-रूप में मानने पर 'शम' को उसका स्थायिभाव मानना पड़ेगा जिसका परिणाम यह होगा कि भावों की संख्या पचास हो जायेगी। यदि शांतरस आचार्यों का अभिप्रेत होता तो वे 'शम' स्थायिभाव की गणना भावों के अंतर्गत करते हुए उनकी संख्या उनचास नहीं मानते।

(3) ऋतु माल्य आदि विभाव अपने सनंतरभावी शृंगार आदि रसों में कारणरूप से प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु तप और स्वाध्याय आदि अपने उत्तरवर्ती शांत या शम में कारणरूप से प्रतीत नहीं होते। तप और स्वाध्याय को शम या शांत का विभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे शम या शांत के प्रति साक्षात् कारण नहीं होते। इसके साथ ही साथ कामादि के अभाव को भी शांतरस का अनुभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शांत से भिन्न वीर आदि रसों में भी कामादि का अभाव विद्यमान रहता है।

(4) शांतरस का प्रयोग अथवा अभिनय में समावेश नहीं किया जा सकता क्योंकिचेष्टाविहीन व्यापार का नाम 'शम' है और चेष्टा के अभाव का अभिनय करना सम्भव नहीं है। शयन और मूर्छा आदि चेष्टाओं द्वारा अनुभावित किया जा सकता है किन्तु 'शम' भाव का अभिनय किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। अतः नाटक में तो शांतरस की सत्ता मानी ही नहीं जा सकती।

(5) धृति आदि भाव शांतरस के व्यभिचारी भाव नहीं कहे जा सकते, क्योंकि विषयों का उपभोग करने से उत्पन्न तृप्तिरूप 'धृति' शांतरस में कैसे हो सकती है ?

(6) शमप्रधान व्यक्ति चेष्टा-विहीन होकर अधिष्ठित रहता है। उसके द्वारा तत्वज्ञान के उपायों का अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है। तत्वज्ञान का अनुष्ठान न

होने से मोक्षरूप फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः मोक्षप्रवर्तक रस के रूप में शान्त रस की सत्ता कैसे मानी जा सकती है ?

(7) शान्तरस को सुख-दुःखादि भावों से रहित माना जाता है, किन्तु शान्तरस के साधक तत्वज्ञान अथवा सम्यक्दर्शन की अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् भी संसार में 'परदुःखदुःखित-मन' वाले देखे जाते हैं अतः शान्त रस का अस्तित्व किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं है।

शान्तरस की स्थिति के विरुद्ध जिन आचार्यों ने अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित की हैं उनमें परम्परावादी आचार्यों का प्रामुख्य है। उनके कथन का निष्कर्ष यह है कि शान्त नामक कोई रस ही नहीं होता क्योंकि आचार्य भरतमुनि ने तो उसका लक्षण ही दिया है और न उसके विभावादि का ही प्रतिपादन किया है। इन आचार्यों का मत है कि शान्तरस का वस्तुतः अभाव ही मानना चाहिए क्योंकि अनादिकाल से चले आ रहे राग और द्वेष आदि का उच्छेद असम्भव है। कुछ आचार्य शान्तरस का अन्तर्भाव वीर और बीभत्स आदि रसों में कर लेते हैं और शम 'नामक' भाव की कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं मानते। नाट्याचार्यों ने 'शम' भाव से निष्पन्न होने वाले शान्त रस को अनभिनेय कह कर नाटकादि अभिनेय काव्यों में उसके स्थायित्व का सर्वथा निषेध किया है। कुछ आचार्यों के मतानुसार शम के अतिरिक्त जिन आठ स्थायिभावों को मान्यता प्राप्त है, उनका स्थायित्व इस हेतु माना गया है कि वे मधुर आदि पदार्थों की भाँति रसनशील अर्थात् आस्वाद्य हैं और वह आस्वाद्यता निर्वेद आदि व्यभिचारिभावों में भी पर्याप्त मात्रा में रहती है अतः वे भी रस रूप कहे जा सकते हैं। इन आचार्यों के मत में आठ प्रकार के स्थायिभावों के अतिरिक्त अन्य भावों में भी इनका अभ्युपगम हो सकता है अतः अन्य स्थायिभावों की सम्भावना भी सहज सम्भव है। जो आचार्य आठ ही प्रकार के स्थायिभाव मानते हैं उनके मतानुसार निर्वेदादि में तद्रूपता नहीं है अतः वे अस्थायी और अनास्वाद्य हैं।[1] उनकी पुष्टि विरसता का ही कारण बन सकती है, अतः निर्वेदादि भावों को स्थायी नहीं माना जा सकता क्योंकि वे अपनी सवरणशीलता के कारण विरुद्ध अथवा अविरुद्ध किसी भी प्रकार के भावों के सम्पर्क में अविच्छिन्न नहीं रहते। वे भाव परस्पर चिन्ता आदि के अन्तर्गत आकर यदि परिपुष्ट भी हो जाते हैं तो भी विरसता के ही कारण बनते हैं। अभिप्राय यह है कि शम प्रधान शान्त रस की विवेचना में भावों के स्थायित्व और व्यभिचारित्व को लेकर अनेक प्रकार के ऊहापोह किये गये हैं जिनसे उसकी सत्ता के विषय में मतभेद निर्णय कर लेना सहज नहीं है।

---

1. धनञ्जय दशरूपक, 4/36

धनंजय का अभिमत

दशरूपकार धनंजय तथा उसके व्याख्याता धनिक का मत है कि अपनी अनभिनेयता के कारण शांत रस नाटक में तो अनुप्रविष्ट नहीं है किन्तु उसके काव्य-विषयत्व का निवारण नहीं किया जा सकता।[1] अपनी अत्याधिक सत्ता के कारण जब सूक्ष्मातीत वस्तुएँ भी शब्दों से प्रतिपादित हो सकती हैं तो शांत रस उस प्रतिपादन से कैसे वंचित रह सकता है ? धनंजय ने आनन्द को अभिव्यक्ति और शम का प्रकर्षकारी कहा है। जिसका स्वरूप केवल मोद अथवा आनंद है। महामुनियों ने भी उस रस को शांत रस कहा है जिसमें सुख, दुःख, चिन्ता, द्वेष, राग और इच्छा इत्यादि कुछ नहीं रहते तथा जिसमें सब भावों में 'शम' प्रधान रहता है।[3] निश्चय ही ऐसे रस की निष्पत्ति मोक्षावस्था में ही होने के कारण उसकी आत्मरूप अनिर्वचनीयता असंदिग्ध है। वेदशास्त्रों ने भी उसका वर्णन 'नेति नेति' कहकर अपोह रूप से किया है। वस्तुतः उसके आस्वादिता दुर्लभ होते हैं।

विश्वनाथ के विचार

शांतरस के विरोधियों का कहना था कि जिन मुनीन्द्रों ने शांत रस की प्रतिष्ठा करते हुए उसको सुख, दुःख, चिन्ता, राग, द्वेष आदि इच्छा आदि विविध मनोविकारों से विहीन माना है, वे जीवन के व्यावहारिक पक्ष से बहुत दूर चले गये हैं क्योंकि ऐसी कोई मनोवृत्ति संभव ही नहीं है जिसमें उपर्युक्त भावों का अभाव हो। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि जिस 'शम' को शांतरस का स्थायिभाव माना गया है, वह युक्त (ब्रह्मध्यानमग्न) अथवा वियुक्त (सिद्ध) अवस्थाओं में अवस्थित रहता है, अतः उसमें संचारिभावों की स्थिति संगत होने से उसकी रसनिष्पन्नता सहज स्वाभाविक है।[3] वस्तुतः मुनिजनों ने 'न यत्र दुःखं न सुखं' आदि द्वारा 'वैषयिक सुखाभाव' की ओर संकेत

---

1. ननु शांतरसस्यानभिनेयत्वाद्यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते।
2. दशरूपक, 4/45
3. न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
   रसः स शांतः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।
4. युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
   रसतामेति तदस्मिन् संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा।
   (विश्वनाथः साहित्यदर्पण, 3/250)

किया है न कि शमरूप परम सुख की ओर, अतः इन दोनों में किसी भी प्रकार का कोई अन्तर्विरोध नहीं माना जा सकता। सच तो यह है कि कामादि लौकिक विषयजन्य सुखों और निःश्रेयस सिद्धिपरक अलौकिक तृष्णाक्षयकारी महत् सुखों की कोई समता हो नहीं की जा सकती क्योंकि दिव्य सुखों का षोडशांश भी काम सुखों में सम्भव नहीं है अतः शम को जिस रूप में शान्तरस का स्थायिभाव कहा गया है वह इन सुख-कोटियों की दृष्टि से भी समीचीन है। वस्तुतः शान्त रस को एक ऐसे महासागर से उपमित किया जा सकता है जिसमें दयावीरता आदि सभी प्रकार के भावों का अहंकार और आकार अन्तर्भुक्त हो जाता है, किन्तु उसका अन्तर्भाव अन्यत्र नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि जिस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने मूल रस के रूप में शान्त रस की संस्तुति की है, उसी प्रकार हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भी उसका गौरव गान किया है। काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र का कथन है कि शान्तरस का अन्तर्भाव न तो बीभत्स तथा वीररस में किया जा सकता है और न रौद्र रस में ही।[1] वस्तुतः शम सागर स्थायी चित्तवृत्ति के सम्मुख अन्य वृत्तियों मनोरोगभावों की सी स्थिति रखती है और जिस प्रकार पुरुषार्थ-चतुष्टय में मोक्ष का आत्यन्तिक महत्व सिद्ध है, उसी प्रकार अन्य रसों में भी शान्तरस का आत्यन्तिक आस्वाद स्वीकार किया जाना युक्तिसंगत है।

शान्तरस के स्थायिभाव के विषय में विभिन्न अभिमत

शान्तरस का स्थायिभाव किस चित्तवृत्ति को माना जाय, यह भी एक अत्यंत विचारणीय विषय है। अधिकांश आचार्यों ने तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को शांतरस का स्थायिभाव माना है, किन्तु अभिनवगुप्त ने अपनी तर्कशक्ति द्वारा इस मत का खंडन किया है। दूसरा मत यह है कि रत्यादि आठ स्थायिभावों में से किसी भी भाव को शान्तरस का स्थायिभाव माना जा सकता है, किन्तु इस मान्यता में भी सुग्राह्य तर्कों का अभाव है। तीसरे मत के अनुसार आठों स्थायिभाव शान्तरस के समान एक साथ मिलकर शान्तरस के स्थायीभाव बन सकते हैं तो चतुर्थ मत साक्षात् मोक्षसाधक 'शम' भाव को ही शान्तरस का स्थायिभाव मानता है। तत्त्वज्ञानज य 'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायिभाव सिद्ध करने वाले आचार्यों का कथन है कि भरतमुनि ने निर्वेद को व्यभिचारिभावों की श्रेणी में जो सर्वप्रथम स्थान प्रदान किया है, यह उसके स्थायिभावत्व का सूचक है। वस्तुतः निर्वेद एक प्रकार से पुष्टतम स्थायिभाव है, क्योंकि तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेद अन्य समस्त स्थायिभावों का उपमर्दन कर देता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्तरस के स्थायिभाव के रूप में प्रसिद्ध विभिन्न भावों का व्यापक विमर्श करने के

---

1. हेमचन्द्र काव्यानुशासन 2/17

पश्चात् अंततोगत्वा मोक्षसाधक 'शम' को ही शांतरस का स्थायिभाव सिद्ध किया है। इस विषय का स्पष्टीकरण करना हमें आवश्यक प्रतीत होता है।

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार शांत रस का स्थायिभाव 'शम' और उसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। उसकी कांति कुंदेन्दुवत् शुभ्रवर्णयुक्त है तथा उसके देवता स्वयं श्री नारायण हैं। संसार की अनित्यता अथवा दुःखमयता के कारण जब किसी व्यक्ति को सांसारिक निस्सारता का ज्ञान हो जाता है तो वही ज्ञान परमात्मस्वरूप बन कर आश्रय के मन का आलम्बन विभाव बन जाता है। पवित्र आश्रम, भगवान के लीलास्थल, तीर्थस्थान, सुरम्य तपोवन तथा साधु-समागम आदि उपकरण शांतरस के उद्दीपन विभाव हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति और जीवदया आदि इसके व्यभिचारिभाव तथा रोमांच आदि अनुभाव हैं।[1] इस रस की परिपुष्टि महाभारत आदि महाकाव्यों में हुई है। विश्वनाथ का मत है कि स्वात्मविश्रांतिरूप 'शम' को ही शांतरस का स्थायिभाव मानना युक्तिसंगत है जबकि आचार्य मम्मट ने 'तत्वज्ञानज निर्वेद' को शांतरस का स्थायिभाव माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरतमुनि को भी शांत रस की सत्ता एक अतिरिक्त रस के रूप में अवश्य स्वीकार थी, जिसे आधार बनाकर आचार्य अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्रविवृति' में उक्त रस का समर्थन विशेष रूप से किया है। आचार्य मम्मट का कहना है कि तैंतीस प्रकार के व्यभिचारिभावों में निर्वेद की गणना प्रथम स्थान पर की गई है जिसे एक प्रकार से शांतरस की स्थापना का उपक्षेप कहा जा सकता है। विश्वनाथ के पूर्व काव्यानुशासनकार हेमचंद्र तथा नाट्यदर्पणकार रामचंद्र-गुणचंद्र ने क्रमशः 'तृष्णाक्षय'[2] तथा 'वैराग्यपरक शम'[3] को शांत रस का स्थायिभाव माना है। कुछ विद्वानों का मत है कि दयावीर में शांतरस का अंतर्भाव किया जा सकता है, किन्तु यह मत असमीचीन है क्योंकि दयावीर में तो अहंकार की मात्रा भी रह सकती है जबकि शममूलक शांतरस में अहंकार के लिए किंचिन्मात्र भी अवकाश नहीं है। विश्वनाथ का मत है कि जो विद्वान् नागानंद नाटक को शांतरस प्रधान मानते हैं वे भ्रांतिग्रस्त हैं क्योंकि उसके नायक जीमूतवाहन की चित्तवृत्ति में मलयवती का प्रेम और अंत में उसे

---

१. विश्वनाथः साहित्यदर्पण, 3/245-49

२. वैराग्यसंसारभीरुतातत्त्वज्ञानवीतरागपरिशीलनपरमेश्वरानुग्रहादिविभावो, यमनियमाध्यात्मशास्त्रचिंतनाद्यनुभावो धृतिस्मृतिनिर्वेदमत्यादिव्यभिचारी तृष्णाक्षयरूपः शमः स्थायिभावश्चर्वणां प्राप्तः शान्तो रसः।
(हेमचंद्र : काव्यानुशासन 2-17)

३. संसारभयवैराग्यतत्वशास्त्रविमर्शनः।
शांतोऽभिनयनं यस्य क्षमाध्यानोपकारता। (नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक)

चक्रवर्तित्व की उपलब्धि उसे दयावीर के स्थायिभाव 'करुणासवलित उत्साह' के निकट रख देती है।

तत्वज्ञानजन्य 'निर्वेद' अथवा 'शम' ही शान्तरस का स्थायिभाव है

तत्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायिभाव मानने वाले आचार्यों का कथन है कि वह निर्वेद दारिद्र्य आदि के कारणों से उत्पन्न निर्वेद से भिन्न होता है। वह निर्वेद मोक्ष का कारण है, अतः भरतमुनि ने उसे स्थायिभाव और संचारीभाव का मध्यवर्ती माना है। अभिनवगुप्त के मतानुसार भरतमुनि ने भी तत्वज्ञानजन्य निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव तथा मोक्ष का साधन कहकर उसे व्यभिचारिभावों में सर्वप्रथम स्थान दिया है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब निर्वेद को अन्य रसों में व्यभिचारिभाव माना जाता है तथा भरतमुनि ने भी उसे व्यभिचारिभावों के अंतर्गत माना है तो फिर भला वह स्थायिभाव कैसे हो सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है। बात यह है कि जब शृंगार रस के लिए निषिद्ध 'जुगुप्सा' भाव की सत्ता व्यभिचारिभाव के रूप में होते हुए भी उसे बीभत्स रस का स्थायिभाव माना जा सकता है तो फिर निर्वेद नामक व्यभिचारिभाव शान्तरस का स्थायिभाव क्यों नहीं बन सकता? आचार्यों का अभिमत है कि सभी स्थायिभावों का अपने रस में स्थायिभावत्व तथा अपने से भिन्न अन्य रसों में व्यभिचारिभावत्व स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में 'निर्वेद' न मक भाव परिस्थिति के अनुरूप स्थायिभाव भी हो सकता है और व्यभिचारिभाव भी, अतः उसे शान्तरस का स्थायिभाव मानने में किसी प्रकार की शंका करना समीचीन नहीं है। तत्वज्ञानजन्य निर्वेद केवल स्थायिभाव ही नहीं अपितु रत्यादिरूप अन्य स्थायिभावों का उपमर्दक भी है, इसलिए उसको शान्तरस का स्थायिभाव स्वीकार करने में किसी भी प्रकार की आशंका नहीं की जानी चाहिए।

जो विद्वान् तत्वज्ञानजन्य निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव नहीं मानते उनका आक्षेप यह है कि मोक्ष का कारण वैराग्य है और वैराग्य का कारण या बीज है तत्वज्ञान, अतः वैराग्य के मूलभूत तत्वज्ञान को मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता। शान्तरस के लिए तत्वज्ञान का विभावत्व परंपरित कारण से सिद्ध होता है जिससे उसमें अनिव्याप्ति दोष की शंका आने लगती है, अतः तत्वज्ञानजन्य निर्वेद शान्तरस का स्थायिभाव नहीं है। इस प्रकार के विचारकों का एक तर्क यह भी है कि वैराग्य से तत्वज्ञान उत्पन्न होता है न कि तत्वज्ञान से वैराग्य, अतः तत्वज्ञान से उत्पन्न वैराग्य या निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव मानना सगतिपूर्ण नहीं है। आचार्यों की यह मान्यता सर्वथा निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि इसके विपक्ष में भी अनेक तर्क दिये जा सकते

है। सांख्य और न्याय दर्शन में तत्वज्ञान और वैराग्य के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर भिन्न-भिन्न धारणाएँ व्यक्त की गई हैं। महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र (1-16) में लिखा है कि 'तत्वज्ञानी को सर्वत्र ही दृढ़तर वैराग्य होता है जिससे स्पष्ट है कि तत्वज्ञानजन्य निर्वेद या वैराग्य को मोक्ष का कारण मानते हुए यदि उसे शांतरस का स्थायिभाव माना जाय तो अनुचित नहीं है। इसके विपरीत प्रतिपक्षियों का कहना है कि भगवान पतंजलि ने जिस प्रकार के वैराग्य का उल्लेख किया है वह तो ज्ञान की ही पराकाष्ठा है। अतः तत्वज्ञान की शृंखला द्वारा परिपुष्ट होने वाला वह तत्वज्ञान 'निर्वेद' न होकर 'परवैराग्य' होता है, इसलिए शांतरस का स्थायितत्व 'निर्वेद' न होकर 'तत्वज्ञान' ही माना जाना चाहिए। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'वैराग्य', 'निर्वेद' तथा 'तत्वज्ञान' विषयक विभिन्न मतों का उल्लेख कर अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि 'शम' का ही दूसरा नाम 'निर्वेद' है अतः निर्वेद के स्थान पर 'शम' को शांतरस का स्थायिभाव मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उनका कथन है कि शम और शांत शब्द उसी रूप में पर्यायवाची हैं जिस रूप में हास और हास्य। जिस प्रकार 'हास' को हास्य रस का स्थायिभाव मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती, उसी प्रकार 'शम' को शांतरस का स्थायिभाव मानने में भी किसी प्रकार की कोई शंका नहीं होनी चाहिए।

रत्यादिभावों की अध्यात्मपरता में शांतरस की स्थिति निष्पन्न है

विद्वानों का एक वर्ग इस विचार का समर्थक है कि रत्यादि चित्त-वृत्तियाँ जब शृंगारादि में उपयोगी विभावों से भिन्न होकर श्रुत अर्थात् अध्यात्म-चर्चा आदि अलौकिक विभाव-विशेषों से संचित होती हुई शांतरसोपयोगी विचित्र रूप धारण कर लेती हैं तो वे अपनी विलक्षणता के कारण शांतरस की स्थायिभाव-वृत्ति बन जाती हैं। इस विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि नायक-नायिकारूप विभावों से परिपुष्ट रति जहाँ शृंगार रस की उत्पादिका होती है, वहाँ वही रति अध्यात्म चर्चा आदि विभावों से संपुष्ट होकर शांत रस की जननी हो जाती है। रति के अतिरिक्त अन्य स्थायिभाव भी जब अपने लिए निर्धारित विभावों के स्थान पर श्रुतादिरूप अन्य विभावों के द्वारा भिन्न प्रकार की अनुभूति के जनक हो जाते हैं तो उन्हें भी शांतरस के स्थायिभाव माना जा सकता है। अखंड आनंदस्वरूप आत्मविषयक रति किस प्रकार मोक्ष के साधन शांतरस की स्थायिवृत्ति हो जाती है, इस विषय में गीता का यह श्लोक उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है कि जो व्यक्ति आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मतुष्टि में अन्तर्लीन रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।[1]

---

1. यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-3-17)

रति-व्यतिरिक्त अन्य स्थायिभाव भी जब अध्यात्मचर्चित और मोक्षसाधक बन जाते हैं, तो उन्हें भी शांतरस का स्थायिभाव माना जा सकता है। उदाहरणार्थ समस्त वस्तुओं के विषय में विकार को देखकर विकृत-दर्शनजन्य हास्य-रस का स्थायिभाव 'हास' शांत रस को उत्पन्न करता है तो समस्त विश्व को शोच्य रूप में देखने वाले साधक को करुण रस का स्थायिभाव 'शोक' शांतरस की अनुभूति कराता है। इसी प्रकार सांसारिक वृत्तांत को आत्मा के लिए अपकारी रूप में देखने वाले के लिए अपकारित्वजन्य रौद्र रस का 'क्रोध' रूप स्थायिभाव शांत रस की अभिव्यक्ति कराने का आधार बनता है तो अतिशय ज्ञानप्रधान वीर्य अर्थात् उत्साह का आश्रय लेने वाले साधक के लिये वीर रस का स्थायिभाव 'उत्साह' शांतरस की निष्पत्ति कराता है। समस्त विषय समुदाय से भयानुभूति करने वाले साधक के लिए भयानक रस का स्थायिभाव 'भय' मोक्ष साधक शांत रस का जनक है तो सम्पूर्ण लोक द्वारा स्पृहणीय प्रमदा आदि से भी घृणा करने वालों के लिए वीभत्स रस का स्थायिभाव 'जुगुप्सा' शांत रस के लिए भी स्थायिवृत्ति बन जाता है। अपने अपूर्व आत्मस्वरूप के आतिशय्य की प्राप्ति से विस्मय को प्राप्त साधक के लिए अद्भुत रस का स्थायिभाव 'विस्मय' भी मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला होता है। इस प्रकार रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय सभी आठों स्थायिभाव भिन्न-भिन्न रसों के उत्पादक होते पर भी अपनी मोक्ष-साधिका श्रेयमयी स्थिति में शांत रस की निष्पत्ति कराने वाले होते हैं, अतः आचार्यों के इस वर्ग ने रत्यादि की अध्यात्मपरता में शांत रस की निष्पत्ति मानी है। वस्तुतः भरतमुनि ने भी विशिष्ट विभावों की गणना करते हुए उनके अंत में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि वे भी 'आदि' शब्द से उसी प्रकार के अन्य भावों का भी संग्रह करना उचित समझते थे जो सामान्य हेतुओं से भिन्न श्रुतादिरूप अलौकिक हेतुओं से उत्पन्न रत्यादि की मोक्ष-साधनता को स्वीकार करने वाले हैं। अभिप्राय यह है कि रत्यादि स्थायिभावों में से कोई भी स्थायिभाव मोक्षसिद्धि में उपयोगी बनकर शांत रस की निष्पत्ति कराने में समर्थ हो सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त को यह मत मान्य नहीं है। उनका मत है कि इस प्रकार की मान्यता से शांत रस का स्थायित्व विशीर्ण हो जाता है और प्रत्येक पुरुष में भिन्न भिन्न स्थायिभाव मानने पर शांतरस के भी अनेक भेद हो जाते हैं जिनमें अनेक प्रकार के दोषों की सम्भावना हो सकती है।

रत्यादि भावों की समष्टि शांतरस का स्थायिभाव नहीं है

आचार्यों का एक अन्य सम्प्रदाय इस मत का प्रतिपादक है कि रत्यादि स्थायिभावों की समष्टि को ही शांतरस का स्थायिभाव कहा जा सकता है। अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हुए इन आचार्यों ने लिखा है कि जिस प्रकार

पानक रस में शर्करा और मिर्च आदि अनेक द्रव्यों का स्वाद मिलकर एक विचित्र प्रकार का रस उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार रत्यादि स्थायिभाव पानकरसन्याय से एकत्र होकर शांत रस में भी एक विचित्र प्रकार का आस्वादन उद्भूत कर देते हैं। इस मत का आशय यह है कि पानकरस के समान सभी स्थायिभाव मिलकर शांतरस में स्थायिभाव बनाते हैं। तत्वत: यह मत किसी प्रकार के तर्क-पुष्ट आधार पर अवस्थित नहीं है क्योंकि न तो रत्यादिविषयक अनेक प्रकार की चित्त-वृत्तियों का एक साथ होना संभव है और न हास और क्रोध तथा उत्साह और भय जैसी विरोधी वृत्तियों को एक साथ समन्वित करना ही समुचित है। निर्वेद और रत्यादि की समष्टि में भी शांतरस का स्थायिभाव नहीं माना जा सकता, अत: इस मान्यता में किसी प्रकार का तर्कपूर्ण बल नहीं है।

'आत्मज्ञान' ही तत्वत: शांतरस का स्थायिभाव है

आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान ही मोक्ष का साधन है अत: उसे ही शांतरस का स्थायिभाव मानना सभी दृष्टियों से समीचीन है। यह ज्ञान इन्द्रियजन्य भौतिक ज्ञान से भिन्न और आत्म-साक्षात्कारपूर्ण होता है जिसमें ज्ञान और आनंद आदि विशुद्ध धर्मों का योग तथा परिकल्पित विषयभोगों का राहित्य रहता है। अभिनवगुप्त का कहना है कि आत्मतत्व की व्यापकता की दृष्टि से भले ही आत्मज्ञान को प्रत्येक रस का स्थायिभाव मानने का आग्रह किया जाए, किंतु अन्य रसों में उसको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि शांतरस की स्थिति में जिस प्रकार का आत्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है, वैसा अन्य रसों की स्थिति में नहीं होता। योगशास्त्र के अनुसार केवल समाधिकाल में ही आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थापन अथवा साक्षात्कार होता है, क्योंकि उस स्थिति में किसी भी प्रकार का वृत्तिकालुष्य नहीं होता। रत्यादि के अनुभवकाल में आत्मज्ञान की वैसी विशुद्धता नहीं रहती जैसी शांतरस की अवतारणा में होती है। यों तो प्रत्येक रस में आत्मतत्व का कुछ-न-कुछ अंश विद्यमान रहता है और तात्विक दृष्टि से यह उचित तथा अनिवार्य भी है किन्तु शृंगार आदि रसों में रति आदि स्थायिभाव आत्मा रूपी स्थायी भित्ति के आश्रित होने पर भी अन्य व्यभिचारिभावों की अपेक्षा अधिक काल तक स्थिर रहते हैं अत: स्थायिभाव कहलाते हैं, जबकि शांतरस की निष्पत्ति में तत्वज्ञान का प्राधान्य अथवा स्थायिभावत्व इतना अधिक रहता है कि रत्यादि चित्त-वृत्तियाँ भी उसके सम्मुख व्यभिचारिभाव को प्राप्त हो जाती हैं। अत: अपनी सर्वथा पृथक् एवम् विशिष्ट सत्ता के कारण ही आत्मज्ञान अथवा तत्वज्ञान को ही शांत-रस का स्थायिभाव मानना न्यायोचित है। अभिनवगुप्त ने 'न हि रुण्डमुण्डयो: मध्ये तृतीयं गोत्वमिति गम्यते' की दृष्टि से आत्मविषयक तत्वज्ञान की गणना पृथक् भाव के रूप में नहीं की है जिससे यह तथ्य ध्वनित है कि पृथक् गणना न

करने पर भी उसका स्थायिभावत्व स्वतः सिद्ध है और भावों की एकोनपंचाशत् (49) संख्या भी किसी भी रूप में व्याहत नहीं होती। अभिप्राय यह है कि अभिनवगुप्त के मतानुसार आत्मज्ञान या तत्वज्ञान ही शांतरस का स्थायिभाव है और आत्मा ही समस्त भावों का आधारभूत एवं भित्तिस्थानीय स्थायी तत्व है अतः उसकी पृथक् गणना करने की आवश्यकता नहीं है।

शांतरस की स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठा का आधार

विवेचना के इसी प्रसंग में एक शंका उत्पन्न होती है और वह यह कि जब शांतरस के स्थायिभाव के रूप में 'तत्वज्ञान' की पृथक् गणना नहीं की गई है तो फिर शांतरस की भी सत्ता स्वतन्त्र रस के रूप में क्यों मानी जाए? इसका उत्तर देते हुए आचार्य अभिनवगुप्त लिखते हैं कि शांतरस का आस्वाद शृंगारादि रसों के आस्वाद से भिन्न एवं विलक्षण होता है अतः उसकी पृथक् गणना करना सर्वथैव समुचित है। वस्तुतः रति और हास आदि स्थायिभावों की अनुभूति पृथक्-पृथक् तथा असम्पृक्त रूप में होती है जब कि रत्यादि के समान अन्य भावों के साथ अमिश्रित रूप से शांत रस में अनुभूत होने वाला आत्मा का स्वरूप लौकिक प्रतीतिगोचर नहीं होता और समाधि-काल में अविकल्प रूप से स्वरूपावस्थ होने पर भी व्युत्थान काल अर्थात् समाधि-भंग के अवसर पर अन्य चित्त-वृत्तियों से कलुषित रूप में ही प्रतीत होता है। अतः लोक में आत्मा के स्वरूपतः पृथक् प्रतीत न होने से और शांतरस में उसके पृथक् रूप से आस्वाद्य होने से शांतरस की गणना की गई है।[1] आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत योगदर्शन से सुसम्मत है क्योंकि उक्त दर्शन में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्' तथा 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' आदि सूत्रों में यही बात कही गई है कि चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम 'योग' या 'समाधि' है जिसमें अन्य किसी भी प्रकार की वृत्ति न होने से द्रष्टा अर्थात् आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थान होता है और उस समाधि से भिन्न काल में 'वृत्तिसारूप्य' अर्थात् सुखः दुखादि रूप चित्त-वृत्ति के अनुसार आत्मस्वरूपाभास होता है जिससे विशुद्ध आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं होती। चूंकि वृत्तिशून्य रूप में अलग प्रतीति नहीं होती अतः स्थायिभाव के रूप में आत्मा की पृथक् गणना नहीं की गई है। शांतरस में आत्मा का पृथक् आस्वाद होता है अतः शांतरस की स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है—अभिनवगुप्त के कथन का यही मूल मंतव्य है।

अभिनवगुप्त ने 'निर्वेद' या 'शम' को आत्मा का स्वरूप न मान कर चित्त-वृत्तिरूप माना है जिसका आशय यह है कि वे शांतरस के स्थायिभाव नहीं हो

1. हिन्दी अभिनवभारती, भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ 625

सकते । उनके मतानुसार आत्मा ही शांतरस का स्थायिभाव है, भरतमुनि ने भी आत्मास्वरूप को 'शम' शब्द से अभिहित नहीं किया है, क्योंकि शम तथा निर्वेद आदि के समान अन्य भावों में न तो उसके व्यभिचारित्व की सम्भावना की जा सकती है और न वह विभिन्न अनुभूतियों का जनक ही हो सकता है। भरत-मुनि का आशय यह है कि उस विशुद्ध आत्मरूप को शम या निर्वेद रूप से व्यप-दिष्ट किया जाय तो किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती किन्तु ऐसा करते हुए भी यह बात तो ध्यान में रखनी ही पड़ेगी कि शम और निर्वेद आत्मा का स्वरूप न होकर विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियाँ ही हैं। साथ ही साथ यह भी मानना होगा कि शांतरस का स्थायिभाव रूप निर्वेद भी दारिद्र्य आदि रूप अन्य कारणों अथवा विभावों से उत्पन्न निर्वेद का समानजातीय पदार्थ नहीं है। इस पर यदि यह कहा जाय कि जब दारिद्र्यादि कारणों से उत्पन्न निर्वेद और तत्व-ज्ञान से उद्भूत निर्वेद भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं तो दोनों को 'निर्वेद' क्यों कहा जाता है ? ऐसा कहने से तो अनेक प्रकार की विसंगतियाँ उपस्थित हो सकती हैं ? इसका उत्तर यह है कि कारण का भेद होने पर भी समानजातीय पदार्थों को उसी नाम से अभिहित करने में कोई दोष नहीं है। यह बात निर्वेद भाव में ही नहीं, अपितु रति और भय आदि में भी समान रूप से प्रदर्शित होती है। इसलिए यह कहना सर्वथा समुचित है कि आत्मा का स्वरूप ही तत्वज्ञान या शमता रूप है जिसके कालुष्योपरागरूप आत्मा के रत्यादि भाव होते हैं। शृंगारादि रसों में आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की अनुभूति न होकर वह चित्त-वृत्तियों के कलुषित रूप की अनुभूति होती है इसलिए उन रत्यादि के विद्यमान होने पर भी समाधि के द्वारा उसके अव्यवहित विशुद्ध स्वरूप का अनुभव करके व्युत्थान काल में भी चित्त को कुछ काल तक प्रशांतवाहिता ही रहती है। इस-लिए आत्मस्वरूप या तत्वज्ञान ही शांत रस का स्थायिभाव है।

शांत रस की स्वाभाविकता, प्रधानता, रसराजता और स्वतन्त्रता

अभिनवगुप्त ने शांतरस की प्रशंसा में अनेक प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार शांतरस ही स्वाभाविक रस है तथा शेष रस उसके विकृत रूप हैं। उनका कहना है कि तत्वज्ञान के 'अनुभव' ही यमनियम आदि के द्वारा उपकृत होकर शांत रस के 'अनुभाव' हो जाते हैं। ईश्वरानुग्रह आदि शांत रस के विभाव होते हैं तथा विनष्ट होते हुए रत्यादि भावों का भी शांत रस में आस्वादन किया जाता है। परोपकार-विषयक इच्छा एवं प्रयत्नरूप उत्साह जिसे दया भी कहते हैं, शांतरस का विशेष रूप से अंतरंग होता है। इसे कुछ विद्वान दयावीर अथवा धर्मवीर नाम से भी व्यवहृत करते हैं। विद्वानों की इस मान्यता पर यह संदेह किया जा सकता है कि शांतरस में तो अहंकार-शैथिल्य होता है जब कि उत्साह तो अहंकारमूलक कहा जाता है फिर भला उत्साह को

शान्तरस का अंतरा कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विरुद्ध भाव का भी व्यभिचारिभाव के रूप में वर्णन करना अनुचित नहीं है, क्योंकि यदि वैसा करना अनुचित होता तो शृंगार रस में निर्वेद आदि का वर्णन नहीं किया जाता। वस्तुतः उत्साह को शान्तरस का विरोधी कहना उचित नहीं है क्योंकि कोई भी अवस्था उत्साहशून्य नहीं हो सकती। इच्छा और प्रयत्न के अभाव में व्यक्ति जडपाषाणवत् हो जायगा और हम यह जानते हैं कि शान्तरस की स्थिति को प्राप्त व्यक्ति पत्थर के समान जड नहीं होता क्योंकि यह भी देखा जाता है कि शान्त हृदय वाले साधकों के मन में परोपकार और लोक कल्याण आदि कार्यों के लिए अपना सर्वस्व दान कर देने का अलौकिक उत्साह रहता है, अतः उत्साह और शान्त रस में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

अभिनवगुप्त ने अनेक तर्कों और उदाहरणों द्वारा यह तथ्य प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है कि परोपकारविषयक इच्छा एवं उत्साह ही शान्तरस के अंतरंग हैं, इसीलिए उन दयावीर या धर्मवीर के नाम से भी अभिहित करते हैं। उन्होंने 'नागानंद' नाटक के नायक जीमूतवाहन का मनोविश्लेषण करते हुए अन्तत: यह निष्कर्ष निकाला है कि जीमूतवाहन की मनःस्थिति में दया रूप उत्साह वृत्ति का प्राधान्य होने पर भी उसमें शान्तरस की ही अवस्थिति है। वह परोपकार के लिए अपना आत्मोत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत है, किंतु उसका मानस बोधिसत्वों की भाँति शान्तरसपूर्ण मनःस्थिति से भिन्न नहीं है। यह बात अवश्य है कि मोक्ष-प्राप्ति की अन्तिम भूमिका में पहुँच जाने पर उत्साह आदि सभी भावों का अभाव हो जाता है और तब यह शान्तरस अप्रयोज्य अर्थात् अनभिनेय हो जाता है। इससे यदि शान्तरस के विरोधी विचारक यह आशय निकालें कि अनभिनेयता के कारण शान्तरस का अस्तित्व ही नहीं माना जा सकता तो उचित नहीं है। अभिनवगुप्त का कथन है कि चरम दशा में तो रति और शोक आदि भावों का भी अभिनय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सम्भोग शृंगार की चरम परिणति सर्वथा व्यापारशून्य होती है उसी प्रकार विप्रलम्भ शृंगार तथा करुण आदि अन्य रसों की चरम परिणति भी व्यापारशून्यता में होती है जिसके कारण उनका अभिनय सम्भव नहीं होता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि शृंगार और करुण नामक रसों का अस्तित्व ही नहीं होता। जब एक विशेष स्थिति में शृंगार और करुण आदि अनभिनेय होते हुए भी अपना अस्तित्व रख सकते हैं तो शान्तरस को रस रूप में न मानने में कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता। सच तो यह है कि जिस प्रकार रति आदि के संस्कारों के कारण शृंगारादि रसों में हृदय की तन्मयता रहती है, उसी प्रकार तत्वज्ञान के बीजभूत संस्कारों से सम्पृक्त अंतःकरण में भी शान्तरस का तन्मयभाव रहता है।

अभिनवगुप्त ने अपने विवेचन में इस प्रश्न का भी उत्तर देने का प्रयत्न

किया है कि शांतप्रधान नाटकों में वीर रस के आस्वाद की क्या संगति होती है ? उनका कहना है कि जहाँ शांतरस का प्रयोग किया जाता है, वहाँ पुरुषार्थोपयोगी शृंगार और वीर आदि रसों में से कोई एक अन्य रस रहता अवश्य है। जिस प्रकार प्रहसन आदि में हास्यादि की प्रधानता होने पर भी अन्य रसों का भी आस्वादन किया जाता है, उसी प्रकार शांतरस के साथ शृंगार और वीर आदि में से कोई-न-कोई अन्य रस अवश्य रहता है। अनेक स्थलों पर तो रचना के मत में निष्पन्न होने वाले शृंगार या वीर रस में ही काव्य या नाटक का परमास्वाद प्रतीत होता है। अभिप्राय यह है कि शान्त रस की सिद्धि सभी दृष्टियों से युक्ति-संगत है तभी तो भरतमुनि ने शांत रस को शमरूप स्थायिभावात्मक कहकर उसका अस्तित्व स्वीकार किया है। इस विषय में अभिनव गुप्त का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है जिसके अनुसार सभी रसों का आस्वाद प्रायः शांत के रूप में ही होता है।

"तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या, तन्मुख्यता भावात्। केवलं वासनान्तरोपहित इति। अस्य सर्वं प्रकृतित्वमभिधाय पूर्वमभिधानम्।"

आचार्य अभिनवगुप्त शांतरस के सबसे प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने शांतरस को समस्त रसों में प्रधान और 'रसराज' माना है। उनका तो यहां तक कहना है कि शांत रस से ही समस्त रसों की उत्पत्ति होती है और उसी में सब रस विलीन हो जाते हैं। उन्होंने भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र की प्राचीन प्रतियों के आधार पर इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि शांत रस ही समस्त रसों की प्रकृति है। उनके मतानुसार शांतरस का स्थायिभाव पृथक् रूप से इस कारण से विवेचित नहीं किया गया है कि सब रसों में रहने वाले सामान्य भाव की लोक में बार-बार पृथक्-पृथक् गणना नहीं की जाती। वस्तुतः विचारक तत्ववेत्ता तो सामान्य को भी पृथक् रूप से समझ लेते हैं, इसलिए विवेचक के अभिप्राय से सामाजिकगत आस्वादरूप प्रतीति के विशेष रूप में शांतरस का स्थायिभाव अलग होता ही है।

अभिनवगुप्त ने अपनी निजी युक्तियों तथा शास्त्र-वचनों के आधार पर नवम रस के रूप में शांतरस की स्थापना की है। इस रस की प्रतिष्ठा इतिहास पुराण और अभिधानकोश आदि ग्रन्थों में भी वर्तमान है। अभिनवगुप्त के गुरु श्री उत्पलपादाचार्य ने भी अपने 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' में नवरस का सिद्धांत निरूपित करते हुए लिखा है कि आठों देवताओं के शृंगारादि प्रदर्शन से भिन्न महादेव के शांत रूप में शांतरस का अधिष्ठान है। रसनिष्पत्ति के लिए अपेक्षित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की शांतरसगत योजना करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि वैराग्य और संसारभीरुता आदि शांतरस के विभाव हैं जिनके

उपनिबन्धन से शांतरस का ज्ञान होता है। मोक्षशास्त्र अथवा उपनिषद् आदि का विचार उसके अनुभाव हैं तो निर्वेद, स्मृति तथा धृति आदि उसके व्यभिचारिभाव। स्मृति, धृति और उत्साह आदि से युक्त ईश्वरप्रणिधानविषयक भक्ति तथा श्रद्धा शांतरस के अंगरूप हैं, अतः उनकी (भक्तिरस आदि की) पृथक् रस के रूप में गणना नहीं की गई है। अभिनवगुप्त के मतानुसार भक्तिरस का अन्तर्भाव शांतरस ही हो जाता है। इस विषय में निम्नलिखित संग्रहकारिकाओं को उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है जिनमें क्रमशः शांतरस का स्वरूप तथा उसे अन्य रसों की मूल प्रकृति सिद्ध किया गया है—

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥ १ ॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥ २ ॥

अर्थात् मोक्ष रूप अध्यात्म की प्राप्ति का कारण अथवा मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से प्रवृत्त तत्वज्ञान रूप हेतु से युक्त और निःश्रेयस रूप फल से समन्वित शांतरस समझना चाहिये।

अपने-अपने अनुरूप कारण को प्राप्त करके शांत रस से ही रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं और उस निमित्त के समाप्त हो जाने पर फिर शांत में ही रत्यादि भाव लीन हो जाते हैं।

9
प्रबंध-काव्यों की रसाभिव्यंजकता

प्रतिपाद्य विषय की परिसीमा

कथानुबन्ध की दृष्टि से प्रबन्ध काव्य काव्य-भेदों का प्रथम प्रकार है जिसके विशाल परिवेश में जीवन की अभिव्यक्ति के व्यापक अवसर विद्यमान रहते हैं। उसकी बंधगत सफलता और रसगत सिद्धि का विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र का एक प्रमुख विषय रहा है। यों तो भारतेतर देशों में भी प्रबन्ध-काव्य की रचना का वैशिष्ट्यपूर्ण विधान है तथा वहाँ के काव्याचार्यों ने भी अपने-अपने संस्कृतिमूलक आधारों और साहित्यिक मानकों के निकष पर युग-जीवन की भूमिका में उसका विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु तद्देश विषयक धारणों का विमर्श करना हमारे प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। निबन्ध के परिसीमित क्षेत्र में हम प्रबन्ध-काव्य की रसाभिव्यंजकता का उतना ही अंश स्पष्ट करना चाहते हैं जो उसके अंगी रस के रूप से सम्बद्ध है तथा जिसके काव्य-बन्ध में रसौचित्य की व्यंजना विविध प्रणालियों में प्रदर्शित होती है। इस विषय में आचार्य आनन्दवर्धन के विचार विशेषतः पठनीय हैं जिन्होंने औचित्य को 'रसोपनिषद्' की पृष्ठभूमि के विवेचित करते हुए प्रबन्धगत रस के अंगांगिरूपों तथा उसके अभिव्यंजकों-हेतुओं का विश्लेषण अत्यन्त सारगर्भित शब्दावली में किया है। यों तो उनका विवेचन भारतीय काव्य और शास्त्र की मर्यादा के विशेष अनुकूल है, किन्तु उसके द्वारा ऐसे अनेक तथ्यों तथा तत्त्वों का भी अन्वेषण किया जा सकता है जो विशुद्ध साहित्य-समीक्षा की दृष्टि से भारतेतर काव्य-साहित्यों के विमर्श का भी आधार बन सकता है।

अंगी रस की विवेचना का महत्त्व

प्रबन्ध-काव्य की विस्तार सीमा में अंगी रस का विवेचन करना सर्वातः अनिवार्य एवम् परम आवश्यक है क्योंकि उसके बिना इस तथ्य का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता कि किसी भी समालोच्य प्रबन्ध का प्रमुख आस्वाद्य क्या है और उससे हमारी चित्तवृत्ति को तथाकथित 'विस्तार' 'द्रुति' अथवा 'विक्षेप' आदि से सम्बद्ध कौनसी अवस्था प्राप्त होती है? आचार्य भरतमुनि ने यद्यपि अंगीरस के विषय को अधिक वैशद्यपूर्वक विवेचित नहीं किया था, तथापि

उन्हें स्थायी रस के रूप में उसकी परिकल्पना सुमान्य थी जिसका संकेत उनके इस कथन में मिलता है कि महाकाव्य में वर्णित अनेक रसों में से जो रस बहु अर्थात् अधिक या प्रधान रूप से विद्यमान रहता है, वह उस काव्य का स्थायी (अंगी) रस तथा शेष रस उसके संचारी (अंगभूत) रस होते हैं।[1] आचार्य आनन्दवर्धन ने तो प्रबन्ध-काव्य की सफलता भी इस बात में मानी थी कि उसमें अनेक रसों की निबंधना का अवकाश रहने पर भी इस बात का विचार मुख्य रूप से किया जाना चाहिए कि उसका रचयिता अपने कथाबन्ध के अनुरूप किसी एक रस को अंगी रस के रूप में निष्पन्न करने में समर्थ हुआ है अथवा नहीं ?

अंगी रस की कल्पना का आधार

प्रबन्ध-काव्यों के परिवेश में अंगी रस की परिकल्पना के मूल में अनेक तर्कसंगत आधार विद्यमान हैं। जब प्रबन्ध काव्य की व्यापक भाव-भूमि में बहुविध रसों के संचरण के लिए अवकाश बना रहता है तो यह भी निश्चित है कि उनका प्रधानता जिस रस की ओर पुनः पुनः अनुगधित हो तथा काव्य के कलेवर में जिसकी व्याप्ति अन्य रसों की अपेक्षा कहीं अधिक हो, वही रस संबद्ध प्रबन्ध काव्य का अंगी रस होता है। वस्तुतः किसी प्रबन्ध काव्य के रस विधान में अंगी रस की स्थिति वैसी ही है जैसी किसी स्थायिभाव की स्थिति रस निष्पत्ति के अन्यान्य अवयवों के समक्ष रहती है। जिस प्रकार विभावानुभावों और संचारिभावों के सम्यक् उद्रेक से स्थायिभाव को रस रूप में निष्पन्न होने का अवसर प्राप्त होता है, उस प्रकार किसी प्रबन्ध काव्य में व्याप्त विभिन्न अंगभूत रस उसके अंगी अथवा प्रधान रस को संपोषण प्रदान करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि अंगी रस का मूल सम्बन्ध काव्य के अंगी पात्र से होता है जिसकी मुख्य वृत्ति को काव्य के कथानक में परिवृ हित करना कवि का मूल प्रयोजन होना चाहिये। अंगीरस में प्रबन्ध काव्य के नायक की कथा का भावमन तथा उसकी जीवन-साधना का सत्य समाहित होता है, यह एक सुनिश्चित धारणा है।

अंगी रस की उपयोगिता नाट्य-काव्यों में भी मान्य है

श्रव्य काव्य के अन्तर्गत परिगणित होने वाले प्रबन्ध काव्यों की भांति दृश्य काव्यों में भी अंगी रस के महत्व की ओर आचार्यों का ध्यान सदैव आकृष्ट रहा है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मत है कि नाटक में नायक के

---

1. बहूना समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
   स मंतव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः। नाट्यशास्त्र, 7120

औचित्य के अनुसार किसी न किसी प्रकार से एक रस का प्राधान्य अवश्य होना चाहिए जिसे अन्य रसों से यथावसर संपोषण मिलता रहे तथा जिसमें नायक की चित्तवृत्ति को फलोन्मुख करने की क्षमता विद्यमान हो। नाट्यदर्पण के विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष सहज भाव से निकाला जा सकता है कि अंगी रस का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नायक के घटना-व्यापारों अथवा क्रिया-व्यापारों के साथ है जिनमें रागात्मिका वृत्ति का प्राधान्य होने के कारण शृंगार रस की निष्पन्नता के लिए अधिक अवसर हो सकते हैं। शृंगार के पश्चात् वीर तथा करुण रसों को भी अंगी रस के रूप में नाट्यान्तर्गत निरूपित करने की दिशा में प्रयत्न किये गये हैं। इस विषय में कोई कठोर नियम तो नहीं बनाया जा सकता कि नाट्य काव्यों का प्रधान रस क्या होना चाहिए पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसका मुख्य सम्बन्ध नाटक के प्रधान पात्र से होता है, अतः उस पात्र की मुख्य मनोवृत्ति जिस दिशा की ओर विशेष रूप से प्रभावित हो अथवा जिसके जीवनांश के जिस रूप को लेकर नाटक की रचना की गई हो, उसे प्राधान्य प्रदान करते हुए तदनुकूल औचित्य के अनुसार ही उसकी रस-निबन्धना की जानी चाहिए। वस्तुतः मुख्य पात्र ही नाटक अथवा प्रबन्ध काव्य के फल-भोक्ता होते हैं अतः अंगी रस की परिवहनशक्ति उन्हें फल-पर्यन्त पहुँचाने तथा उन्हें फलागम का आस्वाद प्रदान कराने तक अवश्य होनी चाहिए।

विभिन्न देशों के आचार्यों ने प्रबन्ध तथा नाट्य काव्यों का विवेचन करते हुए अंगी रस की उपयोगिता स्वीकार की है। पाश्चात्य समीक्षकों ने यदि अंगी रस के रूप में काव्यास्वाद की अंतिम परिणति व्याख्यात की है तो भारतीय आचार्यों ने प्रबन्धध्वनि का अन्तिम ध्येय उसके मूल रस की निष्पन्नता में माना है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को अंगी रस की महिमा का सम्यक् ज्ञान था, जिसे लक्षित कर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस बात का उल्लेख किया है कि 'महाभारत' में शांत, 'रामायण में करुण और मालतीमाधव' तथा 'रत्नावली' में शृंगार रस का उद्रेक अंगीरस के रूप में हुआ है। वस्तुतः अंगी रस की विवेचना के बिना प्रबन्ध-काव्य के आस्वाद का मुख्य अंश अस्पृष्ट सा रह जाता है, अतः उसका अन्वेषण करने की दिशा में प्रयत्न करते हुए उसका प्रकाशन अवश्यमेव किया जाना चाहिए।

रसों के अंगांगिभाव का विमर्श :

काव्यास्वाद के विमर्शकों में एक वर्ग उन तत्त्वद्रष्टाओं का भी है जिन्हें रसों का अंगांगिभाव स्वीकार नहीं है। उनका कथन है कि जब काव्य-रस का आस्वाद स्वतः सम्पूर्ण और स्वचमत्कारत्व है तो उसकी आत्मविश्रांति की अखंड-प्रतीति में अंगांगिभाव का सम्बन्ध स्वीकार करना अनेक दृष्टियों से अनुचित है। वस्तुतः

काव्य-रस स्वचमत्कार में ही विश्रान्त होता है, अतः उसके उपकार्य-उपकारकभाव तथा गौणागौणभाव की न तो कोई आवश्यकता ही रहती है और न उपयोगिता ही। इन आचार्यों ने रसों के अंगांगिभाव का खण्डन विरोधी रसों की अंगता को असम्भव सिद्ध करते हुए भी किया है। इनका मत है कि वीर और शृंगार अथवा शृंगार और हास्य आदि विरोधी रस-युग्मों का उत्कर्ष समान रूप से स्वीकार न करने वाले सहानवस्थानवादी विरोध में भले ही रसों के अंगांगिभाव के तीव्र खण्डन के तर्क विद्यमान न हों किन्तु बाध्य-बाधक-भाव अथवा बाध्य-घातकभाव में पाये जाने वाले विरोध में तो रसों के अंगांगिभाव को कोई स्थान प्रदान ही नहीं किया जा सकता। इस मान्यता को अधिक स्पष्ट करने के प्रयोजन से इन आचार्यों ने लिखा है कि तत्त्वदृष्टि से रसों के अंगांगिभाव की परिकल्पना व्यर्थ सी है किन्तु यदि किसी एकपक्षीय विचारक के मन में उसकी प्रतिष्ठा के प्रति विशेष आग्रह ही हो तो बाध्यघातकभाव विरोधी रसों की योजना में तो उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। बाध्यघातकभाव विरोधी रसों में 'शृंगार और बीभत्स' 'वीर और भयानक', 'शान्त और रौद्र' तथा 'शृंगार और शान्त' आदि रस-युग्मों की गणना होती है जिनके अन्तर्गत भाव का निरूपण रस-दोषों की श्रेणी में परिगणित किया जाता है। भारतीय साहित्य की परम्परागत मान्यताओं ने कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर शृंगार और बीभत्स में सदैव विरोध भाव देखा है जबकि फारसी आदि भारतेतर साहित्यों में वियोग शृंगार के वर्णन के साथ-साथ खून, मवाद आदि के बीभत्समय चित्रण भी हुए हैं। आज की परिवर्तित परिस्थिति में रस-विरोध की इन परम्परागत मान्यताओं के प्रति भले ही किसी के मन में कोई आस्था न हो, किन्तु मनुष्य की मूल मनोवृत्तियों के अंतराल में उनका जो सहज सम्बन्ध है, उसे सर्वथा तिरस्कृत कर कर युग के तथाकथित वातावरण में विशृंखलित करने का उपक्रम भी श्लाघ्य नहीं है।

आचार्यों के अभिमत और निर्णय :

रसों का अंगांगिभाव भामह, दण्डी और रुद्रट आदि प्राचीन आचार्यों को उस रूप में मान्य न था, जिस रूप में आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा उसका समर्थन किया गया था। इसका एक कारण यह भी था कि प्राचीन आचार्यों का रस-विमर्श न तो विशेष गम्भीर व विशद था और न वे अपनी मुख्य मान्यताओं के सम्मुख उसे अधिक विचारणीय ही समझते थे। यों तो भामह, दण्डी और रुद्रट ने क्रमशः 'रसैश्च सकलैः पृथक्', 'रसभाव-निरंतरम्' और 'सर्वे रसा क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि' द्वारा रसों का भी गुण-गान किया है, किन्तु यह उल्लेखमात्र है। वस्तुतः इन आचार्यों की दृष्टि

भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित स्थायी रस और संचारी रस, की विवेचना की ओर नहीं गई थी, अतः वे उनकी महत्ता का निरूपण नहीं कर सके। आचार्य आनंदवर्धन भरतमुनि के मूल मंतव्य और भामह आदि की सीमाओं से परिचित थे, अतः उन्होंने उनकी शब्दावली को ही परिलक्षित कर अपना दृष्टिकोण प्रतिष्ठित किया। वे इस तथ्य को स्वीकार करते थे कि प्रत्येक रस अपने प्रसंग में ही पूर्ण परिपुष्ट होकर आत्मविश्रान्ति प्राप्त करता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसका अन्य रसों के साथ कोई सम्बन्ध अथवा तारतम्य नहीं होता। वस्तुतः प्रबन्ध कल्पना के विशाल आभोग में अंगी रस प्रधान होता है और अन्य उसके गौण अपर, महत्त्वपूर्ण बन कर आते हैं जिसका कारण घटनाचक्र की विविध परिस्थितियाँ हैं। व्यावहारिक दृष्टि से भी रसों के अंगांगिभाव की सत्ता स्वीकार्य प्रतीत होती है क्योंकि अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि रसों के अंगांगिभाव की योजना से उन्हें परस्पर बल प्राप्त होता है और इनके विरोध को लेकर जो बातें कही जाती हैं वे उपशमित होकर उपकार्य-उपकारक भाव में ही परिणत हो जाती हैं। आचार्यों ने रस-विरोध को लेकर जो प्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं उनका यह अभिप्राय नहीं है कि वे रसों के अंगांगिभाव में आस्था नहीं रखते थे। उनका प्रयोजन तो केवल इतना ही है कि अनेक बार रसों के विरोध-प्रदर्शन से जो अनौचित्य अनुसृष्ट हो जाता है, उसके विरोध की दिशा में सक्षम रहना चाहिए। आनंदवर्धन ने तो रसों के अंगांगिभाव को उपकार्य-उपकारक-सम्बन्ध से विवेचित कर उनकी अनिवार्य स्थिति निष्पन्न की है जिसका समर्थन लोचनकार अभिनवगुप्त ने भागुरिमुनि का उल्लेख करते हुए विशेष रूप से किया है। प्रबन्ध काव्यों की प्रतिष्ठा के काल में तो रसों का अंगांगित्व प्रबल शब्दों में प्रतिपादित हुआ है जिसका कारण यह है कि उसके बिना जीवन के वैराग्य एवं वैविध्य का विस्तार प्रबन्ध काव्य की विशाल सीमा में अनुरंजित किया ही नहीं जा सकता। परवर्ती आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य के अंगीरस को जिस रूप में संस्तुत किया था उसका आभास निम्नलिखित कथनों में मिल सकेगा :-

शृंगार वीरशान्तानामेको अंगी रस इष्यते ।[1]
प्रसिद्धेऽपि प्रबंधाना नानारस निबंधने ।
एको रसो अंगी कर्तव्य ....।।[2]
एकाङ्गिरसमन्यदङ्गमद्भुतान्त रसोर्मिभिः ।
अलंकितमलंकारं कर्त्तव्यमरसम् ।।[3]

---

1. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण 6/317
2. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक, 3/21
3. नाट्यदर्पण 1 : 12 : 15

अंगी रस की उपयोगिता

प्रबंध काव्यों की वर्णना और नाट्य काव्यों की अभिनेयता की दृष्टि में रखते हुए अंगी रस की उपयोगिता का जो विश्लेषण किया गया, उसमें अनेक प्रकार के विचार-सूत्र उपलब्ध होते हैं। उनका निष्कर्ष यह है कि जब प्रबंध काव्य का सर्वसर्वोपरिभूत प्रयोजन 'रसास्वाद' कराना ही है तो वह अपनी सहज अनिर्वचनीयता में सस्थित होते हुए भी किसी-न-किसी भाव-विशेष को मुख्य निष्पत्ति का प्रयोजन बन कर अवश्यमेव उपस्थित होना चाहिए। आधुनिक मनोविश्लेषण की प्रायोगिक विधियों के आधार पर भी यह सिद्ध किया जा चुका है कि व्यक्ति की चेतना में भावों के परिस्थितिजन्य तारतम्य का क्या महत्व है तथा किसी विशेष प्रकार की मनोदशा में प्रामुख्य में स्तर चित्तवृत्तियों का समंजन किस प्रकार होता चलता है। इस विषय की व्यापकता के ऊहापोहों में न उलझ कर प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना संकेत करना ही पर्याप्त है कि रसों के अंगांगिभाव का रहस्य उद्घाटित किये बिना किसी भी प्रबन्ध काव्य की रसाभिव्यंजकता का अवबोध नहीं किया जा सकता, क्योंकि रसों का अंगी रूप किसी भी प्रबंध काव्य में निष्पन्न भाव वृत्ति का प्रमुख आधार अथवा सम्बल बन कर ही अभिव्यक्त होता है।

प्रबंध-काव्यों की रसाभिव्यंजकता के औचित्य-हेतु

प्रबंध-काव्यों में वर्णित अंगी रस की विवेचना से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण विषय उनकी रसाभिव्यंजकता के हेतु तत्वों का विश्लेषण है। भारतीय आचार्यों ने रसमुख-दृष्टि से प्रबन्ध-काव्य को 'अभिधामूला असंलक्ष्यक्रमध्वनि का एक व्यंजक' मान कर उसकी रसाभिव्यंजना का विमर्श विविध पक्षों के आधार पर किया है। उनके विश्लेषण के मुख्य आधार रामायण और महाभारत आदि काव्य-ग्रन्थ हैं जिन्हें भारतीय चेतना के आलोक-स्तम्भ कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने उक्त काव्यग्रंथों की रस-योजना को ध्यान में रखते हुए जिस रूप में उनकी व्यंजना निर्दिष्ट की है, उसमें ऐसे अनेक ज्ञातव्य विषयों का बोध होता है जो किसी रसपरक काव्य के औचित्य तथा उसकी सिद्धि के लिए अनिवार्य तत्व प्रतीत होते हैं। आनन्दवर्धन के मतानुसार रसाभिव्यंजना के औचित्य हेतुओं का प्रकाशन निम्नलिखित रूपों में संभव है :

1 विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के औचित्य की चारुता से ऐतिहासिक अथवा उत्प्रेक्षित (कल्पित) कथा शरीर का निर्माण।

2 ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल कथांशों को छोड़ कर, बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करते हुए कथा का संस्करण।

3 शुद्ध रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से संधि और संध्यंगों का संघटन।

4. प्रसंगानुकूल रसों के उद्दीपन और प्रशमन की योजना तथा विश्रांत होते हुए रस का अनुसंधान।

5. अलंकारों के यथेच्छ प्रयोग की पूर्ण शक्ति होने पर भी रस के अनुरूप ही परिमित मात्रा में अलंकारों की योजना।

विभावादि का औचित्य :

उपर्युक्त पाँचों प्रकार प्रबन्धगत रस के अभिव्यंजक हेतु हैं। इन हेतुओं के प्रथम रूप में इस बात का विचार किया जाता है कि विभाव, अनुभाव और भाव (स्थायिभाव और संचारिभाव) के औचित्य से प्रबन्धकाव्य के सुन्दर कथा-शरीर का निर्माण हो सकता है या नहीं। हमारे व्यावहारिक जीवन के अनुभवों से भी प्रकट है कि जिस काव्य में उपर्युक्त बातों का समुचित सयोजन होता है, वही काव्य रस और भाव की दृष्टि से उत्तम कोटि का बन सकता है। विभाव के औचित्य का विवेचन भरतमुनि से लेकर अद्यावधि अनेक आचार्यों ने किया है। स्थायिभाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से सम्बन्धित है। उसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि आचार्यों ने उत्तम मध्यम, अधम तथा दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य के भेद से प्रकृति के जो रूप निरूपित किये हैं, उनका अभिचित्रण ऐसी विधि से किया जाय जिससे स्थायिभाव का विशुद्ध रीत्या औचित्य-निर्वाह हो सके। काव्यकार पर इस बात का बहुत बड़ा दायित्व है कि वह दिव्य तथा मानवीय प्रकृति के विभिन्न स्तरों से सुपरिचित होकर उन्हें अपनी कथा के अनुरूप व्यंजना प्रदान करे जिससे प्रबन्धगत रस की स्फुरणा में किसी भी प्रकार की अस्वाभाविकता अथवा अनुचित भावना बाधक न बन सके। भारतीय काव्य-शास्त्र में नायक-नायिकाओं के जो गुण वर्णित किये गये हैं, वे मनोवैज्ञानिक आधारों से संपुष्ट हैं, अतः काव्यवर्णना में उनका परिपालन किया जाना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। हाँ, इस बात की अवश्यमेव आवश्यकता है कि कभी-कभी कथानायक नरेशों के प्रभावातिशय का केवल दिव्य चरित्रों के रूप में जो वर्णन किया जाता है, वह मूलतः मानवीय प्रकृति पर ही आधारित होना चाहिए अन्यथा उसकी रस-व्यंजकता में एक विशिष्ट प्रकार का अनौचित्य भी आ सकता है।

कथानायकों का संघटनौचित्य

भारतीय परम्परा के प्रबन्ध काव्यों में कथा-नायकों का संघटन जिन दिव्या-दिव्य रूप में किया गया है उनका रसानुभूति की दृष्टि से विशेष महत्व है। यहाँ की सांस्कृतिक मान्यताएँ मूलतः आध्यात्मिक और आदर्शपरक रही हैं अतः नायकों के चरित्र में उक्त स्वरूप का समायोजन विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में दो प्रख्यात वस्तु-

विषय और प्रख्यात उदात्त नायकत्व को अनिवार्य महत्त्व प्रदान किया गया है। ऐसा करने से नायक के औचित्यानौचित्य के विषय में किसी भी प्रकार का मति-भ्रम नहीं हो सकता। कल्पित कथा के आधार पर नाटक या काव्य आदि का निर्माण करने से अनेक बार नायक में अप्रसिद्ध और अनुचित स्वभावादि के वर्णन से प्रबन्ध काव्य की रसात्मकता कम हो जाती है। भारतीय आचार्यों ने नायकोचित मर्यादा की दृष्टि से उनकी रति व्यंजना के भी रूप और स्तर निर्धारित किये हैं। उन्होंने इस बात का निषेध तो नहीं किया है कि दिव्य-चरित नायकों की रत्यादि का वर्णन ही न किया जाय, किन्तु यह मान्यता अवश्य व्यक्त की है उनका चित्रण करते हुए उनकी नैसर्गिक शालीनता और प्रतिष्ठित दिव्यता का ध्यान अवश्यमेव रखना चाहिए। ऐसा करने से उनके चरित्र में भी निखार आता है तथा सहृदयजनों की रस चर्वणा में भी बाधा नहीं पहुँचती। चरित्रों की दिव्यादिव्य प्रकृति के कथा प्रदेश में प्रविष्ट होने की क्षमता न होने के कारण कभी-कभी लब्धप्रतिष्ठ कवियों के रमणीय पद्यादर्श भी विशृंखलित हो जाते हैं। विद्वानों ने मानवीय स्वभाव के अनुरूप शृंगार-विषयक प्रकृति का जो औचित्य विवेचित किया है उसका परिपालन करना अनिवार्य सा है क्योंकि उससे भिन्न जो कोई भी अन्य दिव्य औचित्य है, वह रसाभिव्यक्ति में अनुकूल नहीं हो सकता तथा काव्यास्वादयिताओं के मानस में दिव्य रति आदि विषयक संस्कार न होने से उन्हें रसानुभूति नहीं हो सकती। अपने कथन को व्यावहारिक बनाने की दृष्टि से हम यह मानते हैं कि जिस प्रकार राजा आदि उत्तम नायकों में शृंगार का उपनिबन्ध ग्राम्य शृंगार से विहीन होकर ही सुशोभित होता है, उसी प्रकार देवचरितों के अभिचित्रण में भी जो उनके प्रतिकूल आभासित होने वाली प्रकृति का यथासम्भव निषेध करना ही वाञ्छनीय है। कहने के लिए हम कवियों की निरंकुशता का चाहे कितना ही समर्थन करें, किन्तु रत्यादि भावनाओं की प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति करना अत्यंत प्रतिभासाध्य कार्य है। शृंगार के सम्भोग-पक्ष का चित्रण करते समय तो कवि की मनःस्थिति पर सामाजिक मर्यादाओं का एक ऐसा हल्का अंकुश रहना परम वाञ्छनीय है जो स्फोटक बनाने में भी अवगुंठन न बन जाय तथा जिसके द्वारा नग्नादि का व्यंजन भी प्रकृत्युचित विधि में सम्पन्न हो सके। ऐसे स्थलों पर ही काव्यकार के भाव-संतुलन की परीक्षा होती है अन्यथा अश्लीलत्व और ग्राम्यत्व दोषों का संस्पर्श उसकी काव्य-कृति में यत्किंचित् कलंक-कालिमा लगा ही सकता है, भले ही हम किसी महाकवि के प्रति श्रद्धाभिभूत बनकर उसका दोषान्वेषण न करें।

अनुभावादि का औचित्यबन्ध

यों तो भरतमुनि आदि आचार्यों ने अनुभावों में औचित्य विधायक ऐसे अनेक संकेत किये हैं जिनसे प्रबन्धगत रसाभिव्यंजकता का बल मिलता है किन्तु उनके

अतिरिक्त भी ऐसी अनेक विधियाँ हैं जिनका परिपालन करने से कथाबन्ध में चमत्कार आता है। कलानिपुण कवियों के मानस में इस विषय की स्वतः स्फुरणा होती है कि वे अपनी कृति को सर्वांगीण साफल्य प्रदान कर सकें और अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त अभ्यास, व्युत्पत्ति तथा माधुकाव्य-निषेवण द्वारा अपनी रचना को अधिकाधिक औचित्यपूर्ण बनाने में समर्थ हों। अनुभावों के औचित्य-पालन से कथावस्तु का परिष्करण होता है। यदि किसी कवि ने ऐतिहासिक अथवा पौराणिक घटना को अपने प्रबन्ध काव्य का आधार बनाया है तो उसे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह इतिहास-प्रसिद्ध कथाओं में से केवल उन्हीं अंशों को ग्रहण करे जिनमें विभावादि का औचित्य हो तथा जो अभिजात अभिरुचि का आह्लादन करने में समर्थ हो सके। केवल घटना-वर्णन अथवा साधारण रुचि का अनुरंजन ही कथा-चयन का मुख्य आधार नहीं बन सकता। कल्पित कथावस्तु को रसाभिव्यंजकता प्रदान करने के लिए तो कवि को और भी अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है अन्यथा उसमें उसका अव्युत्पत्ति-प्रदर्शन ही होता है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करने योग्य हैं जिनमें कवियों को इस बात का परामर्श दिया गया है कि वे कल्पित कथावस्तु का निर्माण ऐसी कुशलता से करें जिससे विभावादि का औचित्य और रस-प्रतीति का वातावरण बन सके। वस्तुतः कवियों की स्वेच्छाचारिता की भी एक रमणीय और प्रसादपूर्ण मर्यादा होनी चाहिए, जिसका आभास इन श्लोकों से मिल सकेगा—

> 'कथाशरीरमुत्पाद्यं' वस्तु कार्यं तथा तथा
> यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते।
> सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
> कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

अर्थात् कल्पित कथावस्तु का निर्माण इस विधि से करना चाहिए कि वह सम्पूर्णतया रसमय ही प्रतीत हो। सिद्ध रसों के समान (यथाः आस्वादमात्र योग्य न कि भावनीय या परिकल्पनीय) कथाओं के आश्रय जो रामायण आदि इतिहास हैं, उनके साथ रसविरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

कथा का रसानुकूल संस्करण और औचित्य निर्वाह

प्रबन्ध काव्य की रसव्यंजकता के लिए कथा का रसानुकूल संस्करण भी अभिकाङ्क्षणीय है। प्रायः देखा जाता है कि प्रबन्ध की कथावस्तु ऐतिहासिक परम्परा से अनुबद्ध होने पर भी अनेक स्थलों पर ऐसी भी हो सकती है जिसमें रस-विरोधी तत्त्व समाविष्ट हो जाएँ। ऐसी परिस्थिति में रससिद्ध कवियों को इस बात का अधिकार होता है कि वे रस-विरोधक कथाओं का परित्याग कर

ऐसी कथा का निर्माण करें जो अभीष्ट रस की ससिद्धि में सहायक हो। संसार के समस्त महाकवियों ने इस प्रकार की अभीष्ट योजना करते हुए अपनी कृतियों को अमरत्व प्रदान किया है। वस्तुत: निपुण कवि जितना अधिक रस-परतन्त्र होता है, उतना वस्तुपरतन्त्र नहीं। रस की सनिद्धि ही उसका चरम लक्ष्य है, अत: ऐतिहासिक घटनाओं में किसी भी प्रकार की रसविरोधिनी सभावना देखकर उन्हें प्रयोजनीय स्वतन्त्र रूपविधान प्रदान कर सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्यों ने कहा कि इतिवृत्तमात्र का निर्वाह ही कवि का प्रयोजन नहीं होता क्योंकि उसकी सिद्धि के लिए तो इतिहास-ग्रन्थ ही पर्याप्त हैं। (नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किंचित् प्रयोजन, इतिहासादेव तत्सिद्धे) कथाओं रसानुकूल परिवर्तन के अनेक उदाहरण विविध काव्यों की कथावस्तु का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत किये जा सकते हैं। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में अजादि राजाओं का विवाह-वर्णन तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला के प्रत्याख्यान की कथायोजना में यही बात अपने ध्यान में रखी है। वस्तुत: कालिदास को भ्रमरवृत्ति दुष्यन्त को उदात्त नायक बनाना अभीष्ट था जिसके लिए उन्होंने अपने नाटक में दुर्वासा के शाप तथा अंगूठी के खो जाने से शापप्रसूत-विस्मृति की योजना की है। महाकवि भवभूति के 'उत्तररामचरित' नाटक के तृतीय अंक में 'छायासीता' की कल्पना का हेतु ऐसे करुणरस की सृष्टि करना है जिससे 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयं' की उक्ति सार्थक बन सके। अभिप्राय यह है कि प्रबन्ध काव्य में रस-व्यंजना की निष्पत्ति के लिए रसानुरूप वस्तु-परिवर्तन का अधिकार कवि के लिए नितांत प्रयोजनीय है।

विवेचन के इसी प्रसग में इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि काव्य-रचना करते हुए समर्थ कवि काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों को अपना आदर्श बनाकर अपनी रचना क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता अपितु वह तो अपने सर्वोद्रेक के कारण अपनी संवेदनाओं को ही शब्दरूपता प्रदान करता है। काव्य कृति का निर्माण होने के पश्चात् उसकी कृति का शास्त्रीय विवेचन भले ही किया जाय, किन्तु रचना-व्यापार में तो कवि का अतःकरण उसे प्राथमिकता देकर प्रवर्तित (रसविगलित) नहीं होता। इसका एक प्रमाण यह है कि जिन शास्त्र-कवियों ने शास्त्रोक्त विधि से काव्योचित सन्धियों और सन्ध्यंगों को प्राधान्य देकर अपनी रचनाएँ की हैं वे नामपरिगणन के रूप में भले ही सफल कहे जा सकें, किन्तु उनसे रस-व्यंजना का प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होता। बात यह है कि जिस प्रकार अवयवों का सर्वांगीण सस्थान ही हमें तब तक व्यक्तित्व की सजीवता नहीं प्रदान कर सकता जब तक कि उसमें आत्मचेतना का प्रस्फुरण न हो, उसी प्रकार किसी भी काव्य-कृति का निर्माण केवल शास्त्र-मर्यादा का पालन करने की इच्छा से किया जाता है तो उसमें रसाभिव्यंजन की क्षमता उद्भूत नहीं हो सकती। इस

तो कवि का कर्म इतना अधिक गुरुतम और महान् प्रतीत होता है कि उसकी चरम सिद्धि विरले कवियों में ही दृष्टिगोचर होती हैं। प्रबन्ध काव्य में तो उसकी सर्जन-शक्ति और भी अधिक असाधारण और लोकोत्तर होनी चाहिए क्योंकि उसके द्वारा जिस कथा की निष्पत्ति की जाती है, उसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि कवि उसमें रसांतर का उद्दीपन देखकर उसे पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करे जिससे प्रधान रस विच्छिन्न होते-होते बच जाय। सफल कवि अपनी प्रबन्ध-धारणा में इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि वे अलंकार प्रयोग की पूर्ण शक्ति रखते हुए भी अपनी रचना में केवल उन्हीं अलंकारों की योजना करें जो रसाभिव्यंजन के अनुरूप हों। जो कवि अलंकार-निबन्धन में ही मग्न होकर अपना रचना-कौशल प्रदर्शित करना चाहते हैं, उनकी कृति आलंकारिक छटा के उत्कर्ष और कला-वैदग्ध्य के प्रकर्ष से भले ही अभिनन्दनीय स्वीकार कर ली जाय, किन्तु रसाभिव्यंजन की दृष्टि से तो वह गरिमामय नहीं समझी जायगी। वस्तुतः काव्य में प्रबन्धव्यंजकता का सफल निर्वाह करना उत्कृष्ट कवियों की क्षमता का ही कार्य है और इसीलिए इस विषय में सभी आचार्य सहमत हैं कि उसमें रसबंध के औचित्य का परिपालन तो होना ही चाहिए। उसकी सफलता का श्रेय कथा-शरीर और अलंकार संयोजन को उतना नहीं है जितना रस-चमत्कार और व्यंग्य-विभुता को। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस तत्व का निर्वाह केवल औचित्य-योजना से ही संभव है तभी तो आचार्यों ने बार-बार औचित्य-निर्वाह में काव्य की सरस सफलता और अनौचित्य में रसभंग-हेतु निरूपित किये हैं। आचार्य आनन्दवर्धन का तो स्पष्ट मत है :

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

10

संस्कृत काव्यशास्त्र का वैचारिक विकास

'काव्यशास्त्र' के पर्यायवाची शब्द

भारतीय वाङ्मय में 'काव्यशास्त्र' के लिए 'अलंकारशास्त्र' 'काव्यालंकार' 'साहित्यविद्या', 'काव्यलक्षण' और 'क्रियाकल्प' आदि अनेकानेक पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें 'अलंकारशास्त्र' शब्द सर्वाधिक प्राचीन और बहुप्रचलित प्रतीत होता है। काव्यसमीक्षा के एक विशेष काल में इस शब्द की व्याप्ति इतनी अधिक थी कि उसमें तथाकथित अलंकारों के अतिरिक्त रस, रीति, गुण और वक्रोक्ति आदि विषयों का भी अन्तर्भाव कर लिया गया था और साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों को 'अलंकारग्रन्थ' तथा उनके निर्माताओं को 'आलंकारिक' कहा जाता था। इसका प्रमाण भामह, उद्भट, वामन और रुद्रट आदि आचार्यों द्वारा रचित वे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं जिनमें काव्य-न्याय, शब्दशुद्धि, रीति विवेचन और रस-निरूपण आदि विषयों की विवेचना होते हुए भी उनके नाम क्रमशः 'काव्यालंकार' 'काव्यालंकारसारसंग्रह', 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' तथा 'काव्यालंकार', आदि रखे गये हैं जिनसे अलंकार शब्द की अर्थव्याप्ति सिद्ध होती है। इन आचार्यों के परवर्ती काल में एतद्विषयक ग्रन्थों के नामकरण में कुछ भिन्न दृष्टिकोण ग्रहण किया गया है जिसके फलस्वरूप काव्यांगों के निरूपक ग्रन्थों के नाम 'काव्यमीमांसा', 'काव्यप्रकाश', 'काव्यादर्श, और 'काव्यानुशासन' आदि रखे गये हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा में काव्य विवेचन के किसी विशिष्ट अंग को लेकर जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनके नाम 'ध्वन्यालोक', 'व्यक्तिविवेक', 'हृदयदर्पण' और औचित्य विचार-चर्चा, आदि हैं जिनमें क्रमशः ध्वनि, व्यंजना रस और औचित्य सम्बन्ध सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। रुद्रट के पश्चात् 'काव्य' के स्थान पर 'साहित्य' शब्द व्यवहृत होने लगा था जिसे ध्यान में रख कर राजशेखर ने 'काव्यशास्त्र' के स्थान पर 'साहित्य विद्या' शब्द का प्रयोग किया और उसे पंचमी विद्या की अभिधा प्रदान की। उस समय पर्यन्त 'साहित्य' शब्द 'काव्य' की ही भाँति प्रचलित हो गया था, जिसके प्रमाण में मधुर कवि, मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज, क्षेमेन्द्र, कुन्तक और भोज आदि विद्वानों की उक्तियाँ

उद्धृत की जा सकती है।[1] रुय्यक ने काव्यांगों के विवेचक 'साहित्य-मीमांसा' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा 'व्यक्तिविवेक' की टीका में 'साहित्य' शब्द की जो व्याख्या की है, वह अभिधावृत्ति. मुकुल की मान्यता के ही अनुरूप है क्योंकि उसमें 'साहित्य' के लिए 'तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनानतिरिक्तत्वम्' की पदावली उद्धृत है। 'काव्य' के स्थान पर 'साहित्य' शब्द की व्याप्ति होने के कारण ही विश्वनाथ ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का नाम 'साहित्यदर्पण' रखा था जिसमें श्रव्य और दृश्य नामक द्विविध काव्यों के अंगों का सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है।

'काव्यलक्षण', 'काव्यलक्ष्य' और 'क्रियाकल्प'

यद्यपि 'काव्यशास्त्र' के लिए 'काव्यलक्ष्य' शब्द के प्रयोग की परम्परा अत्यंत परिसीमित रही है तथापि उसका उल्लेख करना आवश्यक है। भामह ने अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में 'अवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म' लिख कर 'काव्य लक्ष्म' शब्द को 'काव्यालंकार' का पर्याय माना है तो दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में 'यथा सामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणं' द्वारा एक प्रकार से भामह के पूर्वोक्त कथन का ही समर्थन किया है। जिस प्रकार काव्यालंकार के विवेचक आचार्यों के लिए 'काव्यालंकारिक' शब्द प्रचलित रहा है, उसी प्रकार 'काव्य-लक्ष्म' तथा 'काव्य-लक्षण' के विवेचकों के लिए ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन द्वारा 'काव्यलक्षणकारी' 'काव्यलक्षणविधायी' तथा 'काव्यलक्षणविधायी' आदि शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। काव्यशास्त्र के लिए 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग भी हुआ है, किन्तु उसका प्रचलन कदापि लोकविश्रुत नहीं रहा। वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' नामक ग्रन्थ अन्तर्गत जिन 64 कलाओं की गणना की है उनमें क्रिया-कल्प' भी एक है। उनके मतानुसार 'क्रियाकल्प' का अर्थ है काव्यकरण के नियम अर्थात् काव्यालंकार कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने अभिधानकोष और छन्दों ज्ञान के साथ-साथ क्रियाकल्प को भी काव्यक्रिया की उपयुक्त कला कह कर काव्य-निर्माण तथा काव्य-परिशीलन-हेतु उसकी उपयोगिता सिद्ध की है। यशोधर के अनुसार 'काव्यक्रिया' का अर्थ है काव्य-निर्माण और 'क्रिया-कल्प' का अर्थ है काव्य-करण-विधि। भामह ने क्रियाकल्प के स्थान पर 'काव्यक्रियादर' शब्द का प्रयोग किया है तो दण्डी ने 'क्रियाविधि' का। वस्तुतः 'विधि' और 'कल्प'

---

1. विना न साहित्यविदापरत्र गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम्।
(मङ्खक. श्रीकण्ठचरित)
पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिबिम्बितम्।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति॥
(मुकुल भट्टः अभिधावृत्तिमातृका)
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः (क्षेमेन्द्र औचित्यविचारचर्चा)

शब्द समानार्थक हैं, अतः काव्यादर्श के टीकाकारों ने दोनों के लिए 'क्रिया-विधान' 'रचनाप्रकार' तथा 'काव्यकरणविधि' आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। 'क्रियाकल्प' शब्द का विशेष स्पष्टीकरण वाल्मीकीय रामायण के उस प्रसंग से होता है जहाँ महर्षि ने रामसभा में लव और कुश द्वारा रामायण-गान किये जाने के समय उपस्थित श्रोताओं में पौराणिक शब्दवेत्ता, गान्धर्ववेत्ता, कलावान् और छन्द-शास्त्रज्ञों के साथ-साथ 'क्रियाकल्पविद्' व्यक्तियों का भी उल्लेख किया है।[1] उस प्रसंग से स्पष्ट है कि 'क्रियाकल्पविद्' वस्तुतः 'काव्य-समीक्षक' ही होते थे। कालान्तर में काव्य-रचना के लिए 'क्रिया' शब्द के प्रयोग की एक रूढ़ि सी प्रचलित हो गई जिसका उल्लेख कालिदासकृत 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशीय' नामक नाटकों में भी मिलता है।[2] संभव है, 'क्रियाकल्प' शब्द 'काव्यविधानकल्प' का ही संक्षिप्त रूप हो।

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। गंगोत्री के समान उसका उद्गम-स्थल अत्यन्त गूढ़ और प्रारम्भिक प्रवाह अत्यन्त सीमित है किन्तु कालक्रम से वह विस्तृत और व्यापक बन कर गंगासागर के रूप में परिणत हो गया है। शोधकर्ताओं ने उसका मूल उत्स वैदिक साहित्य में अन्वेषित कर उसके विकास की विवेचना की है जिसमें तथ्यपरकता के साथ-साथ तथ्यमीमांसा के भी सद्प्रयत्न समन्वित हैं। उनके द्वारा भारतीय चिंतकों के उर्वर मस्तिष्क की प्रौढ़ शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने काव्यशास्त्र के कलेवर में काव्यात्मसमीक्षा करते हुए उन समस्त प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया है जो काव्य के स्वरूप और उसके अंगोपांगों से सम्बद्ध हैं। सहस्राधिक वर्षों की अवधि में अनुव्याप्त भारतीय मनीषियों की चिन्तनमयी ज्ञान-गरिमा के ज्योतिर्मय स्फुलिंग उनकी चर्चाओं में प्रोद्भासित हैं। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य नाम क्रमागत काव्य-सिद्धान्तों द्वारा काव्य-पुरुष के विराट् वपु के अंग-प्रत्यंगों का पर्यवेक्षण करते हुए उन आचार्यों ने अपनी सैद्धान्तिक विवेचना प्रस्तुत की है और अपने मन्तव्यों की सम्पुष्टि के लिए यथा-प्रसंग उदाहरणों का भी समायोजन किया है। उनकी विवेचनाओं में किसी भी

---

1. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड 94/5-7
2. भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः। (मालविकाग्निमित्र)
   प्रणयिषु वा दाक्षिण्यात् अथवा सद्वस्तु बहुमानात्।
   शृणुत जना अवधानात् क्रियामिमां कालिदासस्य॥ (विक्रमोर्वशीय)

शास्त्रग्रन्थ के लिए अपेक्षित 'विषय' विशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और निर्णय नामक पंचांगों का क्रमिक निर्वाह भी हुआ है जिससे उनके अध्ययन की सन्तुलित, व्यवस्थित, तथ्यपरक, तत्वपूर्ण और वैज्ञानिक प्रणाली का बोध होता है। यह उनकी साधना ही सुफल है कि काव्य-विवेचना ने शास्त्र का एक ऐसा विशिष्ट रूप धारण कर लिया है जिसमें धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और आचार-शास्त्र आदि ग्रन्थों की विधिनिषेध प्रणाली की भांति शासन का भाव न होकर काव्य के 'संमत्' का भाव है। उसके विवेचक हमारे सम्मुख अभिभावक, मित्र, मन्त्री और अनुचर आदि विविध रूपों में आते हैं जिनकी शास्त्र-चर्चा हमारे लिए शिक्षक के साथ-साथ चिन्ता-अनुरंजन का भी विषय रही है। शास्त्रीय अभिरुचि वाले मर्मज्ञों को उन ग्रन्थों के आगमन से परमानन्द की सी उपलब्धि होती है और उनका चैतन्य उन विद्वान मनीषियों की प्रतिपत्ति और सत्याभिनिवेशिता के सम्मुख श्रद्धाभाव से सहसा विनत हो जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र की उस सुदीर्घ परम्परा का एक महान् इतिहास है जिसका व्यापक विश्लेषण करना हमारा मूल प्रयोजन नहीं है। हमने तो उसके विपुल वाङ्मय से केवल उन्हीं तत्वकणों का सञ्चयन करने का प्रयास किया है जो संस्कृत काव्य-शास्त्र के वैचारिक विकास को स्पष्ट करने के लिए भूमिका का काम दे सकते हैं।

वैचारिक विकास के विविध चरण

'क्रियाकल्प' की अवस्था

भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास जिस अनुक्रम से हुआ, उसकी कालावधि प्रायः दो सहस्र वर्ष है। इस कार्यकाल में काव्यशास्त्र ने विविध प्रकारों से अपना स्वरूप-विकास प्रदर्शित किया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाट्यमण्डप की रचना से लेकर नाट्यसिद्धि पर्यन्त प्रयोजनीय नाट्यप्रयोग के जिन अंगों का विवेचन किया गया है, उससे प्रकट है कि नाट्यशास्त्र का स्वरूप प्रयोग-प्रधान रहा और उसमें जो-जो सैद्धांतिक चर्चा तथा क्रिया-विधान हुआ है, वह केवल नियमन में ही था। नाट्य-काव्य की चर्चा तो इसके वाचिक अभिनय का एक आनुषंगिक अंगमात्र है जिसमें यथाप्रसंग काव्य-लक्षण, काव्यालंकार और गुण-दोषों का भी स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है। उस विवेचन से प्रकट है कि भरतमुनि ने काव्य-लक्षणों का स्वरूप निर्धारित करने में निरुक्त और मीमांसा ग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली है। वस्तुतः भरत का 'नाट्यशास्त्र' काव्यचर्चा के क्षेत्र में उसकी 'क्रियाकल्प' अवस्था का ही द्योतक है क्योंकि सामान्यतया क्रियाकल्प को काव्यकरण के नियमों का पर्यायवाची शब्द कहा जा सकता है।

'काव्य लक्षण' और उसकी वैचारिक सूक्ष्मता

भरतमुनि से लेकर आचार्य भामह और दण्डी तक जिस काव्य-चर्चा का विकास हुआ, वह 'क्रियाकल्प' की अवस्था न होकर 'काव्यलक्षण' की अवस्था है। उस काल में काव्य-चर्चा का स्वतन्त्र स्वरूप बनने लगा था और उसे नाट्य के अंगरूप में चित्रित करना पर्याप्त नहीं समझा जाता था। यही काल काव्य-लक्षणों का अलंकारों में रूपान्तरण होने का था और 'क्रियाकल्प' के स्थान पर 'काव्यलक्षण' पद का प्रयोग काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अधिक उपयुक्त समझा जाता था। भामह और दण्डी के पश्चात् आचार्य रुद्रट तक जिस काव्यशास्त्र का विकास हुआ, उसके लिए 'काव्यालंकार' शब्द विशेष रूप से स्वीकृत हुआ। इस काल में काव्यगत सौन्दर्य धर्म अथवा सौन्दर्य-निर्माण के साधन के रूप में 'अलंकार' शब्द रूढ़ सा हो गया और आचार्यों ने काव्यांगों के रूप में विशिष्ट अलंकारों के साथ-साथ गुण और रस आदि का भी विवेचन किया। तदनन्तर आचार्य आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट पर्यन्त जो काव्यशास्त्रीय विवेचना हुई, उसमें काव्य को शब्दार्थों का साहित्य कह कर शब्दों और अर्थों के 'विशेष' व्याख्यात किए गये। वस्तुत यही समय काव्यशास्त्र के विकास के चरमोत्कर्ष का काल था। इस काल के पश्चात् जो काव्यशास्त्री हमारे सम्मुख आये, उन्होंने पूर्व-निर्धारित काव्यतत्वों का विश्लेषण नवीन पद्धतियों से किया और उनकी परम्परा पण्डितराज जगन्नाथ तक चलती रही। इस परम्परा का सम्यक् आकलन करने से प्रकट होता है कि काव्य चर्चा के तत्वविमर्श की पद्धति क्रमश उसके सूक्ष्म आन्तर धर्मों के विश्लेषण की ओर उन्मुख रही है। आचार्य भरतमुनि ने रस-निष्पत्ति का जो सूत्र नाट्यांगों के एकत्रीकरण अथवा संयोग की अवस्था में निरूपित किया था, वह केवल वहीं तक सीमित न रह कर शब्दार्थों से सम्पूर्ण साहित्य तक व्याप्त हो गया और काव्य मीमांसा में इस विषय पर विशेष बल दिया जाने लगा कि काव्य और शास्त्र में समान शब्दार्थ होने पर भी काव्य-प्रयुक्त शब्दार्थों का पर्यवसान आनन्द में होता है जबकि शास्त्र चर्चा के लिए यह अनिवार्य तत्व नहीं है। इस काल में व्याकरण को केवल शब्द-संस्कार का शास्त्र कह कर उसकी सीमा में अर्थसंस्कार को वह प्रश्रय नहीं दिया गया जो काव्य शास्त्र को अभीष्ट था। उस समय के विद्वानों ने इस बात को विशेष रूप से संपुष्ट करने का प्रयत्न किया कि काव्य का सौन्दर्य केवल शब्दों और उनके रूढ़ संकेतों तक ही सीमित नहीं है अपितु वह मीमांसकों की लक्षणा और तद्-सम्भूत वक्रोक्ति से भी अधिक व्याप्त है। काव्य-सौन्दर्य की उस विशेषता को व्यक्त करने के लिए भामह ने 'वक्रोक्ति' दण्डी ने 'समाधि' गुण और उद्भट ने 'अमुख्यवृत्ति' के परिप्रेक्ष्य में अपनी विवेचनाएँ प्रस्तुत की हैं। वामन ने काव्य-सौन्दर्य का पुन विवेचन कर इस बात की पुष्टि की कि काव्य का सौन्दर्य केवल

अलंकारों पर आधृत न होकर गुणों पर अधिष्ठित है तो उनके उत्तरवर्ती आचार्य रुद्रट ने रस को काव्य के विशेष गुण के रूप में निरूपित करना ही श्रेयस्कर समझा। यद्यपि इन विवेचकों की मान्यताओं में सापेक्षिक दृष्टिभेद भी था, किन्तु इस विषय में प्रायः सभी आचार्य सहमत थे कि शब्दार्थों में पाये जाने वाले गुणालंकारों के विशिष्ट धर्मों के कारण ही रस की निष्पत्ति होती है। रुद्रट के परवर्ती आचार्यों ने अपनी विवेचना धर्ममुख से करनी उचित न समझ कर व्यापार-मुख तथा फलमुख से करनी अधिक तत्वसंगत समझी। इस क्षेत्र में आचार्य आनन्दवर्धन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि वे फलमुख से काव्यमीमांसा करते हुए यह तत्वोपलब्धि कर सके थे कि रस की निर्मिति अथवा अनुमिति न होकर अभिव्यक्ति होती है। उनके अनुसार काव्यगत शब्दों का पर्यवसान व्यंग्य अथवा रस में ही मानते हुए काव्यांगों की शास्त्र-व्यवस्था करनी चाहिए। आचार्य कुन्तक ने काव्य की मीमांसा 'कविव्यापारमुख' से तथा भट्ट नायक ने 'रसिकव्यापारमुख' से करते हुए अपनी मान्यताएँ प्रतिष्ठित कीं जिनकी परिपूर्णता मम्मट तथा अभिनवगुप्त की कृतियों में प्रदर्शित हुई। काव्यशास्त्र का यह क्रमागत विकास वस्तुतः अत्यन्त अभिनन्दनीय है क्योंकि इसमें क्रमशः स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रयाण करने का सद्प्रयत्न परिलक्षित होता है।

काव्य के वर्गीकरण के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि काव्यशास्त्रीय विकास की इस वैचारिक परम्परा में काव्य के वर्गीकरण के प्रति भी विविध दृष्टिकोण रहे हैं। आचार्य भामह से रुद्रट पर्यन्त काव्य का वर्गीकरण गद्य-पद्य, निबद्ध-मुक्त तथा सर्गबन्ध-अभिनेयार्थ आदि दृष्टिकोणों से किया गया, जबकि ध्वनिकार ने उसे ध्वन्य, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र आदि भेदों में वर्गीकृत कर विभाजन की दिशा ही परिवर्तित कर दी। 'ध्वन्यालोक' का यह विचार-दर्शन निश्चय ही अधिक व्यापक और सुग्राह्य था, क्योंकि उसमें न केवल पूर्वकृत विभाजन की ही समुचित व्यवस्था थी अपितु उसे एक प्रौढ़ और शास्त्रीय अधिष्ठान भी प्राप्त हुआ था। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्गीकरण के इस नूतन दृष्टिकोण ने काव्य-चर्चा की पद्धति में भी परिवर्तन ला दिया जिसकी फलश्रुति मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में स्पष्टतया परिलक्षित होती है। मम्मटोत्तर काल में विवेचन का यह दृष्टिकोण सूक्ष्मतर होता गया है, यद्यपि काव्य-चर्चा की विमर्श-पद्धति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि का जो त्रिप्रकारत्व निर्दिष्ट किया था, वह अभिनवगुप्त द्वारा 'रस एव वस्तुत आत्मा' वस्त्वलंकार ध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते' के रूप में निरूपित हुआ तथा मम्मटकृत रस

का अर्थीकरण में निर्देश विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' सूत्र में काव्यात्मतत्व के रूप में मर्यादित हुआ। पण्डितराज जगन्नाथ का वर्गीकरण यों तो अधिकांशतः मम्मट की मान्यताओं के क्रोड में निक्षिप्त है किन्तु उन्होंने चित्रकाव्य के अर्थचित्र तथा शब्दचित्र नामक दो स्वतन्त्र भेद करते हुए काव्य के वर्गीकरण को जो सूक्ष्मता प्रदान की है वह निश्चय ही पुरोगामी है। उन्होंने चित्रबन्ध तथा एकाक्षरबन्ध सदृश काव्य-भेद स्वीकार ही नहीं किये हैं।

सैद्धांतिक विचारणाओं की संयोजन प्रणाली

काव्य चर्चा के इस विकास क्रम में यह बात भी उल्लेखनीय है कि भामह से लेकर उद्भट तक (वामन को छोड़कर) जितने भी काव्य विवेचक आचार्य हुए, उन सब ने अपनी सैद्धांतिक विचारणाओं के स्पष्टीकरण में केवल स्वरचित संस्कृत छन्दों के उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं जबकि आचार्य आनन्दवर्धन से यह क्रम परिवर्तित हो जाता है। आनन्दवर्धन ने काव्य-चर्चा के विमर्श में जिन उदाहरणों को उद्धृत किया है, वे उनके द्वारा रचित न होकर विभिन्न सुप्रसिद्ध कवियों के हैं। उदाहरणों का यह परिवर्तित दृष्टिकोण इस तथ्य का निर्देशक है कि आनन्दवर्धन के पूर्व 'शास्त्र विरचना' की प्रवृत्ति ही प्रधान थी जबकि उनके समय में शास्त्र की पुनर्व्यवस्था एवम् तत्वपरीक्षा की प्रवृत्ति प्रमुख बन गई। ध्वनि-तत्व की विवेचना करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने न केवल अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित मान्यताओं का ही आलोडन विलोडन किया, अपितु संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत काव्य के भी ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जिनके आधार पर वे ध्वनि-तत्व का विवेचन सूक्ष्म दृष्टि से कर सके। संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषा के काव्योदाहरणों की यह परम्परा आचार्य मम्मट की कृतियों से लेकर हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ तक चलती रही है जिसमें हेमचन्द्र ने तो ग्राम्य अपभ्रंश को भी उसके अंतर्गत यथोचित स्थान दिया है। यह एक विचित्र किन्तु महत्वपूर्ण बात है कि परवर्ती युग के रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती, अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने केवल संस्कृत पद्यों के ही उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिसका कारण उनकी साम्प्रदायिक मान्यतायें, व्यक्तिगत अभिरुचि और संस्कृत के आभिजात्य का प्रतिष्ठापन करना है। यद्यपि ये आचार्य प्राकृत तथा अपभ्रंश की विशाल काव्यनिधि से भी सुपरिचित थे तथापि उन्होंने केवल संस्कृत के प्रति ही अपनी मन स्थिति रखी और आवश्यकता पड़ने पर प्राकृत छन्दों का संस्कृतीकरण करने में भी संकोच नहीं किया। इस प्रवृत्ति से संस्कृत काव्य में अनेक नवीन अर्थ-छवियों का संयोजन हुआ, किन्तु प्राकृत और अपभ्रंश की नैसर्गिक काव्य-धारा की भाव-लहरियों में अवगाहन करने का मार्ग अवरुद्ध सा हो गया।

काव्यशास्त्र का वैचारिक विकास क्रमिक और चिर नवीन है

संस्कृत काव्यशास्त्र के वैचारिक विकास को लेकर जो सामान्य परिचय दिया गया, उससे स्पष्ट है कि विकास की इस सुदीर्घ परम्परा में प्रायः दो शताब्दियों के कार्यकाल में विरचित वाङ्मय का समावेश होता है। यदि भरत-मुनि का कार्यकाल ईसा से दो शताब्दी पूर्व माना जाय और राजशेखरकृत वाङ्मय-विमर्श तथा साहित्यविद्याविभाग के प्रवर्तकों के नाम पौराणिक न मान कर ऐतिहासिक माने जायें, तब तो उसका प्रवर्तन-काल और भी पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। विकास की इस विस्तृत सीमारेखा में काव्य-विवेचना का मार्ग अनेक प्रकार की बाधाओं और समस्याओं का अतिक्रम कर अपनी प्रशस्ति प्राप्त कर सका है। भरतमुनि का काव्यनाट्य विवेचन जिन काव्यलक्षणों की क्रोड में विकसित हुआ, वह कालान्तर में काव्यालंकारों के स्वरूप-विधान और परलवन का आधार बना था। भरतमुनि के पश्चात् ऐसा प्रतीत होने लगा कि आचार्यों का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट हो रहा था कि काव्यलक्षण, काव्यालंकार और काव्यगुणों में तात्त्विक अन्तर स्पष्ट किया जाना परम वांछनीय और उपयोगी है। आचार्य भामह के रचनाकाल में काव्यशास्त्रीय विवेचना ने स्वतन्त्र अस्तित्व धारण करने का उपक्रम किया और उसे नाट्यशास्त्र की परवशता स्वीकार नहीं हुई। काव्यशास्त्रीय विवेचना में यह भी एक अत्यन्त रोचक और विचारणीय विषय है कि नाट्यशास्त्र के लक्षण अपनी उत्तरवर्ती सीमा में अलंकारों का परिधान धारण कर क्यों उपस्थित हुए? यह अत्यन्त उल्लेखनीय बात है कि भामह और दण्डी के कार्य-काल में काव्यचर्चा अथवा काव्य-विवेचना 'नाट्य' का अंग न होकर अंगी बन गई थी और उन आचार्यों ने 'नाट्य' को भी काव्य के एक भेद के रूप में प्रतिष्ठित करना ही युक्तियुक्त समझा था। काव्य-विवेचना के स्वतन्त्र विकास का एक कारण यह भी था कि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं में प्रबन्ध, मुक्तक और गद्य-रचनाओं के भक्तिपरक साहित्य का निर्माण इतनी अधिक व्यापकता और विविधता से होने लगा था कि काव्य-शास्त्रियों ने उनके विमर्श के लिए स्वतन्त्र पथ और स्वायत्त दृष्टि का महत्त्व समझना प्रारम्भ किया। गद्य, पद्य और चम्पू के नाम से प्रख्यात काव्य-विधा का विवेचन अनेकानेक सरणियों में किया जाने लगा। कथा और आख्यायिका तथा निबद्ध और अनिबद्ध के नाम से काव्य के जो भेदोपभेद किये गये, वे काव्य-विवेचना के स्वतन्त्र प्रतिमान बने। अब काव्य को वाचिक अभिनय की आनु-षंगिक भूमिका में निरूपित करना उचित नहीं समझा जाता था। अभिप्राय यह है कि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन आदि आचार्यों के सद्प्रयत्नों से संस्कृत काव्य-शास्त्र के वैचारिक विकास को नवीन प्रस्फुरण प्राप्त हुआ था जो क्रमशः जीवन्त बनता हुआ काव्य के स्वरूप-बोध में अनेक मौलिक तत्त्वों का

समायोजन कर सका।

संस्कृत काव्यशास्त्र के वैचारिक विकास के जो विभिन्न चरण निर्धारित किये गये हैं, उनकी संक्षिप्त सीमा में अनेक महत्त्वपूर्ण आचार्यों का कृतित्व समाहित होता है। इन आचार्यों के ग्रन्थों और उनमें प्रतिपादित विचार-सामग्रियों का तत्त्व-चिन्तन इतना गम्भीर और व्यापक है कि उनका सम्यक् निरूपण करना निबन्ध के इस लघु कलेवर में सम्भव नहीं है। वैचारिक विकास की उक्त विशाल परि-सीमा में भामह, दण्डी उद्भट और वामन के अतिरिक्त रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनञ्जय, धनिक, कुंतक, महिम भट्ट, भोज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख आचार्यों की गणना होती है। जिनकी कृतियों का सम्यक् आकलन और अध्ययन करने के पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र के वैचारिक विकास का वह तत्व-बिन्दु ग्रहण किया जा सकता है जिसने अपना क्रमिक विस्तार प्राप्त करते हुए काव्य-चर्चा के गम्भीर विषय को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख किया था। कोई नवीन-तावादी और अपरिपक्व बुद्धि आलोचक पुरातनता की जड़ता और परम्परा को अवरोध का प्रतीक मान कर संस्कृत काव्यशास्त्र के वैचारिक विकास को 'समय-बाह्य' और निरर्थक सिद्ध करने की भले ही कल्पना करे, किन्तु उसमें साहित्य-विवेचना की जो 'आलोकरेखा' प्रोद्भासित हुई है, वह युग-युग पर्यन्त चिर नवीन तथा विश्व-साहित्य विमर्श के आलोक-बिन्दुओं से अनुप्राणित रहेगी।

11

'काव्य-पुरुष' का तत्व-निष्यंद

स्वरूपनिरूपण के प्रयत्न

शब्दार्थ-रूप में परिलक्षित काव्य-पुरुष के स्वरूप-बोध का विवेचन सभी देशों के साहित्य में विविध दृष्टियों से किया गया है। इस क्षेत्र में संस्कृत काव्यशास्त्र का महत्व विशिष्ट प्रकार का है क्योंकि उसमें अलंकार-चर्चा से लेकर रस-ध्वनि पर्यन्त जो कुछ भी विमर्श हुआ है वह अत्यंत गुरु-गम्भीर और उत्तरोत्तर विकास का संसूचक है। उस विवेचन में मुख्य बात यह है कि काव्य-शास्त्रियों का दृष्टिकोण स्थूल तथ्य ग्रहण करने की दिशा से सूक्ष्म तत्व-बोध की ओर उन्मुख एवं शरीरस्थानीय प्रवृत्ति से आत्मस्थानीय भावना की ओर अंतर्मुखी बनता गया है। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि और औचित्य आदि काव्य-सिद्धान्त एक प्रकार से काव्य-पुरुष के स्वरूप-निरूपण की दिशा में ही किये गए सुप्रयास हैं। इन सिद्धान्तों की विकासक्रम में भी एक ऐसा अन्तर्सूत्र विद्यमान है जिससे स्पष्ट होता है कि वे एक दूसरे के एकांततः विरोधी न होकर पूरक मात्र हैं। यदि अलंकारवादियों ने सौन्दर्य को अलंकार का पर्याय कहकर काव्य-पुरुष के आत्मबोध के आभ्यंतरिक पक्ष की ओर दृष्टिपात किया है तो रसध्वनिवादी आचार्यों ने औचित्य को ही रस-निष्पन्नता का एक प्रमुख कारण माना है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इन आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप अपने अभिप्रेत काव्य-सिद्धान्त को अंगी तथा इतर काव्यसिद्धान्तों को अंगभूत रूप में उपस्थित किया है जिसके कारण सामान्यतया उनमें विरोध सा प्रतीत होता है। वस्तुतः तथाकथित सभी काव्यसिद्धान्तों में जिन्हें काव्य-सम्प्रदायों की अभिधा भी प्रदान की गई है, काव्य-पुरुष के स्वरूपोद्घाटन का ही सद्प्रयत्न है। भरत मुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने रस की गरिमा किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार की है जिसका परिणाम यह निकला है कि अन्ततः रस-सिद्धान्त को काव्य-पुरुष के आत्मबोध का सर्वोपरि *प्रतिमान निश्चित किया गया।* ध्वनिवादियों ने रस-ध्वनि को मूर्धन्य स्थिति प्रदान की तो वक्रोक्ति, रीति औचित्यवादियों ने भी रस-निष्पंदक उक्तियों का गुण-संस्तव किया। कालांतर में तो काव्य के भेदोपभेदों का विवेचन भी रसमुख से किये जाने लगा।

काव्य-पुरुष का दिव्य आख्यान

भारतीयों की आस्तिक भावना ने अन्य विद्याओं की भाँति काव्य विद्या का भी सम्बन्ध दिव्य चरित्रों के साथ संयोजित कर दिया है। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' (कविरहस्य) के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ही इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि भगवान श्रीकण्ठ (महादेव) ने काव्य विद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी और वैकुण्ठ आदि अपने चौंसठ शिष्यों को दिया। उस विद्या का द्वितीय बार उपदेश भगवान स्वयम्भू (परमेष्ठी) द्वारा उनके इच्छाजन्य (अयोनिज) शिष्यों को दिया गया जिनमें देववन्द्य सरस्वती-पुत्र-काव्य-पुरुष भी एक था। काव्यपुरुष को त्रिकालज्ञ और दिव्य दृष्टिसम्पन्न जान कर ब्रह्मा ने उसे यह आज्ञा दी कि वह सर्वजनहित की कामना से भू, भुव और स्वर्गनिवासी प्रजा में काव्य-विद्या के प्रवर्तन का शुभारम्भ करें। काव्यपुरुष ने काव्य-विद्या को अठारह भागों में विभक्त कर सहस्राक्ष आदि दिव्य स्नातकों को उपदिष्ट किया। उन शिष्यों ने काव्यविद्या के पृथक्-पृथक् भागों में विशेष योग्यता प्राप्त कर पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना की जिसका विवरण राजशेखर ने इस प्रकार दिया है —

'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेता, यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः इति।'[1]

दिव्योत्पत्ति का तात्त्विक विश्लेषण :

राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति, संवृद्धि, शिक्षा-दीक्षा, मनोवृत्ति और विवाह-संस्कार आदि विषयों को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उससे काव्य के स्वरूप-लक्षण तथा उसकी वृत्तियों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। प्रजापति ब्रह्मा के वरदान से देवी सरस्वती को काव्य-पुरुष की पुत्र-रूप में प्राप्ति का आख्यान काव्य की दिव्यता और अलौकिकता का प्रतीक है। जन्म लेते ही काव्य-पुरुष द्वारा छन्दोबद्ध भाषा में मातृचरणवंदन काव्य और छन्द की एकात्मकता का सूचक है। काव्य पुरुष का यह कथन कि 'सारा वाङ्मय विश्व उसके द्वारा अर्थ रूप में परिणित हो जाता है', निश्चय ही काव्य-

---

1. काव्यमीमांसा कविरहस्यं प्रथमोऽध्यायः, शास्त्रसंग्रह,

पुरुष के व्यक्तित्व का निर्देशक है। इस आख्यान द्वारा राजशेखर ने लौकिक काव्य की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है क्योंकि वेदों में तो छन्दोबद्ध वाणी का प्रयोग अपौरुषेय रूप में हुआ है, किन्तु लौकिक रूप में काव्य-सर्जन की छन्दोबद्धता विशेष प्रकार का वैशिष्ट्य रखती है। इस आख्यान से प्रतीत होता है कि लौकिक भाषा में गद्य-रचना की परम्परा पद्य-रचना की परम्परा से प्राचीन थी, तभी तो राजशेखर ने सरस्वती के मुख से कहलाया है— 'त्वत. पूर्वं हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम्। त्वदुपज्ञमथानि. छन्दस्वद्वच प्रवर्त्स्यंति।"[1] अर्थात् 'तुम से पूर्ववर्ती विद्वानों ने गद्य की सृष्टि की है, पद्य की नहीं। इस छन्दोबद्ध वाणी के प्रथम आविष्कारक तुम्हीं हो।'

राजशेखर ने सरस्वती द्वारा काव्य-पुरुष के अंग-प्रत्यंगों और गुणों के अतिरिक्त उसके आत्मतत्व का भी परिचय प्रस्तुत कराया है जो अत्यन्त सारगर्भित और तथ्यपूर्ण है। उसके द्वारा काव्य के तात्विक स्वरूप के साथ-साथ तत्कालीन काव्य-विधान का भी बोध होता है उसके अनुसार शब्द और अर्थ काव्य-पुरुष के शरीर, संस्कृत भाषा मुख, प्राकृत भाषाएँ, भुजाएँ, अपभ्रंश भाषा जघन, पिशाच भाषाएँ दोनों चरण और मिश्रभाषाएँ वक्षस्थल हैं। समता, प्रसन्नता, मधुरता, उदारता और ओजस्विता को काव्य की गुणनिधि कहा जा सकता है। उसकी वाणी सदैव उत्कृष्ट है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य में उदात्त तत्व का संगुम्फन स्वतः रहता है। रस को काव्य की आत्मा तथा छन्दों को उसके रोम कहा गया है। प्रश्नोत्तर प्रहेलिकाओं तथा समस्या-पूर्तियाँ काव्य के वाग्विनोद हैं। अनुप्रास और उपमा आदि अलंकारों द्वारा वह विभूषित किया जाता है। उसकी महत्ता का इससे अधिक अन्य प्रमाण क्या हो सकता है कि भावी अर्थों की अभिधात्री श्रुति (वेदशास्त्र) भी उसकी स्तुति करती है।[2] राजशेखर ने इसी प्रसंग में काव्य संस्तव के प्रमाण में जो वेदमन्त्र[3] उद्धृत किया है वह अत्यन्त रहस्यमय है क्योंकि उसके द्वारा काव्य का स्वरूप भगवान शंकर से उपमित किया गया है। इस मंत्र की आचार्य सायण ने यज्ञ पक्ष में और पतंजलि ने व्याकरण-पक्ष में विवेचित किया है, किन्तु हमें तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के 17 वें अध्याय की व्याख्या अभीष्ट है जिससे आचार्य राजशेखर भी सहमत हैं।

---

1. काव्य मीमांसा, तृतीय अध्याय, पृष्ठ 14
2. काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय, पृष्ठ-14
3. चत्वारि श्रृंगास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
   त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यांमा विवेश। (ऋग्वेद, 2-8-10)

दिव्योत्पत्ति के आख्यान में काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्व विद्यमान हैं

राजशेखर ने काव्य-पुरुष की प्रेरणा से महामुनि उशनस् द्वारा छन्दोबद्ध वाणी की प्रयोग-क्रिया का उल्लेख कर यह तथ्य ध्वनित किया है कि कवियों के मानस में काव्य-सर्जना की प्रेरणा दिव्य होती है और वे आभ्यंतरिक प्रकृति के साथ-साथ बहिर्जगत से भी अत्यधिक प्रभावित होते हैं। सरस्वती को सूक्ति-धेनु से उपमित करते हुए उसकी जो विशेषता निर्दिष्ट की गई है, वह वस्तुतः वाग्देवता की मूल आत्म-चेतना है।[1] भारतीय वाङ्मय की परम्परा में कहीं गोपालनन्दन कृष्ण को दोग्धा बना कर तत्वज्ञान का निष्यंद विवेचित किया गया है तो कहीं कालिदास ने कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग के अन्तर्गत हिमालय-वर्णन में धरित्री की दोहन-क्रिया का रूपक बाँधा है। इसी परम्परा के अनुपालन में कवियों को गोपाल मान कर उनके द्वारा सूक्तिधेनु सरस्वती का दोहन कराना कोई नवीन और विचित्र कल्पना कैसे कही जा सकती है? कविगण चाहे कितना ही दुग्ध निष्पादित करें, किन्तु कामधेनु सरस्वती माँ अदुग्धा सी ही प्रतीत होती है। भला उसका रहस्य कौन जान सकता है? राजशेखर ने छन्दोबद्ध वाणी को कवि-कर्म का प्रमुख तत्व कह कर उशनस् ऋषि का पर्यायवाची शब्द 'कवि' निर्दिष्ट किया है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य-रचना के लिए छन्दोविधान अनिवार्य तत्व है। उनका मत है कि कवि शब्द 'कवृ-वर्णे' धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है कवि-कर्म अर्थात् काव्य-रचना। काव्यमय होने के कारण ही सरस्वती के पुत्र को लाक्षणिक रूप में काव्य-पुरुष कहा गया था।[2]

राजशेखर द्वारा वर्णित आख्यान से ज्ञात होता है कि महर्षि उशनस् को तो काव्य-रचना की दिव्य प्रेरणा स्वतः प्राप्त हुई थी, किन्तु महर्षि वाल्मीकि को वीणापाणि द्वारा छन्दोबद्ध रचना करने का वरदान मिला था क्योंकि उन्हीं महर्षि को सरस्वती ने काव्य-पुरुष का पता बतलाया था। सरस्वती के उस वरदान को क्रियात्मक बनाने में क्रौंचवध की घटना निमित्त बन कर उपस्थित हुई। वस्तुतः आदिकवि का आदि श्लोक[3] अनेक दृष्टियों से रहस्यमय और

---

1. या दुग्धा अपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम् ।
   हृदि न सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनु सरस्वती ॥
2. कविशब्दश्च कवृ-वर्ण इत्यस्य धातो काव्यकर्मणो रूपम् । काव्यैकरूपता-तश्च सारस्वतेय अपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुज्यते ।
   (काव्यमीमांसा, पृष्ठ 15)
3. मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती समाः ।
   यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

महत्त्वपूर्ण है। विद्वानों में उसके विषय में ऐसी आस्था बनी हुई है कि उस श्लोक का प्रयत्नतः आकलन करने से कोई भी व्यक्ति सारस्वत कवि बन सकता है। उसी श्लोक ने महर्षि वाल्मीकि को रामायण की रचना करने की प्रेरणा दी तथा उसी का सर्वप्रथम अध्ययन कर कृष्ण द्वैपायन मुनि वेदव्यास ने शत साहस्री महाभारत-संहिता का निर्माण किया। यदि कोई बुद्धिजीवी उस श्लोक के प्रति धार्मिक आस्था न भी रखें तो भी उसके द्वारा यह तत्व तो उपलब्ध कर ही सकता है कि काव्य-सर्जना के मूल में करुणा, आत्मप्रसार, उदात्त रागवासना और अदम्याभिव्यक्ति आदि विविध तत्व विद्यमान रहते हैं।

काव्य-पुरुष की दिव्यता के लौकिक संकेत

काव्य-पुरुष की उत्पत्ति भले ही दिव्य हो, किन्तु उसका अधिवास भूलोक ही रहा है। अपनी दिव्य गुणसम्पन्नता में भी वह लौकिक रति के माध्यम से ही दिव्यरति का आभास प्राप्त करता है। जब तक काव्य में प्रेमतत्त्व का प्रयोग न हो, तब तक वह सरस और सहृदयजनग्राह्य नहीं बन सकता। जीवन-सहचरी प्रेयसी की रति का सुलाभ जिसे उपलब्ध नहीं हुआ, वह भला प्रेम के रहस्य की अनुभूति कैसे कर सकता है? काव्य-पुरुष के विरक्त और विपन्न मन को अनुरक्त और सम्पन्न बनाने के प्रयोजन से ही पार्वती द्वारा साहित्य-विद्या-वधू की सृष्टि की गई थी। राजशेखर ने काव्य-पुरुष की जीवन-यात्रा में यह आख्यान जोड़कर अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत किए हैं। पार्वती 'शक्ति' की प्रतीक है और 'शक्ति' ही काव्य-निबन्धन का साधन जुटा सकती है। काव्य के आराधक-आत्मसमुद्भूत प्रेम-साधना का आश्रय लेकर ही काव्यपुरुषोत्तम को वशीभूत कर सकते हैं। 'रति' का बन्धन अन्य समस्त बन्धनों से विचित्र और असाधारण है। काव्य-पुरुष और काव्य-विद्या के संगम में ही सरस्वती की अर्चना सफल होती है। काव्य-पुरुष की दिव्य उत्पत्ति में जीवन का श्रेय और मर्त्यलोक के अधिवास में जीवन का प्रेम सन्निहित है। काव्य-प्रसादन में 'आकर्षण' भी एक आवश्यक तत्व है। यद्यपि काव्य का प्रतिपाद्य विषय एक हो सकता है, किन्तु उसकी वर्णन-प्रणाली में अनेक प्रकार की विभिन्नताओं की स्थिति भी सहज संभव है। विभिन्न देशों के काव्यकारों ने अपनी-अपनी शक्ति, अभिरुचि, क्षमता, योग्यता और प्रवृत्ति के अनुरूप ही काव्य-रचनाएँ की हैं, वर्तमान में करते हैं तथा भविष्य में भी करेंगे। इस प्रकार के अनेक तत्व काव्यमीमांसा में वर्णित काव्य-पुरुष की उत्पत्ति शीर्षक अध्याय से निष्पादित किये जा सकते हैं। राजशेखर के इस आख्यान के माध्यम से इस विषय को अत्यंत रोचक और सुग्राह्य बना दिया है। उसमें काव्य-पुरुष की यात्रा और साहित्य-विद्या-वधू के साथ काव्य-विद्या स्नातक मुनिजनों का अनुगमन हमारे देश की विशालता और

व्यापकता का दिग्दर्शन कराने में सहज समर्थ है। उक्त कथांश से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजशेखर के समय पर्यन्त भारत के पूर्वी भाग की काव्य-रचना में मागधी प्रवृत्ति, भारती वृत्ति और गौडीया रीति का प्रयोग होता था, पाँचाल देश में पांचाली मध्यमा प्रवृत्ति, सात्वती या आरभटी वृत्ति तथा पांचाली रीति प्रयुक्त होती थी। उनके मतानुसार अवंती देश में आवन्ती प्रवृत्ति, सात्वती और कैशिकी वृत्ति प्रचलित थी तो दक्षिण देश में दाक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति का प्रचार था। यों तो उस समय और भी ऐसे अनेक प्रदेश थे जिनमें काव्य रचना होती थी, किन्तु राजशेखर ने काव्य-रचना की दृष्टि से उपर्युक्त चार प्रदेशों के आधार पर उसके चार विभागों को ही महत्व प्रदान किया है। काव्य की रीति, प्रवृत्ति और संघटना आदि को लेकर भरतमुनि, भामह, दण्डी और आनन्दवर्द्धन आदि आचार्यों ने भी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में विवेचना की है। राजशेखर ने "पूर्व दिशा में साहित्यवधू काव्यपुरुष को आकर्षित नहीं कर सकी, किन्तु तदनन्तर उसके प्रति काव्य-पुरुष का आकर्षण बढ़ने लगा" लिखते हुए यही आशय व्यक्त किया है कि काव्य की रचना प्रवृत्ति में क्रमश: सुधार होता गया और अंत में वैदर्भी रीति को ही सर्वोत्कृष्टता प्रदान की गई। राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति तथा उसके विकास के कथानक की कल्पना जिस आलंकारिक रूप में की है, उस पर पुराणों की शैली का प्रभाव है। उनके पूर्व भी इस प्रकार की कथा के सूत्र वायु-पुराण, महाभारत और हर्षचरित में विकीर्ण थे जिनका समुचित उपयोग करते हुए उन्होंने अपनी कथा को प्रश्रय प्रदान किया। बाण के 'हर्षचरित' के प्रारम्भ में भी सरस्वती के पुत्र की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है, किन्तु राजशेखर ने उसका उपस्थापन भिन्न दृष्टिकोण से किया है। काव्य पुरुष की यात्रा का विवरण देने में उन्होंने अपनी कल्पना से काम लिया है। वस्तुत: वे भी भरतमुनि तथा भामह आदि आचार्यों की भाँति काव्य की रीतियाँ, वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ वर्णित करना चाहते थे, जिसके लिए उन्होंने काव्य-पुरुष की यात्रा का आह्लादपूर्ण प्रसंग कल्पित किया। उनके वर्णन द्वारा भिन्न भिन्न जनपदों की अभिरुचि, संस्कृति, आचार-व्यवस्था, वेशभूषा और जीवन-दृष्टि का भी सहज ही बोध हो जाता है। राजशेखर ने इस विवरण में दो उल्लेखनीय बातें कही हैं और वे ये हैं कि 'काव्य पुरुष और साहित्य विद्या अपने प्रभावमय शरीर से कवियों के हृदय में निवास करते हैं तथा उन दोनों के लिए कविलोक रूपी नवीन स्वर्ग की सृष्टि की गई है जिसमें कविजन काव्यमय शरीर से मर्त्यलोक में और दिव्य शरीर से स्वर्ग लोक में प्रलय पर्यन्त निवास करते हैं।' राजशेखरकृत यह विवेचन काव्य के स्वरूप-बोध में पूर्वपीठिका का मध्य निदर्शन प्रस्तुत करता है। उनके द्वारा वर्णित काव्य पुरुष और साहित्य विद्या-वधू के परिणय-वर्णन के

निम्नलिखित उद्धरण से इस कथन की पुष्टि की जा सकती है—

"तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयस्तामौमेयीं गान्धर्ववत्परिणिनाय। ततस्तद्वधूवरं विनिवृत्य तेषु प्रदेशेषु विहरमाणं तुषारगिरिमेवाजगाम-यत्र गौरी सरस्वती च मिथः सम्बन्धिन्यौ तस्थतुः। तौ च कृतवन्दनौ दम्पती दत्त्वाऽशिषं प्रभावमयेन वपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतुः। तयोश्च कविलोकस्वर्गं संगतमकल्पता, यत्र काव्यमयेन शरीरेण मर्त्यलोकमधिवसन्तो दिव्येन देहेन कवयः आकल्पं मोदन्ते।[1]

1. काव्यमीमांसा : तृतीय अध्याय, पृ० 22-23

12

नाट्यशास्त्र का काव्याख्यान

'नाट्यशास्त्र' का परिचय

भरतमुनि-विरचित 'नाट्यशास्त्र' भारतीय काव्यशास्त्र का एक अत्यंत प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण आदि ग्रंथ है। यद्यपि उसके रचना-काल के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की विचारधारा में पर्याप्त मतभेद है तथापि इस बात को तो सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि उसकी रचना आज से प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व अवश्य हुई थी जब कि विश्व-सभ्यता और संस्कृति का आदि पुष्प भी आलोक में नहीं आया था। जिस प्रकार उसका रचना काल विवादग्रस्त है, उसी प्रकार उसके निर्माता भी विवादग्रस्तता के विषय हैं। इसका कारण यह है कि भारत में दुष्यन्त पुत्र भरत, रामानुज भरत, आदि भरत, वृद्ध भरत और जड़ भरत आदि एक ही अभिधा वाले अनेक व्यक्ति हुए हैं, जिनके कारण उनका निर्णय करने में समस्या उत्पन्न हो जाती है। भावप्रकाशनकार शारदातनय का मत है कि 'आदि भरत' या 'वृद्धभरत' विरचित नाट्यशास्त्र वर्तमान नाट्यशास्त्र से द्विगुणित सा था, अतः उसे 'द्वादश-साहस्री संहिता' भी कहा जाता है। भरत मुनि ने उसका संक्षिप्तीकरण षट् सहस्र श्लोकों में किया, जिसके कारण वर्तमान समय में उपलब्ध नाट्यशास्त्र का नाम 'षट् साहस्री संहिता' हो गया।[1] नाट्यशास्त्र के अध्ययन से इस बात का भी अनुमान होता है कि उसके श्लोकों में आनुक्रमिकवृद्धि भी होती रही है। सम्भव है जिस प्रकार महाभारतकार 'व्यास देव' शब्द व्यासपीठ का भी बोधक है, उसी प्रकार 'भरत' शब्द भी किसी व्यक्ति विशेष का न होकर नाट्याचार्यों की किसी विशेष परम्परा का निर्देशक हो। कुछ विद्वानों ने भरत मुनि का नाम कल्पित मात्र माना है।

नाट्यशास्त्र के वर्ण्य विषय

'नाट्यशास्त्र' नाम से तो ऐसा आभासित होता है कि इस ग्रन्थ में केवल नाट्य की विधियों और नियमों का ही वर्णन होगा, किन्तु उसके अवलोकन से

---

1 एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः ।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥
(शारदातनय, भाव प्रकाशन, पृ० 28)

इस मान्यता का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार से उस ग्रन्थ को ललित तथा उपयोगी कलाओं का 'विश्वकोष' कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाट्यशास्त्र में विवेचित न हुआ हो।[1] यह ग्रन्थ 36 अध्यायों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः नाट्योत्पत्ति, मण्डप, रंगदैवत-पूजन, ताण्डव-लक्षण, पूर्वरंगविधान, रस, भाव-व्यंजन, अंगाभिनय, उपांगाभिनय, मण्डलविकल्प, गतिप्रचार, कक्ष्याप्रवृत्तिधर्म, वाचकादि अभिनय, छन्दोविधान, भाषा-वर्णन, दशरूपकलक्षण, संधिनिरूपण, वृत्ति-विश्लेषण सामान्याभिनय, पात्र-प्रकृति, चित्राभिनय, विकृति-विकल्प और संगीत-शास्त्र आदि विभिन्न विषयों का सांगोपांग विश्लेषण किया गया है। इस ग्रंथ का सम्पादन और प्रकाशन विविध विद्वानों और संस्थानों द्वारा किया गया है, जिनमें काव्यमाला सीरीज, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज बड़ौदा, काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता आदि के प्रकाशन महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ पर विदेशी विद्वानों ने भी शोध-कार्य किया है, जिसमें सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का विवेचन तो नहीं हुआ है किंतु स्फुट तथा प्रकीर्णक शोध-निबंधों तथा नाट्यशास्त्र के कतिपय अध्यायों के सम्पादन का कार्य उल्लेखनीय है। वस्तुतः सन् 1826 से लेकर अद्यावधि शताधिक वर्षों में इस ग्रन्थ पर भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने जो अनुशीलन, अनुसंधान, पाठ-शोधन और समीक्षा प्रस्तुत की है, उसका पूर्ण सदुपयोग करते हुए यदि समन्वयात्मक दृष्टि से समायोजित कार्य किया जाय तो 'नाट्यशास्त्र' का एक ऐसा विशद् और गम्भीर रूप विद्वानों के समक्ष आ सकता है जो अभूतपूर्व हो। यह कार्य अत्यन्त परिश्रमसाध्य और साधनापूर्ण है जिसका निर्वाह प्रभूत धैर्य और अवकाश द्वारा ही सम्भव है।

नाट्यवेद के पौराणिक आख्यान की काव्य-विवृति

भरतमुनि-विरचित 'नाट्यशास्त्र' में यद्यपि काव्य-चर्चा का विषय उसके परवर्ती ग्रंथों से भिन्न रूप में विवेचित हुआ है, तथापि उसकी वर्णन-प्रणाली के आधार पर काव्य के स्वरूप-विषयक अनेक तथ्यों की तत्त्वसंगत अभिज्ञता की जा सकती है। यों तो काव्यमीमांसा अथवा साहित्यशास्त्र की दृष्टि से नाट्यशास्त्र के 6, 7, 16, 18, 20 तथा 22 संख्यक अध्यायों का विशेष महत्त्व है, तथापि अन्य अध्यायों द्वारा भी काव्य-विमर्श की उपलक्षित सामग्री का बोध किया जाना सहज है। भरतमुनि ने नाट्यवेद की उत्पत्ति के विषय में जो

---

1. न तज्ज्ञानं तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
   न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते॥ (नाट्यशास्त्र 1-116)

पौराणिक आख्यान प्रस्तुत किया है, वह काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भी अत्यन्त उपादेय है। उसके प्रारम्भ में ब्रह्माजी से की गई इन्द्रादि की यह प्रार्थना कि— 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यद् भवेत्' इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि सहृदय काव्य-भावकों की यह उत्कट अभिलाषा होती है कि वे काव्यस्रष्टा (ब्रह्मा) द्वारा श्रवण के लिए मधुर एवम् दर्शन के लिए सुन्दर क्रीडास्वरूप काव्य की उपलब्धि करें। इस उक्ति में काव्य के दोनों रूपों (श्रव्य और दृश्य) की ओर संकेत है और दोनों के लिए 'क्रीडनीयक' पद का प्रयोग करते हुए भरतमुनि ने उनकी मूलभूत विशेषता निर्दिष्ट कर दी है। इस विषय में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि 'क्रीडा' शब्द अपनी अर्थ प्रक्रिया में अत्यन्त व्यापक है और इस के अन्तर्गत जितने भी गुण अथवा व्यावहारिक धर्म समाविष्ट होने वाञ्छनीय हैं, वे सब श्रव्य तथा दृश्य काव्य के अंग बन कर उपस्थित हो सकते हैं।

नाट्याख्यान का रहस्योद्घाटन

भरतमुनि द्वारा वर्णित उपर्युक्त आख्यान में ब्रह्मा द्वारा चारों वेद से यथोचित सामग्री ग्रहण करते हुए नाट्यवेद की रचना विषयक जो बात कही गई है उससे स्पष्ट है कि वस्तुतः वेद ही अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तथा ज्ञान-सामग्री के कारण समस्त विद्याओं और उपविद्याओं के स्रोत हैं और यदि उन्हीं के निष्यन्द द्वारा नाट्यवेद की उत्पत्ति मानी जाय तो सर्वथा समीचीन ही है। कहने के लिए तो वेदों से नाट्यवेद की उत्पत्ति वर्णित की गई है, किन्तु उसके द्वारा काव्य मात्र के सृजन अथवा निर्माण का तत्त्व भी ध्वनित हुआ है। नाट्यवेद की रचना के लिए ऋग्वेद से 'पाठ्य', यजुर्वेद से 'अभिनय', सामवेद से 'गीति' और अथर्ववेद से 'रस' लेने का जो आख्यान प्रस्तुत किया गया है, वह नाट्यवेद अथवा नाट्य-काव्य की चार मौलिक विशेषताओं का निर्देशक होने के साथ-साथ काव्य-सर्जना के लिए अभीष्ट उपकरणों और उनकी संयोजन विधि का भी सामान्य संकेत करती है। वस्तुतः उसमें काव्य-साहित्य का अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष व्यंजित है। यह तो हुई पाठ्य और अभिनय के काव्यगत अर्थ-ध्वनन की बात। गीति और रस-तत्त्व की काव्यगत महत्ता के निरूपण की विशेष आवश्यकता नहीं है, क्योंकि काव्य और संगीत का मधुर सम्बन्ध तो अनादि काल से ही चला आ रहा है, जिनके संवेदनापूर्ण समन्वय से स्वत ही प्रवहित होने वाली रस-मयी धारा ही काव्य का चरम सत्य अथवा परम ध्येय है जिसमें आनन्दप्रवाह में ही काव्य-सृजन और काव्यास्वाद का प्रयोजन फलीभूत होता है। अभिप्राय यह है कि किसी भी श्रेष्ठ काव्य की संघटना के लिए उसका वस्तु-विन्यास, रचना-कौशल, गीति संयोजन और रसास्वाद आदि ऐसे महत्वपूर्ण तत्व हैं जिनकी

इसकी समन्विति में ही काव्य-सर्जना अथवा काव्य-स्वरूप की सार्थकता अंतर्निहित है।

भरतमुनि ने नाट्यवेद को जिस अर्थ में 'सर्वजनग्राह्य' कहा है वह अत्यन्त सारगर्भित और ध्वनित है। उन्होंने इन्द्र को ब्रह्मा जी द्वारा दिये गए इस आदेश का कि 'तुम लोगों में जो कुशल, विदग्ध, प्रगल्भ और जितश्रम हों, उन्हें यह नाट्यवेद दे दो'—यह अर्थ निकाला जा सकता है कि काव्यानुशीलन एवं काव्य-प्रयोग के सुयोग्य अधिकारी वे ही व्यक्ति हो सकते हैं, जिनमें कार्योचित कुशलता विदग्धता, प्रगल्भता और जितश्रमता के गुण विद्यमान हों। देवताओं में इन गुणों का आविर्भाव बतला कर भरतमुनि तथा उनके पुत्रों में नाट्यवेद के प्रयोग की जो क्षमता निर्दिष्ट की गई है, वह काव्यमात्र के उद्भावक व्यक्तियों की ऐसी प्राथमिक विशेषता है जिससे वे काव्यास्वाद अथवा रस-ग्रहण के मधुरतम् कार्य में सफल होते हैं। भारती, आरभटी और सात्वती वृत्तियों से युक्त नाट्य-प्रयोग की विशेष सफलता के लिए जिस कैशिकी वृत्ति के उपयोग की बात कही गई है, उससे प्रकट है कि जब तक काव्य अथवा नाटक में कैशिकी अर्थात् ललित वृत्ति का प्रयोग नहीं किया जाता, तब तक रचना-क्रिया में लालित्य अथवा सौन्दर्य का संचार हो ही नहीं सकता। वस्तुतः कैशिकी वृत्ति 'सौन्दर्यानियोगी व्यापार' की द्योतक है, क्योंकि उसी के द्वारा समस्त रसों की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य अथवा वैचित्र्य का संचार होता है।

भरतमुनि ने 'इन्द्रध्वज' नामक उत्सव पर किये गये नाट्य प्रयोग में दानवों पर देवताओं की विजय निर्दिष्ट कर एक प्रकार से सत्यमेव जयते की ही संसिद्धि की है। असुरों द्वारा पहुँचाई हुई बाधा को सत्कार्य में उपस्थित होने वाली विघ्न-बाधाओं से उपमित किया जा सकता है। उन्होंने विरूपाक्ष नामक दैत्य द्वारा ब्रह्मा जी पर लगाये गये पक्षपात पूर्ण लांछन का उल्लेख कर यह तथ्य ध्वनित किया है कि यद्यपि काव्य-रचना में किसी के शुभाशुभ की ऐकान्तिक प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु संकुचित और आसुरी वृत्तियों वाले व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल उसमें छिद्रान्वेषण करने का आधार अनुसंधित कर ही लेते हैं। दैत्यों की कालुष्यपूर्ण आशंका के निवारण-हेतु ब्रह्मा जी ने नाट्यवेद की जो विशेषताएँ उद्घाटित की हैं, वे एक प्रकार से काव्य-निर्माता द्वारा अपनी सत्त्वोद्रेकपूर्ण अभिव्यक्ति के समर्थन की ही परिचायक हैं। उसमें यह तथ्य निरूपित किया गया है कि काव्य-सर्जना एक अत्यन्त पुनीत और श्रेयस्कर सृष्टि है जिसके द्वारा चतुर्वर्ग की फल-प्राप्ति श्रेयस्करी विधि से की जा सकती है। नाट्य अथवा काव्य में त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन होने के साथ-साथ धर्म, क्रीडा, अर्थ, शम, हास्य, युद्ध, काम और वध आदि विविध भावनाओं का जो अभिव्यंजन रहता है, वह किसी वर्ग-विशेष के लिए ही न होकर सर्वसाधारण जनों के लिए भी

अभीष्ट है। उसमें संसार के सुख-दुख-समन्वित स्वभाव का चित्रण ऐसी रमणीयता से किया जाता है जिसे किसी भी रूप में साम्प्रदायिक और वर्गगत भावनाओं का प्रतीक नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि नाट्यशास्त्र में उल्लिखित उपर्युक्त आख्यान अपना तात्त्विक महत्व रखता है और उसके द्वारा न केवल नाट्यवेद का अपितु काव्य मात्र का मूल प्रतिपाद्य विवेचित किया जा सकता है। उस आख्यान से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

1 नाट्यवेद की भाँति काव्यसर्जना भी एक अत्यन्त पुनीत एवं प्रेमसमन्वित रचना प्रक्रिया है जिसका स्रष्टा कवि चतुर्मुख ब्रह्मा की भाँति महान् और अद्भुत चमत्कारविधायी कलाकार होता है।

2 काव्य-सर्जना के मूल में न केवल 'स्वान्तः सुखाय' भाव का ही अभिव्यंजन है, अपितु उसमें सर्वजनहिताय की भावना भी निहित है।

3 काव्य का आस्वादन वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जिनमें काव्य-ग्रहण करने का नैपुण्य, वैदग्ध्य, प्रागल्भ्य और सौहार्द हो।

4 काव्य मुख्यतः मानव सुलभ मनोवृत्तियों का निदर्शक होने के कारण सहृदयजनों के लिए ही प्रीतिकारक और कीर्तिप्रद होता है।

5. यद्यपि काव्य रचना में भारती, आरभटी और सात्वती वृत्तियों का प्रयोग होता है, किन्तु कैशिकी वृत्ति के संयोजन द्वारा ही उसे सौंदर्यमयी चेतना प्रदान की जा सकती है।

6 पढ़ने के लिए काव्य-सृष्टि भले ही शृंगार प्रधान हो, किन्तु उसकी शृंगारिकता केवल मधुरभावमूलक रति का ही प्रतिबिम्ब नहीं, अपितु उसमें अन्य वृत्तियों का भी शृंगारमय विलास निहित रहता है। यदि ऐसा न होता तो सहृदयजन भगवान् के सर्वशक्तिमान और दुष्टविध्वंसकारी रूप में शील और सौंदर्य के दर्शन कैसे करते?

7 काव्य का प्रयोजन किसी वर्ग विशेष की ही चित्तविश्रांति नहीं, अपितु यह प्राणिमात्र के प्रसादन अथवा चित्ताह्लादन का साधन है। उसे सर्वजनग्राह्य योगक्षेम का अभिव्यंजक कहा जा सकता है।

8 जो व्यक्ति काव्य सर्जना के प्रति विद्वेष भावना रखते हैं, वे वस्तुतः अपनी ही संकीर्ण मनोवृत्तियों का प्रकाशन करते हैं। उन्हें अपनी भ्रांतधारणाओं के कारण काव्य की मनोरम व्याप्त सत्ता में दूषणमात्र ही प्रदर्शित होते हैं।

9. काव्य किसी व्यक्ति की निजी भावनाओं का स्वार्थमय प्रदर्शन नहीं, अपितु लोकजीवन की भाव संस्थितियों का अभिव्यंजन है। वह अपनी व्यक्तिपरकता में भी समग्र की विराट् शक्ति के तत्त्व संजोये रखता है।

10 काव्यास्वाद की प्रक्रिया में व्यक्ति निरपेक्षता का भाव प्रधान है और 'स्वपरगत देशकालविस्थावेश' उसके मार्ग का सबसे बड़ा व्यवधान है।

11. काव्य में यदि विशिष्ट व्यक्तियों का परिचालन भी किया जाए तो भी उन्हें व्यक्ति-निरपेक्ष भावनाओं में ही निरूपित किया जाना चाहिए ताकि सहृदय प्रमाता अपनी भावनाओं का साधारणीकरण करते हुए उनकी वृत्तियों में तन्मयता की अनुभूति कर सके।

12. जो काव्यकार विद्वेषपूर्ण भावनाओं से काव्य-सृष्टि करता है, वह भारतीमाता का सच्चा साधक नहीं है और 'पुनीभाव' का अधिकारी होता है।

13. कहने के लिए काव्य-स्रष्टा और काव्यास्वादयिता दो पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं, किन्तु तत्वतः काव्यस्रष्टा ही काव्य का आदि आस्वादयिता होता है। यद्यपि काव्यकार की सर्जना और आस्वादन की मनोवृत्तियों में अंतर रहता है, किन्तु जीवन में दोनों वृत्तियों के सम्मिलन का एक ऐसा संधिस्थल भी है जहाँ इस प्रकार की दुविधाएँ स्थिर नहीं रहतीं।

14. जिस प्रकार लोकस्वभाव का अभिनय नाट्य है, उसी प्रकार लोकसंवेद्य की कुशल अभिव्यक्ति काव्य। नाट्य-रचना में जैसे लोकधर्मी और नाट्यधर्मी व्यापार उसके भावतत्व और सौन्दर्य-विधान को पूर्णता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार काव्य-रचना में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का समुचित सामंजस्य उसे रस-निष्पत्ति की योग्यता से सम्पन्न बनाता है।

15. प्रयोग और प्रविधि में भिन्नता होते हुए भी अन्ततोगत्वा नाट्य और काव्य का हेतु, प्रयोजन और चरम लक्ष्य एक ही है। दोनों की सफलता इसी बात में है कि वे सर्वार्थसिद्धि करते हुए चलें।

नाट्यशास्त्र की उपलब्धि

हमने भरतमुनि-प्रतिपादित विचारधारा को जिस दृष्टि से काव्यगत प्रकार अभिव्यक्त किया है, उसे किसी भी रूप में अन्यथा नहीं समझना चाहिए। यद्यपि नाट्यशास्त्र में काव्य की स्वरूप-चर्चा का प्रत्यक्ष निरूपण नहीं हुआ है, किन्तु उसकी परोक्ष उपलब्धि भी कम महिमामयी नहीं है। नाट्यशास्त्र-वर्णित लोकधर्मिता और नाट्यधर्मिता के माध्यम से काव्य की यथार्थता और सौंदर्यमयता को स्पष्ट सुचारुरूपेण विवेचित किया जा सकता है। वस्तुतः काव्य-सर्जना में दोनों की उपयोगिता है और वे दोनों आधाराधेय-सम्बन्ध के साथ-साथ 'वागर्थाविव सम्पृक्त' रहते हैं। लोकधर्म की वास्तविकता यदि काव्य को ठोस भूमिका प्रदान करती है तो नाट्य-धर्म की चारुता उसमें चित्त-चमत्कृति के उपकरण जुटा देती है। कवि अथवा नाट्य प्रयोक्ता को इस बात का अधिकार होता है कि वह अपनी कृति को सशक्त और सजीव बनाने के लिए उसमें यथोचित परिवर्तन भी कर सके। आचार्य अभिनवगुप्त ने दोनों की सापेक्षिक महत्ता का निरूपण करते हुए उचित ही कहा है कि कविगत अथवा नटगत नानाविधकार-

रूप नाट्यधर्मिता किसी भी कलाकृति की प्राण चेतना कही जा सकती है। उनका कथन है—

"यस्मात् कविगता नटगता वागङ्गालङ्कारनिष्ठा नाट्यधर्मीरूपा सर्वप्राणवती अर्थात् इति अर्थमपरस्य प्रवर्तते, तस्मात् सर्वेऽप्यसम्बद्धो सहजोऽभावो लोकधर्मलक्षण उक्तो भित्तिस्थानीयत्वेन नाट्यधर्म्या सहज सवादिकर्मण। अप्रवर्तनात्तु गुणलक्षणानि च, अलङ्कारचेष्टा अलंकारा उपमादयश्च।"

नाट्यशास्त्र-वर्णित काव्यलक्षण काव्यालंकारों के आदि-रूप हैं

भारतीय काव्यशास्त्र के अद्यावधि उपलब्ध ग्रंथों में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही प्राचीनतम ग्रंथ है। उस ग्रंथ में जो कुछ भी काव्य-चर्चा की गई है, वह नाट्य की आनुषंगिक मात्र है। भरतमुनि के पश्चात् आचार्य भामह ने सर्वप्रथम काव्यचर्चा को स्वतंत्र विवेचना का विषय बनाया जो अनेक प्रकार के विकास-मार्गों को पार कर पंडितराज जगन्नाथ पर्यन्त अजस्र रूप से प्रौढ़ता को प्राप्त होता गया। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में जिन लक्षणों का निरूपण किया था, वे ही कालांतर में अलंकारों में परिवर्तित होते गये। यद्यपि इस परिवर्तन का एक क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है तथापि उन लक्षणों तथा अलंकारों के तुलनात्मक अध्ययन से उनके साम्य का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। लक्षणों और अलंकारों के साम्य तथा वैषम्य का विशद विवेचन करना हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है। हम तो यहाँ पर केवल एक सामान्य संकेत करना चाहते हैं कि भरतमुनि-विवेचित लक्षणों में अलंकारों के भावी विकास का अंतर्बीज किस प्रकार अनुस्यूत है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि 'शोभा' लक्षण का स्वरूप 'तुल्ययोगिता' अलंकार में मिलता-जुलता है तो 'निरुक्त' लक्षण में 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार का बीज अन्तर्निहित है। इसी प्रकार संशय लक्षण से 'संदेह' अलंकार तथा 'दृष्ट' से 'स्वभावोक्ति' अलंकार की व्युत्पत्ति समझी जा सकती है। 'गुणातिपात' तथा 'गर्हणा' लक्षण का सम्मिलन यदि 'व्याजस्तुति' अलंकार में विद्यमान है तो मनोरथ लक्षण में 'अप्रस्तुत प्रशंसा' तथा 'सूक्ष्म' अलंकार के तत्व-कण सन्निहित हैं। इसी प्रकार 'प्राप्ति' से 'काव्यलिंग' निदर्शन से 'निदर्शना' मिथ्याध्यवसाय से 'अपह्नुति' प्रसिद्ध से 'उदात्त,' प्रतिषेध से 'आक्षेप' अतिशय से 'अतिशयोक्ति' तथा प्रियवचन से 'प्रेयस्' अलंकार का साम्य स्पष्ट किया जा सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र में वर्णित लक्षणों के संग्रह की दो तालिकाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें पृथक् पृथक् प्रणाली से प्रतितालिका में 36 लक्षणों का निरूपण हुआ है जिन्हें द्विगुणित करने से इन काव्यलक्षणों की संख्या 72 हो जाती है। इनमें 17 लक्षण दोनों तालिकाओं में समविष्ट हैं जिन्हें कम करने से दोनों तालिकाओं में प्रति-

परिगणित लक्षणों की संख्या 55 रह जाती । अभिनवगुप्त ने गुरुपरम्परा से प्राप्त तथा उपजाति वृत्त में ग्रथित लक्षणों को मूल माना है तथा उन पर लिखी हुई टीका में अनुष्टुप् छन्द की कारिका का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है। उन्होंने लक्षणों और अलंकारों की सम्बन्धसूचक सूची भी प्रस्तुत की है जिससे इस विषय का सहज ही परिज्ञान हो जाता है कि भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में भरतमुनि द्वारा काव्यलक्षणों का भावी विकास किस प्रकार अलंकारशास्त्र के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। आचार्य भट्टतौत ने इस विषय में उचित ही कहा है कि 'लक्षणों से अलंकारों में वैचित्र्य सिद्ध होता है।' अभिनवगुप्त के मतानुसार औपम्य का भिन्न-भिन्न लक्षणों में संयोग होने पर उनसे भिन्न-भिन्न सौन्दर्य-सुषमाएँ ही विविध अलंकारों के उद्भव का कारण बनती है।[1] लक्षणों का अलंकारों की ओर इस प्रकार का प्रयाण भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य-चर्चा का एक प्रमुख सोपान समझा जाना चाहिए।

काव्यलक्षणों और काव्यालंकारों में सहज सम्बन्ध है

नाट्यशास्त्र-वर्णित काव्यलक्षण एक प्रकार से 'काव्यविभूषण' अथवा 'भूषणसमित' हैं। अलंकार के स्वरूप-विश्लेषण के साथ उनका सहज सम्बन्ध अन्वेषित किया जा सकता है। भरतमुनि ने निन्दोपमा तथा प्रशंसोपमा आदि उपमा-भेदों को लक्षणगत माना है और अन्य अलंकारों को भी लक्षणानुक्रम से समझने का निर्देश किया है। आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि ऐसे उपमा-भेदों का मूलकारण 'तद्गत शरीरभेद' है जो एक प्रकार से शरीरलक्षण ही है। यदि लक्षणमुख से अलंकार-भेद करने का सूत्र गुणानुरूपेण समझ लिया जाए तो अलंकार प्रपंच का विस्तार करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हो सकती। भरतमुनि के औपम्यमूलक तीन अर्थालंकारों (उपमा, रूपक तथा दीपक) में छत्तीस लक्षणों का संयोग-वैचित्र्य निरूपित कर तज्जन्य शतसहस्र अलंकारों की परिकल्पना की है। उनके मतानुसार 'भूषण' नामक लक्षण का स्वरूप ही मूलतः गुणालंकारों के उचित सन्निवेश का रूप है तो 'गुणानुवाद' नामक लक्षण को एक प्रकार की उपमा ही कहा जा सकता है। दण्डी आदि आचार्यों ने उपमा का जो भेद-विस्तार किया है, उसका भेदक अंश 'लक्षण' ही है। निश्चय ही प्रारम्भिक काव्यचर्चा 'लक्षणमुख' होती थी जिसके कारण काव्यालोचन को 'काव्यालंकार' के पूर्व 'काव्यलक्षण' तथा उसके विवेचकों को 'काव्यलक्षणकारी' तथा काव्यलक्षणविधायी कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि भरतमुनि द्वारा जिस लक्षणसम्मत अलंकार-चक्र का प्रवर्तन किया गया था, वह क्रमशः विकसित होता हुआ कालान्तर में ऐसी स्थिति प्राप्त कर सका जिससे अनेक

---

1. अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, 2/329

प्रकार के स्वतंत्र अलंकारों का समुद्भव संभव हुआ। उन अलंकार-चर्चों में अनेक अलंकार-लक्षण समाविष्ट थे जिनके वैचित्र्य पर उनका विकल्पन हुआ था। अलंकारों का यह आख्यान प्रारम्भ में न तो अधिक जटिल था और न विवादास्पद ही, किन्तु शनैः शनैः शास्त्रचर्चा के विकास ने उसमें भी मत-वैभिन्न्य उत्पन्न कर दिया। उदाहरणार्थ भामह और दण्डी के पूर्व हेतु, मनोरथ, और आशी लक्षणों से उन्हीं की अभिधा वाले जो अलंकार प्रवर्तित हुए, वे परवर्ती काल में मान्य नहीं समझे गये और आचार्यों ने भिन्न भिन्न दृष्टियों से अलंकारों का वर्ग विभाजन कर उनके लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये। अलंकारों का यह प्रसार नाट्य के माध्यम तथा काव्य पर भी आधारित था जिसका परिज्ञान आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' से किया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार युगपरिस्थिति ने लक्षणों से अलंकारों के विकास का क्रम उपस्थित किया था, उसी प्रकार लक्ष्य ग्रंथों ने शास्त्र-ग्रंथों की विवेच्य-सामग्री को भी नवीन दिशा प्रदान की थी। काव्य-साहित्य की परिवर्तित विधाओं में सर्गबद्ध महाकाव्य सर्वसंग्राहक बना जिसकी महत्ता के सम्मुख नाटक आदि का महत्त्व गौण होने लगा। परिणाम यह हुआ कि भरतमुनि ने जिस काव्यचर्चा को नाट्य की आनुषंगिक माना था, वह स्वतंत्र और प्रमुख बन कर उपस्थित हुई और आचार्य भामह तथा दण्डी आदि विद्वान स्पष्ट शब्दों में कहने लगे कि काव्य का ही एक भेद नाट्य है जिस पर अन्य विद्वानों ने यथेष्ट विमर्श कर दिया है, अतः वे मूलतः काव्य का ही विचार करते हैं। वस्तुतः संस्कृत और प्राकृत में लिखे गये महाकाव्यों, मुक्तकों और गद्य-प्रबंधों की विशाल सामग्री ने काव्यचर्चा को स्वतंत्र विवेचना का विषय बनाया और नाट्यशास्त्र-वर्णित वाचिक अभिनय की अंगभूत काव्य-चर्चा ने काव्यशास्त्र की स्वतंत्र अभिधा धारण की। भामह और दण्डी के कार्य-काल से लेकर पंडितराज जगन्नाथ पर्यन्त विवेचित काव्य के विविध भेदोपभेदों में उस चर्चा का प्रसार है जिसका विश्लेषण यदि ऐतिहासिक अनुसंधान के विकासक्रम से किया जाय तो अनेक प्रकार के नवीन तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं।

'काव्यलक्षण' और 'काव्यालंकार' में अवांतर अर्थ भेद

प्रश्न होता है कि क्या लक्षणों के नामान्तर ही अलंकार हैं अथवा उनमें अवान्तर अर्थ भेद भी है? इसका व्यावहारिक उत्तर तो यही है कि जब एक ही अर्थ के वाचक दो पर्यायवाची शब्दों में भी किसी न किसी प्रकार का सूक्ष्म अन्तर अन्वेषित किया जा सकता है तो लक्षणों और अलंकारों की एकरूपता कैसे स्वीकार्य समझी जा सकती है? काव्य-लक्षणों के सर्वप्रथम निरूपक आचार्य भरत मुनि ने भी अलंकारों के साथ उनका विभेद स्वीकार किया है। यह एक ऐसा मौलिक प्रश्न है जिसे साधारण समझ कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इस

में आचार्य अभिनवगुप्त का मत उल्लेखनीय है। उन्होंने गुण तथा अलंकारों को काव्यार्थ से सम्बन्ध सिद्ध करते हुए लक्षण का सम्बन्ध पूर्णरूपेण कविव्यापार से जोड़ा है। उनका कथन है कि कवि के प्रयत्न से काव्य में शब्दार्थों द्वारा वैचित्र्य आता है, किन्तु जिस प्रयत्न से उस वैचित्र्य की संसिद्धि होती है, उसी का नाम 'लक्षण' है।[1] वस्तुतः कवि-कर्म का ही नाम काव्य है, अतः उस कर्म की सफलता का श्रेय केवल कविकृत प्रयत्नव्यापार को ही प्रदान किया जाना चाहिए। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य-गुण, काव्य-लक्षण तथा काव्यालंकार का अन्तर एक अत्यन्त व्यावहारिक उदाहरण से स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि 'सामान्यतया पुष्टता अथवा पीवरत्व एक गुण है, किन्तु वह गुण यदि स्तनों में हो तो वह स्तनों का लक्षण है, किन्तु कटिप्रदेश में हो तो वह कुलक्षण हो जाता है। इसी प्रकार किसी एक प्रकार से कही जाने वाली वस्तु यदि उसी पदार्थक्रम से रसोचित विभाव के रूप में प्रकट हो तो वह 'लक्षण' होता है अन्यथा वह 'कुलक्षण' पद का अधिकारी तो है ही। यही कारण है कि गुण और अलंकार लक्षणसमुदाय से भिन्न है क्योंकि लक्षण का सम्बन्ध जितना अधिक औचित्य के साथ प्रतीत होता है उतना गुण और अलंकार के साथ नहीं।[2] सच तो यह है कि किसी काव्यकृति में शब्द, अर्थ, गुण तथा अलंकार की जो संघटना होती है, उसी से काव्य-लक्षण का निर्धारण किया जाता है। अभिनवगुप्त ने लक्षण का विवेचन करते हुए "परमौचित्यख्यापने प्रयोजनं" द्वारा यह तथ्य उद्घाटित किया है कि काव्य में औचित्य का स्थापन ही लक्षण का प्रयोजन है।[3] यह काव्य-लक्षण का ही प्रभाव है कि, कवि-व्यापार के वश से लौकिक वस्तु भी अलौकिक स्वभाव से काव्य-रूप में प्रकट होती है। लक्षण ही पदार्थरूप काव्य-शरीर है और उसे अलंकारों का अनुग्राहक भी कहा जा सकता है।

"काव्य-लक्षण" का पुनराख्यान

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के 'काव्य-लक्षण' को ध्यान में रखकर

---

1. इदं अनेन शब्देन, अनया इतिकर्तव्यतया, अमुना आशयेन, इत्थं बुद्धिकलनाय युंजे, इति कवि. प्रयत्नः। स तथाभूतं रसवत् काव्यं विधत्ते। तत्र चित्रवृत्त्या हृदयं रस लक्ष्यते तदनौचित्यविभावात् वैचित्र्यसम्पादकः निविधोऽभिधाव्यापारः लक्षण शब्देन उच्यते।
2. यथा पीवरत्वं स्तनयोर्लक्षणं मध्यस्य च कुलक्षणं एव किञ्चिदभिधीयमान केनचिद्रूपेण रसोचितविभावादिरूपेण तेनैव पदार्थक्रम लक्ष्यते लक्षणं अन्यथा कुलक्षण तेन सर्वे अलंकारा गुणाः च तत्समुदायात् विलक्षणा भवति।
3. एवं कविव्यापारवशात् पदार्थजातं लौकिकात् स्वभावात् विलक्षणं तदेव लक्षणमित्युक्तम्… काव्ये तावल्लक्षण शरीरम्।

उसका पुनराख्यान सा किया है। उन्होंने लक्षण को ही शब्दार्थमय काव्यशरीर पर्यन्त अलंकार को उसकी सौन्दर्य-वृद्धि का साधन माना है। उनका मत है कि जिस प्रकार पृथक्भूत हार से रमणी विभूषित होती है, उसी प्रकार चन्द्र आदि पृथक्सिद्ध उपमानों से रमणी के मुख आदि का सौंदर्यातिशय प्रतीत होता है। यों तो रमणी का मुख और उसका उपमान चन्द्र दोनों पृथक्-सिद्ध और लौकिक वस्तुएं हैं, किन्तु उसकी लौकिक सृष्टि में भी कवि की प्रतिभा एक ऐसा सादृश्य देखती है जिसके द्वारा ये दोनों वस्तुएं परिचालित सी होकर उपमेयोपमान भाव के विचित्र सम्बन्ध में अभिव्यक्त हो जाती हैं जिसमें उनके सौन्दर्य की संवृद्धि होती है। वस्तुतः काव्य में वर्णनीय वनितावदन आदि की सौन्दर्याभिवृद्धि का एकमात्र कारण कवि की प्रतिभा ही है जिसके द्वारा वह लोकोत्तर सृष्टि करने में समर्थ होता है। अभिनवगुप्त ने 'कवि व्यापार' को ही 'लक्षण' कह कर उसे एक प्रकार से 'कवि-प्रतिभा के शब्दार्थमय आविर्भाव के रूप में विवेचित किया है जिससे स्पष्ट होता है कि 'लक्षण' द्वारा ही काव्य-सृष्टि में सौन्दर्य-वृद्धि होती है और उसी के द्वारा काव्य के अलंकार भी सार्थक बनते हैं। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त ने उचित ही कहा है कि यों तो पार्थिव व्यवहार में सादृश्य, अभेद, अध्यवसाय और विरोध आदि अनेक प्रकार के लौकिक सम्बन्ध प्रदर्शित होते हैं, किन्तु अपनी बाह्यरूपता से उन्हें काव्यालंकारों का प्रशस्त गौरव प्रदान नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा होता तो 'गौरिव गवय' में उपमा तथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा' में संदेह अलंकार हो जाते। वस्तुतः इस प्रकार के कथन तो लौकिक सम्बन्ध मात्र हैं, किन्तु जब इन लौकिक सम्बन्धों के रूप में अधिष्ठानभूत कवि-व्यापार या 'लक्षण' प्रतीत होता है तो उसे काव्यालंकारत्व की गरिमा प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने 'काव्यबन्धेषु काव्यलक्षणेषु सत्सु' द्वारा उस हेतु का निरूपण किया है जो प्रत्येक अलंकार के मूल में अनुस्यूत है। उनके इसी विचार की प्रतिध्वनि हमें परवर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित 'वैचित्र्ये सति' पद में मिलती है जिसके अभाव में काव्यालंकारों का प्रयोजन सिद्ध हो ही नहीं सकता।

नाट्यशास्त्र के पौराणिक आख्यान की शब्द-विवृति तथा उसमें वर्णित काव्यलक्षणों का जो विवेचन किया गया, उससे अनेक प्रकार के तथ्य उपलब्ध होते हैं। भरत के लिए तो नाट्यवेद का विमर्श मुख्यतः भारतीय वाङ्मय की मूल प्रकृति का द्योतक है, किन्तु उसमें काव्य के औदात्य और आभिजात्य के ऐसे अनेक असामान्य गुण अन्तर्निहित हैं जिन्हें उपलक्षित कर विश्व-साहित्य का आदर्श निर्धारित किया जा सकता है। नाट्यवेद की विशेषताएं काव्य के चिरंतन गुणों की विशेषताएं हैं जिन्हें आधुनिक युग-जीवन के परिवेश में पुनराख्यात

करने पर काव्य-निकष के बहुविध नवीन पक्ष अन्वेषित किये जा सकते हैं। नाट्यवेद की पौराणिक उत्पत्ति से जिन पन्द्रह निष्कर्षों का उल्लेख किया गया है, यह उसी दिशा में निरूपित एक लघु प्रयास है। इसी प्रकार काव्य-लक्षणों की काव्यालंकारगत परिणति भी अपने आप में एक अत्यन्त रुचिकर और शोधनीय विषय है। काव्य-शास्त्र के अध्येताओं को अब जीवन के नवीन आलोक की अभिनव रश्मियों से काव्य-सिन्धु का मन्थन करते हुए ऐसा विवेका-मृत उपलब्ध करना है जो पूर्वोपदर्शित विरोधियों के विषवमन का उपशमन कर सके। ऐसा करने पर ही भारतीय काव्य-शास्त्र का वह पक्ष उद्घाटित हो सकेगा, जिसमें वाग्देवता का संस्तव करते हुए उसे नियतिकृतनियमरहिता, ह्लादैकमयी, अनन्यपरतन्त्रा और नवरसरुचिरा कहा गया है। वस्तुतः नाट्यवेद का तत्त्व-विमर्श और पुनराख्यान पूर्व-संकेतित मन्तव्य के धीमंश का उपक्रम हो सकता है, यही मेरे कथन का मूल मन्तव्य है और उसी दिशा की ओर अंगुल्यादेश करने की प्रेरणा से ही इस निबन्ध की रचना की गई है।

13

कवि-समय अथवा काव्य-रूढ़ियाँ

कवि-समय का अर्थ और उपयोगिता

काव्य विवेचना के प्रसंग में कवि-समय का निरूपण भी एक आवश्यक विषय है। कवि-समय का सामान्य अर्थ है कवियों का आचार या सिद्धान्त। काव्यशास्त्र में इसका एक विशेष अर्थ है जिसका तात्पर्य-बोध कवियों की प्रचलित परम्परा के रूप में किया जा सकता है। कवि-समय की परम्परा अत्यंत प्राचीन है जिसका प्रयोग विविध प्रकार की काव्य-कृतियों में किया गया है। राजशेखर ने 'कवि-समय' का स्वरूप-निर्धारण करते हुए लिखा है "अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः" अर्थात् अशास्त्रीय और अलौकिक तथा केवल परम्परा-प्रचलित, जिस अर्थ का कविजन उल्लेख करते हैं, वह कवि समय है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि लोक और शास्त्र में ऐसी अनेक बातें हैं जो साधारणतया सत्य और वास्तविक नहीं प्रतीत होतीं, किन्तु काव्यकारों ने उनका परम्परागत प्रयोग किया है जिसके कारण वे काव्यगत रूढ़ियाँ या कवि-प्रौढ़ोक्तियाँ बन गई हैं और उन्हें सत्यवत् स्वीकार कर लिया जाता है। उन परम्पराओं के मूल में सम्भवतः सत्य का भी अंश हो, किन्तु समस्त कवि-प्रौढ़ोक्तियों को यथार्थ नहीं माना जा सकता। सभी देशों के काव्यकारों ने अपनी-अपनी संस्कृति के अनुकूल उन परम्पराओं का पालन किया है और वे सत्य न होते हुए भी सत्य से भी अधिक प्रभावशाली हैं क्योंकि उनका बहुत कुछ सम्बन्ध हमारे परम्परागत संस्कारों से है। यों तो साधारणतया लोक और शास्त्र विरुद्ध विषयों के वर्णन को एक प्रकार का काव्य-दोष माना जाता है, किन्तु 'कवि-समय' उसका अपवाद है क्योंकि ऐसे वर्णनों से अनेक बार कवियों का उपकार ही होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि 'कवि-समय' के नाम पर स्वेच्छाचारी उच्छृंखलता का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर काव्य-रस का अपकर्ष भी हो सकता है।

आचार्य राजशेखर ने कवि-समय को कवियों का केवल उपस्कारक ही नहीं, अपितु काव्य-मार्ग का प्रदर्शक भी माना है। वे उसे किसी भी स्थिति में काव्य-

1. काव्यमीमांसा, (कविरहस्य) चतुर्दश अध्याय, पृष्ठ 190

दोष के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। उनका मत है कि 'प्राचीन विद्वानों ने सहस्रों शाखा वाले वेदों का सांगोपांग अवगाहन, शास्त्रों का अवबोधन तथा देशान्तरों और द्वीपान्तरों का परिभ्रमण कर जिन वस्तुओं को देख-सुन और समझ कर उल्लिखित किया है, उन वस्तुओं और पदार्थों का देश, काल और कारण-भेद होने पर अथवा विपरीत हो जाने पर भी उसी प्राक्तन और अविकृत रूप में वर्णन करना कविसम्मत है।'[1] राजशेखर के मतानुसार 'कवि-समय का मूल तत्त्व न जानने वाले कुछ लोगों ने इस शब्द का प्रयोग केवल प्रयोग को देख कर ही प्रचलित कर दिया है जिसके कारण वह रूढ़ हो गया है। उनके प्रयोगों में कुछ बातें ऐसी हैं जो प्रारम्भ से ही कविसमय के नाम से प्रसिद्ध रही हैं, किन्तु कुछ बातें धूर्तों ने परस्पर प्रतिस्पर्धा या स्वार्थसाधन के लिए ही प्रसिद्ध कर दी हैं।[2] कवि-समय का आदर्श निदर्शन महाकवि कालिदास की रचनाओं के अध्ययन द्वारा हृदयंगम किया जा सकता है। उसका जितना अधिक महत्व राजशेखर ने स्वीकार किया है, उतना अन्य आलंकारिकों ने नहीं। और तो और, आचार्य भामह, उद्भट और दण्डी आदि आलंकारिकों ने तो कवि-समय के अन्तर्गत समाविष्ट की जाने वाली अनेक उक्तियों को लोकशास्त्रविरुद्ध दोष की श्रेणी में व्याख्यात किया है। उनकी युक्तिसंगत परीक्षा करने के पश्चात् ही उन्हें सुचारु समझा जा सकता है।

कवि-समय के प्रकार और जातिगत कवि-समय

आचार्य राजशेखर ने तीन प्रकार का कवि-समय माना है :— 1. स्वर्ग्य, 2. भौम और 3. पातालीय। इन तीनों में भौम कविसमय ही प्रधान है, क्योंकि, उसका क्षेत्र, अत्यन्त विस्तृत है। भौम कविसमय के चार रूप हैं :—1. जाति, 2. द्रव्य, 3. गुण और 4. क्रिया। शब्दार्थ के चार प्रकार होने के कारण कवि-समय भी चार प्रकार का होता है, जिनके अर्थों में प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं :— 1. असत् का उल्लेख, 2. सत् का अनुल्लेख तथा 3. नियम। जो पदार्थ लोक और शास्त्र में देखा या सुना न गया हो, उसका काव्य-रचना में उल्लेख करना असत् का निबन्धन है। उसके विपरीत शास्त्र और लोक में वर्णित पदार्थ का उल्लेख न करना सत् का अनिबन्ध है तथा शास्त्र और लोक के नियमों से नियन्त्रित एवम् बहुधा व्यवहृत पदार्थ का उल्लेख करना जात्यादिगत नियम है। जातिगत अर्थ में असत् के निबन्धन के उदाहरण नदियों में कमल और कुमुद आदि का वर्णन, समस्त जलाशयों में हंस और सारस आदि पक्षियों का वर्णन तथा

---

1. राजशेखर : काव्यमीमांसा : प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
2. वही

सभी पर्वतों में, सुवर्ण और रत्न आदि की खानों का चित्रण है। यद्यपि नदियों में कमल आदि असत् हैं तथापि कविसमय के अनुसार उनका वर्णन सरिता-प्रवाह के प्रसंग में किया जाता है। इसी प्रकार न तो सभी जलाशयों में हंस ही होते हैं और न सभी पर्वतों में सुवर्ण और रत्न आदि, तथापि कवियों ने इस प्रकार का वर्णन कर कवि-समय-परम्परा का ही पालन किया है। काव्य कृतियों में जातिगत सत् के अनिबन्धन के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ वसन्त में मालती के होने पर भी उसका वर्णन न करना तथा चन्दन के वृक्षों में पुष्प-फल तथा अशोक में फल होने पर भी उन्हें पुष्पफलविहीन निरूपित करना आदि। जातिगत नियम के अन्तर्गत वे व्यवहार आते हैं जो अनेक स्थानों में प्रचलित होने पर भी एक ही स्थान में व्यवहृत किये जाते हैं जैसे मकर आदि का केवल समुद्र में ही वर्णन करना तथा ताम्रपर्णी नदी में ही मोतियों की उत्पत्ति बतलाना आदि।

द्रव्यगत कवि-समय के भेद

जातिरूप कविसमय की भाँति द्रव्यगत कविसमय के भी तीन प्रकार हैं। असत् द्रव्य के उल्लेख का उदाहरण अन्धकार का मुष्टिग्राह्यत्व अथवा सूचीभेद्यत्व वर्णन करना एवम् ज्योत्स्ना का कुम्भोपवाह्यत्व अर्थात् घड़ों में भरा जाना वर्णित करना है। स्पष्ट है कि न तो अन्धकार मुट्ठी में पकड़ा जा सकता है और न चाँदनी ही घड़ों में भरी जा सकती है, फिर भी कवियों ने कविसमय के अनुसार इस प्रकार के वर्णन किये हैं जो आज भी सहृदयसमाज का चित्ताह्लादन करते हैं। सत् द्रव्य के अनिबन्धन के प्रमाण में कृष्ण पक्ष में ज्योत्स्ना की विद्यमानता होने पर भी उसका वर्णन न करना तथा शुक्लपक्ष में अन्धकार के होने पर भी उसका अनिबन्धन करना है। सच तो यह है कि प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष में चाँदनी का रूप तो प्रायः एक सा ही रहता है, पर लोक-व्यवहार की भाँति कवि व्यवहार में भी एक को उज्ज्वल पक्ष और दूसरे को तिमिर पक्ष कहा जाता है। यह कथन एक प्रकार से 'कविसमय' का ही अनुवर्तन है। द्रव्यगत नियम का उदाहरण मलयाचल में ही चन्दन की उत्पत्ति तथा हिमालय में ही भूर्जपत्रों का उद्भव वर्णित करना है। ऐसा करते समय कविगण इस तथ्य की ओर किंचित्मात्र भी ध्यान नहीं देते कि चन्दन तथा भूर्जपत्र अन्य स्थानों पर भी उत्पन्न हो सकते हैं। कवि-समय का यह सिद्धान्त कतिपय सर्वातिग द्रव्यों में भी घटित होता है। उदाहरणार्थ क्षीरसमुद्र तथा क्षारसमुद्र की एकता निरूपित करते हुए दोनों ही प्रकार के समुद्रों में भगवान विष्णु का शयन तथा लक्ष्मी की उत्पत्ति का वर्णन करना। वास्तविकता तो यह है कि क्षीर समुद्र को ही उपर्युक्त दोनों कार्यों के अधिष्ठान का श्रेय प्राप्त है, किन्तु कवि-समय ने क्षीर-

सागर और क्षारसागर की एकता निरूपित कर दी है। इसी प्रकार सागर तथा महासागर में भी ऐक्य का निरूपण कर कवियों ने कवि-समय का ही निर्वाह किया है क्योंकि गंगा आदि नदियों का संगम एक सागर से होता है जबकि कवि गण अपनी कवि-परम्परा अथवा कवि-समय-पद्धति का पालन करते हुए सागर के साथ सात समुद्रों की एकता का भी वर्णन कर देते हैं।

क्रियागत कवि-समयों के रूप

काव्य में क्रियागत रूपों के भी अनेक प्रकार कवि-समय में वर्णित हैं। असत् क्रियागत निबन्धन का सम्बन्ध क्रियागत असत्य कल्पना से है। कवि-समय की सुदीर्घ परम्परा में रात्रिकाल में चक्रवाक-मिथुन का जलाशय के भिन्न-भिन्न तटों पर पृथक्-पृथक् रूप में रहना तथा चकोर पक्षी का ज्योत्स्नापान करना इसी प्रकार के निबन्धन का प्रमाण है। व्यावहारिक दृष्टि से चक्रवाक-मिथुन की वियोग-क्रिया और चकोरियों की चन्द्रिकापान क्रिया असत् है तथापि कवि-समय के अनुसार इस प्रकार का वर्णन करना अनिवार्य है। क्रियारूप अर्थ में सत् का अनिबन्धनरूप भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ दिन में नीलोत्पल (नीलकमल) का विकास न होना तथा रात्रि में शेफालिका के पुष्पों का शाखा से गिरना आदि वर्णन उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमें कवि-समय निरूपित सिद्धान्त का ही पालन मात्र हुआ है। क्रियागत नियम के अन्तर्गत ग्रीष्म और वर्षा काल में भी होने वाले कोकिला-कूजन का केवल वसन्त में ही वर्णन करना तथा समस्त ऋतुओं में होने वाले मयूर-नृत्य एवम् केकी-ध्वनि को केवल वर्षागत निर्दिष्ट करना 'नियम' के अन्तर्गत विषय हैं। अभिप्राय यह है कि कविसमय के अन्तर्गत जातिगत, द्रव्यगत और क्रियागत रूपों के तीन-तीन भेद होने से उनके नौ रूप बन जाते हैं।

गुणगत कवि-समय का विश्लेषण

राजशेखर ने गुणगत कवि-समय की स्थापना करते हुए लिखा है कि 'असत् अर्थात् लोक में अविद्यमान गुणों का निबन्धन करना, 'कवि-समय' के अनुसार है।'[1] इसका स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि भौतिक पदार्थों में तो शुक्लत्व, नीलत्व और पीतत्व आदि गुण होते हैं, किन्तु अमूर्त भावों में वे नहीं होते तथापि कवियों ने यश और हास्य जैसे अरूप विषयों का भी रूप-वर्णन करते हुए उन्हें श्वेत वर्ण के रूप में विवेचित किया है जो कवि-समय की परम्परा के ही अनुरूप है। अयश और पाप आदि का वर्णन कृष्णरूप में करना तथा क्रोध

---

1. काव्यमीमांसा (कविरहस्य) पंचदश अध्याय, पृष्ठ 201

और अनुराग आदि का वर्णन रक्त वर्ण के रूप में करना कवि-समय का ही परिपालन है, क्योंकि इन पदार्थों की भावात्मक सत्ता होने के कारण केवल उनकी अनुभूति ही की जा सकती है। कवियों की कृतियों में यश की धवलता और हास्य की शुक्लता के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। पाप और अयश की कालिमा तथा क्रोध और अनुराग की लालिमा का वर्णन करते हुए कवियों ने अनेक प्रकार के कल्पना चित्र-अंकित किये हैं। कविसमय के इस गुणविधान में एक बात उल्लेखनीय है और वह यह है कि यद्यपि संसार में कुन्दकलियों और कामियों के दाँतों का रक्तवर्ण, कमल कलियों का हरित वर्ण एवम् प्रियंगु पुष्पों का पीतवर्ण प्रसिद्ध है, तथापि कवियों ने कवि समय की प्रसिद्धि के अनुसार उनका वर्णन श्वेत और श्याम वर्ण के रूप में किया है। इससे स्पष्ट है कि लोक में विद्यमान गुणों का अनिबन्धन कविसमय के अनुसार वर्णित होता है। यह भी देखा जाता है कि साधारणतः कवि-रचना में माणिक्य का रंग लाल, पुष्पों का श्वेत तथा मेघों का कृष्ण वर्ण वर्णित करने की परम्परा केवल गुण-नियमों के अनुकूल है यद्यपि पुष्पों के अनेक वर्ण होते हैं तथापि स्मित के उपमान के रूप में पुष्पों के चित्रण में उनका केवल श्वेत रंग ही उल्लिखित होता है। कृष्ण और नील, कृष्ण और हरित, कृष्ण और श्याम, पीत और रक्त तथा शुक्ल और गौर रंगों का समान रूप से वर्णन करना भी 'कविसमय' ही है। इसी प्रकार मिश्रित आदि वर्णों में भी एकता समझनी चाहिए। कवियों द्वारा आँखों का भी श्वेत, श्याम, कृष्ण और मिश्र आदि विविध वर्णों में वर्णन किया गया है जो कविसमय के ही अनुरूप है। राजशेखर ने कविसमय के अनुसार गुण वर्णन करने के अनेकविध उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें न केवल उक्ति चमत्कार और आलंकारिक उत्कर्ष ही है, अपितु विविध विषयों और पदार्थों के गुण-वर्णन द्वारा उनकी वर्णोचित संगति भी सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। महाराज भोज की राजसभा में एक समस्या की पूर्ति करते हुए एक कवि महोदय का इस प्रयोजन से अपना मानसिक विषाद व्यक्त करना पड़ा था कि कहीं महाराज भोज की यश-धवलिमा उनकी प्रिया की अलकावली को भी धवलित न बना दे। काव्य-रचनाओं में इस प्रकार की वाग्वैदग्ध्यपरक और चारु चमत्कृतिपूर्ण असंख्य रचनाएँ मिल सकती हैं।

स्वर्ग्य तथा पातालीय कवि समय

कवि-समय-परम्परा में स्वर्ग्य और पातालीय कवि-समय वर्णन की भी पद्धति रही है, जिसका परिपालन करते हुए कवियों ने अपनी रचनाओं को रुचिकर और रमणीय बनाया है। उदाहरणार्थ चन्द्रमा में शश और मृग को किसने देखा है, किन्तु कवियों ने अप्रथित मुद्रता के साथ उनका काव्यगत वर्णन किया है। इसी प्रकार कामदेव के ध्वज चिह्न को कहीं मकर तथा कहीं मत्स्य रूप में चित्रित किया गया है जो उचित नहीं है, क्योंकि तत्वतः मत्स्य और मकर का

ऐसा समझ कर ही उसका वर्णन करना युक्तिसंगत है। कवियों [illegible] कर्तव्य है कि वे चन्द्रोत्पत्ति के वर्णन के समय इस बात का ध्यान रखें कि पुराणों में चन्द्रमा की उत्पत्ति कहीं अत्रि ऋषि के नेत्र से वर्णित हुई है और कहीं समुद्र-मथन की वेला में समुद्र से। ऐसी स्थिति में कवियों के लिए उचित है कि वे उनके वर्णन-प्रसंग को पृथक्-पृथक् न समझें। यह भी एक कविसमय का ही प्रताप है कि बहुकालजन्य चन्द्रमा भगवान शंकर के मस्तक पर बाल-रूप में ही वर्णित किया जाता है। कवियों ने न केवल अनंग (कामदेव) का वर्णन मूर्तरूप में ही किया है अपितु वे अमूर्त काम का वर्णन करने में भी कृतकृत्य हुए हैं। सूर्यशतककार मयूर कवि का मत है कि यो तो पुराणों में द्वादश सूर्यों की पृथकता का उल्लेख किया गया है, किन्तु कवि-रचनाओं में उन्हें एक ही समझना चाहिए। इसी प्रकार नारायण और माधव [illegible] ऐक्य चित्रण उसी प्रकार कवि-समय के अनुरूप है, जिस प्रकार कमला और सम्पदा की एकता का वर्णन। कवि-समय में चित्रित इन स्वर्ग विषयों की एकता के अतिरिक्त पातालीय कवि-समयों का परिपालन भी कवियों की कृतियों में विद्यमान है। उदाहरणार्थ पाताल निवासी नाग और सर्प दोनों भिन्न-भिन्न जाति के हैं, क्योंकि शेष को नागराज तथा वासुकि को सर्पराज कहा जाता है, किन्तु कवि-समय के अनुरोध से प्राचीन कवियों ने दोनों का वर्णन एक ही रूप में किया है। इसी प्रकार दैत्य, दानव और असुर ये तीनों भिन्न-भिन्न जाति के हैं, किन्तु महाकवि बाणभट्ट ने कादम्बरी के मंगलाचरण में तीनों का वर्णन एक ही रूप में किया है। वस्तुत सभी दैत्यों और दानवों को असुर कहना उचित नहीं है, क्योंकि हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, विरोचन, बली और बाण आदि दैत्य हैं। विप्रचित्ति, शंबर, नमुचि और पुलोम आदि दानव हैं तथा बल, वृत्र एवं वृषपर्वा आदि असुर हैं। कवियों ने उनके मूल अंतर का ध्यान रखे बिना उनका जो काव्यगत वर्णन किया है, वह केवल कवि-समय के अनुसार है। सारांश यह है कि राजशेखर ने कवि-समय जैसे महत्वपूर्ण विषय का उद्घाटन कर निश्चय ही एक महत्वपूर्ण कार्य किया है, क्योंकि इस विषय की ओर या तो अन्य आचार्यों का ध्यान ही नहीं गया था या उन्होंने इसका महत्व ही न समझ कर इसकी उपेक्षा कर दी थी। राजशेखर ने इस विषय की महत्ता समझ कर उसे काव्य-सुप्त नहीं रखा अपितु पुनः जागृत कर दिया।

उपसंहार

पूर्व परिच्छेदों में कवि-समय अथवा काव्य-रूढ़ियों का जो विवेचन किया गया, वह मुख्यतः हमारे भारतीय काव्य-साहित्य की क्रमागत परम्पराओं से सम्बन्धित है। उसके अतिरिक्त विश्व-साहित्य के विभिन्न रूपों में भी इसी प्रकार का कवि-समय मिलता है जिसे अंग्रेजी में 'पोइटिक कन्वेन्शंस' के रूप में व्याख्यात

किया गया है। इन कवि-समयो का एक महत्वपूर्ण आधार उनका सांस्कृतिक धरातल है। आज जब विश्वजीवन के आलोक मे विश्व-संस्कृति और विश्व-दर्शन के समन्वय की चेष्टा की जा रही है तो वाङ्मय के मधुरतम रूप काव्य-साहित्य के उत्स मे प्रवाहित कवि-समयो की मूल चेतना का अध्ययन और अनुशीलन करते हुए उसे मानव-मन के सामान्य धरातल पर विवेचित करना क्या कम स्पृहणीय अथवा न्यून रुचिकर होगा ? काव्य के अध्येताओ को इस दिशा की ओर ध्यान देते हुए कवि-समयों के महासागर से संस्कृतिप्रसूत रत्न-कणो के अनुसंधान का अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए।

14

काव्य-सर्जना में प्रतिभा का महत्त्व

'प्रतिभा' काव्य-विधा के प्रस्फुरण की आदि जननी है। आचार्यों ने काव्य-हेतुओं का विवेचन करते हुए उसे सर्वोपरि महत्ता प्रदान की है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में तो उसका गुण-कीर्तन सर्वत्र किया गया है। यों तो काव्य-सर्जना के हेतु-तत्त्वों में व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी अभीष्ट गौरव प्राप्त रहा है किन्तु 'प्रतिभा' के सम्मुख वे भी नतमस्तक हैं। इसका कारण यह है कि प्रतिभा काव्य-सर्जना की मूल शक्ति एवम् बीजरूपा है, जिसके अभाव में श्रेष्ठ निर्माण की कल्पना भी ही नहीं जा सकती। काव्य के अन्य हेतुओं का सापेक्षिक महत्त्व होते हुए भी वे प्रतिभा की सी ज्योतिर्मयता नहीं प्राप्त कर सकते, यह एक सुनिश्चित धारणा है।

प्रतिभा का स्वरूप-विश्लेषण

संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्रायः समस्त आचार्यों ने प्रतिभा के स्वरूप-विश्लेषण और महत्त्व [illegible] प्रतिपादन किया है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के अंतर्गत प्रतिभा की परिभाषा करते हुए उसे "या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा" कहा है तो अभिनवगुप्त ने 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' को प्रतिभा का स्वरूप-लक्षण निर्दिष्ट कर उसकी व्याख्या 'वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वं' के रूप में की है। मम्मट के अनुसार कवित्वबीजरूप एक 'संस्कारविशेष शक्ति' का नाम प्रतिभा है तो भट्टतौत के मत से 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' को ही प्रतिभा कहा जा सकता है। वाग्भट ने सत्कवि की उस सर्वतोमुखी बुद्धि को प्रतिभा माना है जो 'प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी' होने के कारण अपनी सर्वत्र प्रस्फुरण करती है। इस विषय में पंडितराज जगन्नाथ अपना मौलिक अभिमत रखते हैं। उनके अनुसार 'काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति' को ही प्रतिभा की अभिधा प्रदान की जा सकती है। आचार्यों के उपर्युक्त प्रतिभा-विषयक विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि कवि के लिए प्रतिभाशाली होना अनिवार्यतः आवश्यक है, क्योंकि प्रतिभा के अभाव में सत्काव्य का प्रस्फुरण हो ही नहीं सकता। प्रतिभा के बल पर ही कवियों में नूतन कल्पनाओं का उद्बोध और सौन्दर्यानुभूति की क्षमता उत्पन्न

होती है। यदि कवियों में प्रतिभा का जागरण न हो तो वे नवरसरुचिर काव्य का निर्माण कर ही नहीं सकते। प्रतिभा के कारण ही कवि-संसार के प्रजापति कह जाते हैं और अचेतन पदार्थों में भी चेतना का संचार कर उनकी यथेच्छापूर्वक रूप-सर्जना कर लेते हैं। काव्यशास्त्रियों ने काव्य की अभ्यर्थना में जो कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण मन्तव्य प्रस्तुत किया है, उसका बीजभूत आधार कवियों का प्रतिभा-योजन ही है। वस्तुतः काव्यकार एक ऐसा अद्‌भुत शब्द शिल्पी है जो प्रतिभा द्वारा अपना कौशल प्रदर्शित करता हुआ जडवत् पदार्थों में भी चेतना का अपूर्व क्रम निष्पादित कर उन्हें 'शब्दब्रह्म' का पर्याय बना देता है। संसार की अभद्र और गर्हित वस्तुएँ भी कवि प्रतिभा का संयोग प्राप्त कर चमत्कृत मणि रत्न की कांति धारण कर लेती हैं। यदि ऐसा न होता तो करुण, वीभत्स और भयानक आदि रस भला लोकोत्तर आनंद की निष्पत्ति कैसे करा सकते थे? वस्तुतः प्रतिभा के आधार पर ही कवि का अहं आत्मप्रसार करता हुआ विश्वात्मतत्व के रूप में विगलित हो जाता है।

क्या प्रतिभा ही काव्य सर्जना का एकमात्र मूल हेतु है?

काव्य-सर्जना का हेतु केवल प्रतिभा को ही स्वीकार किया जाय अथवा प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के समीकृत स्वरूप को? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर आचार्यों ने भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। कुछ आचार्यों ने 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्न' के अनुसार प्रतिभा को ही अंगी रूप में मान्यता प्रदान कर अन्य उपकरणों को उसके अंगरूप में निरूपित किया है तो कतिपय आचार्य इन सबकी पृथक पृथक सत्ता मानते हैं। हमारे मतानुसार काव्य सर्जना का मौलिक हेतु तो प्रतिभा तत्व ही है जो राजा के समान अपना शीर्षस्थान रखता है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यासादि उपादान 'राजपरिवार' के समान उसके सहयोगी या शोभाधायक अंग बनते हैं। जिस प्रकार जडचेतन या सघातस्वरूप हमारा व्यक्तित्व भौतिक और आत्मिक चेतनाओं का सम्मिश्रण है, जिसकी जडचेतना और आत्मचेतना को पृथक पृथक नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार काव्य-रचना के अखंड स्वरूप में प्रतिभा आदि तत्वों का संयोजन ऐसी अद्‌भुत रासायनिक प्रक्रिया में होता है कि उनकी शल्य-परीक्षा करना न तो समुचित ही है और न संभावित ही। साहित्य के समन्वयात्मक स्वरूप की भाँति उसमें भी प्रतिभा आदि तत्वों का सम्मिलन रहता है, जिसमें किसी भी प्रकार के साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। अपने कथन की पुष्टि के लिए हम कुछ प्रमुख आचार्यों के विचारों का प्रस्तुतीकरण आवश्यक समझते हैं, जिससे इस विषय का स्पष्टीकरण हो सके कि काव्य-हेतुओं के रूप में प्रतिभा तथा उसके सहयोगी उपादान कौन-कौन से हैं और उनकी सापेक्षित महत्ता का निरूपण किस प्रकार किया जा सकता है?

विभिन्न आचार्यों के अभिमत

विवेचन के इस प्रसंग में हमारा सर्वप्रथम ध्यान आचार्य भामह की ओर जाता है जिन्होंने काव्य-सर्जना के लिए अन्यान्य हेतुओं [redacted] उल्लेख करते हुए भी यह तथ्य स्वीकार किया है कि काव्य-सर्जना की क्षमता किसी प्रतिभावान व्यक्ति में ही होती है। उन्होंने शास्त्र-ज्ञान, काव्यविदुपासन एवं अन्य निबन्धावलोकन द्वारा व्युत्पत्ति तथा 'कार्यः काव्यक्रियादरः' द्वारा अभ्यास की ओर भी संकेत किया है, किन्तु उनकी दृष्टि में कवि-प्रतिभा की महिमा सर्वोपरि है।[1] भामह के परवर्ती आचार्य दण्डी ने भामह की भांति कवि-प्रतिभा का एकांत समर्थन न कर तीनों के समुदित रूप में ही काव्य-सर्जना का हेतु अनुमोदित किया है। उनका मत है कि यदि किसी काव्यकार में 'पूर्ववासनागुणानुबन्धी प्रतिभा' न भी हो, तो भी वह अपनी व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा वाणी की उपासना करता हुआ भारती-माता [redacted] अनुग्रह प्राप्त कर सकता है।[2] आचार्य वामन ने लोक, विद्या और प्रकीर्ण नामक तीन वर्गों में समस्त काव्यांगों को विभक्त कर प्रथम में लोकवृत्त-ज्ञान, द्वितीय में समस्त शास्त्र-ज्ञान तथा तृतीय में लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, वृद्ध-सेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान नामक छह तत्वों का उल्लेख करते हुए 'अभियोग' अर्थात् काव्य-रचना के उद्यम को 'कवित्व-उत्कर्षकारी' माना है। उनका मत है कि वृद्ध-सेवा से रचयिता में काव्य-शिक्षाविषयक वत्सलता होती है, तो अवेक्षण से पदों में स्थैर्य तथा सरस्वती की सिद्धि मिलती है। अवधान द्वारा चित्त नूतन अर्थों के बोध में समर्थ होता है। वामन ने इन सबका काव्यगत सापेक्षिक महत्व अवश्य स्वीकार किया है, किन्तु वे भी इस तथ्य की अवहेलना नहीं कर सके हैं कि काव्य-स्वरूप के प्ररोहण के लिए प्रतिभा ही वास्तविक बीज है। आचार्य रुद्रट ने इसी विषय को कुछ भिन्न रूप में विवेचित किया है। उन्होंने सहजा और उत्पाद्या नाम से प्रतिभा के दो प्रकार निर्धारित कर जन्मसिद्ध सहजा प्रतिभा को ही श्रेयस्करी और काव्य का मूल हेतु माना है उनके मतानुसार उत्पाद्या प्रतिभा की उत्पत्ति 'व्युत्पत्ति' से होती है और उसका कार्य सहजा प्रतिभा का संस्कार करना है।[3] इस विषय में उन्होंने उदाहरण देते हुए लिखा है कि जिस प्रकार खनिज स्वर्ण के परिष्करण और शोधन के लिए समुचित उपायों की अपेक्षा आवश्यक है, उसी प्रकार सहजा प्रतिभा के परिष्कार और संस्कार के लिए अभ्यास और व्युत्पत्ति भी वांछनीय है।[4] इस विषय में आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि यदि कवि

1. भामह : काव्यालंकार 1/5
2. दण्डी : काव्यादर्श 1/104
3. रुद्रट: काव्यालंकार 1/16
4. वही 1/14

में प्रतिभा विद्यमान है तो वह पुरातन और परम्परावर्णित विषयों में भी नवनवोन्मेष कर सकता है। उन्होंने व्युत्पत्ति की अपेक्षा शक्ति को महत्व देते हुए एक प्रकार से प्रतिभा की ही संस्तुति की है, और बतलाया है कि शक्ति के द्वारा अव्युत्पत्तिजन्य दोषों का भी निराकरण किया जा सकता है।

प्रतिभा के रूप प्रकार

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने कारयित्री और भावयित्री के अभिधान से प्रतिभा के दो रूप माने हैं। कारयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध कवि की काव्य-निर्माण शक्ति से है तो भावयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध भावक अथवा सहृदय की उद्भावन-शक्ति से। राजशेखर ने उक्त दोनों प्रकार की प्रतिभाओं की महत्ता और उपयोगिता पर बल दिया है। उन्होंने प्रथम प्रकार की प्रतिभा को कवि की उपकर्त्री तथा द्वितीय प्रकार की प्रतिभा को कवि के श्रमाभिप्राय की उद्भाविका कहा है जिसके कारण कवि का व्यापार-तरु सफल बनता है। दोनों प्रकार की प्रतिभाओं में कवि-प्रज्ञा के तत्त्व अन्तर्निहित हैं। सच तो यह है कि प्रज्ञा के माध्यम से ही प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। राजशेखर ने बुद्धि के तीन रूप (स्मृति, मति, प्रज्ञा) निर्दिष्ट कर अतीत विषय का स्मरण करने वाली बुद्धि को 'स्मृति', वर्तमान का बोध कराने वाली बुद्धि को 'मति' तथा अनागत का ज्ञान कराने 'प्रज्ञा' कहा है। बुद्धि के इन तीनों रूपों में क्रमशः भूत, वर्तमान और भविष्य के उद्बोधन की शक्ति विद्यमान है। यहाँ एक बात स्मरण रखने योग्य है और वह यह है कि राजशेखर ने तो प्रज्ञा का सम्बन्ध केवल अनागत युग से ही जोड़ा है, किन्तु काव्य प्रकाश के टीकाकार श्री विद्याधर चक्रवर्ती ने उसे 'त्रैकालिकी' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि स्मृति का सम्बन्ध अतीत से, मति का अनागत से, बुद्धि का वर्तमान से और प्रज्ञा का तीनों कालों से है। आचार्य विद्याधर ने शास्त्र और काव्य की वाणी के दो क्षेत्र मानकर शास्त्र में प्रज्ञा का कलाप स्वीकार किया है तथा काव्य में प्रतिभा का सञ्चरण। इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय आचार्यों की प्रतिभा के विशाल साम्राज्य में प्रज्ञा की अनुप्रेरणा स्वीकृत है और इन दोनों का मणिकाञ्चन-संयोग पाकर ही कोई भी कलाकार अपनी कृति में सफल हो सकता है।

'प्रतिभा', 'शक्ति' और व्युत्पत्ति का सम्बन्ध

राजशेखर ने उन्हीं कवियों को श्रेयस्कर माना है जो प्रतिभा और व्युत्पत्ति के गुणों से समन्वित हों। उन गुणों के आधार पर उन्होंने कवियों के क्रमशः 'काव्य-कवि' और 'शास्त्रकवि' नामक दो भेद किये हैं और लिखा है कि इन दोनों में कोई भी कवि किसी अन्य से हीनतर नहीं है। एक विशेष बात यह है कि राजशेखर ने अधिकांश आचार्यों की भाँति 'प्रतिभा' और 'शक्ति' को अभिन्न

रूप में ग्रहण न कर दोनों में अत्यन्तर अर्थ-भेद माना है। उनके मतानुसार 'सा
शक्तिः केवलं काव्यहेतुः' अर्थात् शक्ति ही काव्य में एकमात्र हेतु है। उन्होंने
'मन की एकाग्रता' को समाधि संज्ञा से अभिहित कर उसे काव्य-सर्जना का
आन्तरिक प्रयत्न और 'अभ्यास' को बाह्य प्रयत्न कहा है। इन दोनों प्रयत्नों का
प्रयोजन 'शक्ति' को उद्भासित करना है। उनका मत है कि प्रतिभा और
व्युत्पत्ति द्वारा कवित्व-शक्ति का प्रसार होता है। इस प्रकार से शक्तिमान कवि
ही प्रतिभासम्पन्न और व्युत्पन्न कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि राज-
शेखर के मतानुसार प्रतिभा की अपेक्षाकृत 'शक्ति' शब्द अधिक व्यापक है,
यद्यपि औपचारिक दृष्टि से उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने प्रतिभा के
दो रूप (कारयित्री और भावयित्री) मान कर कारयित्री के सहजा, आहार्या और
औपदेशिकी संज्ञक तीन प्रकार माने हैं और बतलाया है कि सहजा प्रतिभा पूर्व-
जन्म के संस्कारों की अपेक्षा रखती है जब कि आहार्या प्रतिभा इसी जन्म के
संस्कारों से उद्बुद्ध होती है। उनके मत से औपदेशिकी प्रतिभा की उत्पत्ति के
कारण मंत्र, तंत्र, देवता तथा गुर्वादेश आदि हैं। उसका उपदेश-काल तथा
संस्कार-काल कवि का ऐहिक जीवन होता है। राजशेखर ने इसी विवेचन के
संदर्भ में मंगल और श्यामदेव नामक विद्वानों के प्रतिभा-विषयक मतों का
उल्लेख कर बतलाया है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति के विषय में आचार्य मंगल
का दृष्टिकोण आचार्य आनन्दवर्द्धन से सर्वथा विपरीत है क्योंकि वे 'प्रतिभा' की
अपेक्षा 'व्युत्पत्ति' को ही काव्य का मूल कारण मानते थे। कह नहीं सकते कि
आचार्य मंगल ने किस काल में कौन-सा काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखा। हाँ, राज-
शेखर द्वारा उद्धृत किये गये उनके मत से इतना अनुमान अवश्य होता है कि वे
निश्चय ही कोई अज्ञातवृत्त आचार्य थे जिन्होंने परम्परागत प्रवृत्ति का अनुगमन
न कर स्वतंत्र रीति [illegible] काव्य-समीक्षण किया था।

प्रतिभा के आधार पर कवियों के भेद

राजशेखर ने सहजा, आहार्या और औपदेशिकी संज्ञक तीन प्रकार की
कारयित्री प्रतिभाओं के आधार पर भी कवियों के क्रमशः तीन प्रकार (सारस्वत
आभ्यासिक और औपदेशिक) माने हैं। सारस्वत कवि सहज बुद्धिमान होने के
साथ-साथ जन्मान्तरीय संस्कारों से प्रेरित 'सरस्वतीक' होता है। आभ्यासिक
कवि की भारती शास्त्राभ्यास द्वारा उद्भासित होती है। औपदेशिक कवि का
काव्य-प्रस्फुरण मंत्रोपदेश आदि अनुष्ठानों द्वारा किया जा सकता है। आचार्यों
का मत है कि सारस्वत और आभ्यासिक कवियों की वाणी द्राक्षा आदि की
भाँति प्रकृतिमधुरा होती है जिसके लिए तंत्रमंत्रादिकल्पित संस्कारों की कोई
आवश्यकता नहीं होती। राजशेखर के विचारानुसार यदि पूर्वोक्त दोनों प्रकार
के कवि अन्य अनुष्ठान भी करें तो 'अधिकस्य अधिक फलम्' की भाँति विशेष

साभावन्वित भी हो सकते हैं, क्योंकि अनेक बार सहज बुद्धिमत्ता भी अभ्यास और दैवी शक्ति से और अधिक प्रोद्भासित हो जाती है। इन तीन प्रकार के कवियों में 'सारस्वत' कवि ही सर्वश्रेष्ठ है। उसकी रचना सर्वथा पूर्ण और स्वतन्त्र होती है जबकि आभ्यासिक कवि का निर्माण सीमित भी हो सकता है औपदेशिक कवि की रचना सुन्दर होते हुए भी कभी-कभी सारहीन भी हो जाती है। विद्वानों का मत है कि यों तो काव्य-रचना करने वाले कवि अनेक प्रकार के होते हैं, किन्तु समस्त काव्य विद्याओं में निष्णात, बुद्धिमान, कृताभ्यास, मन्त्रानुष्ठाननिष्ठ और दैवी शक्तिसम्पन्न कवि विरल ही होते हैं। वस्तुतः ऐसे कवियों को ही 'कविराज' पद से अलङ्कृत किया जा सकता है। आचार्यों ने काव्य-गरिमा के प्रसार की दृष्टि से भी कवि-कोटियों का विचार किया है जिसके अनुसार कुछ कवियों का क्षेत्र उनके निजी धाम पर्यन्त ही व्याप्त रहता है तथा कतिपय कवियों का सुहृदयगोष्ठियों पर्यन्त। ऐसे कवि भी बहुत कम होते हैं जिनकी रचना सभी प्रकार के सहृदयों की वाणी पर नर्तन करती हुई उन्हें अजरता और अमरता प्रदान करती है। इस विषय में एक विद्वान का कथन है —

> एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य-
> मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
> न्यस्यविदग्धवदनेषु पदानिशश्वत्
> कस्यापि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव॥

व्युत्पत्ति और प्रतिभा पारस्परिक सहयोगी हेतु हैं

यों तो विद्वानों ने प्रतिभा को ही काव्य सर्जना का मूल हेतु माना है, किंतु व्युत्पत्ति का सहयोग भी अनेक स्थलों पर अपेक्षित और वाञ्छनीय होता है। काव्य कृतियों के परिशीलन और काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन से स्पष्ट है कि जहाँ प्रतिभा और व्युत्पत्ति का तुलनात्मक साम्य विवेचित किया जाता है, वहाँ प्रतिभा का पक्ष अधिक प्रबल और पुष्ट सिद्ध होता है। अनेक बार कवियों की प्रतिभा उनके अव्युत्पत्तिजन्य अज्ञान को आवृत कर उनकी दुर्बलताओं को क्षीण बना देती है तो कभी-कभी काव्यगत व्युत्पत्ति द्वारा उनकी प्रतिभाजन्य प्रखरता को नवीन आलोक-सा मिल जाता है। किसी भी काव्य-कृति में प्रतिभा और व्युत्पत्ति के अंशों का अनुपात किस रूप में समाहित है, इसका अन्वेषण करना तत्वाभिनिवेशी समालोचकों के लिए सहज सुलभ है। एक विद्वान ने तो शब्द-शक्ति के लक्षणित अर्थ को ही 'प्रतिभा' के नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः कवि का प्रतिभा-प्राचुर्य तो व्युत्पत्ति की समता में अधिकवरेण्य है ही, यद्यपि मङ्गल आदि प्राचीन आचार्यों ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा की अपेक्षा श्रेयसी भी कहा

है। हमें यहाँ इस विवाद में पड़ने में कोई लाभ प्रतीत नहीं होता कि उन दोनों में किसको प्रमुखता प्रदान की जाए। हमारे कथन का तो मूल मंतव्य इतना ही है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही काव्य के आवश्यक हेतु हैं और दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर सहयोगी ही हैं। व्युत्पत्ति के बल पर कवि अपने अशक्तिकृत दोषों को प्रच्छन्न एवं विनष्ट कर देता है तो प्रतिभा के बल से व्युत्पत्ति-जन्य काव्य की क्लिष्टता और शास्त्र-की दुर्वहता को काव्यसंवेद्यता प्रदान की जा सकती है। इस विषय में आचार्य राजशेखर का यह निर्णय हमें सर्वथा सुमान्य प्रतीत होता है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही अपने संयुक्त स्वरूप में काव्य-रचना की उपकर्त्री होती हैं। लौकिक उदाहरण द्वारा दोनों का अन्योन्याश्रित भाव इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जिस प्रकार लावण्य के अभाव में रूपसम्पदा शोभनीय नहीं होती और रूप के बिना लावण्य में उत्कर्ष नहीं आता, उसी प्रकार प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और व्युत्पत्ति के बिना प्रतिभा में सर्वांगीणता नहीं आती। काव्य-सौन्दर्य की पूर्णता के लिए दोनों का सापेक्षिक महत्व है। श्रेष्ठ कवियों की कृतियों में व्युत्पत्ति और प्रतिभा का मणिकांचन योग होता है।

पंडितराज के मतानुसार प्रतिभा का लक्षण

पंडितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा का लक्षण निर्धारित करने में काव्य-निर्माण के व्यावहारिक पक्ष को विशेषतः ध्यान में रखा है। उनका प्रतिभालक्षण काव्य-लक्षण के क्रोड में क्रीडा करता हुआ सा प्रतीत होता है। रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द को काव्य कहकर उन्होंने 'काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति' को प्रतिभा कहा है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य की रचना के समय उसकी घटना के अनुरूप शब्दों और अर्थों की योजना पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। पंडितराज के मतानुसार काव्याह्लाद के लिए अर्थ की रमणीयता नितान्त वांछनीय है और वह रमणीयता तभी संघटित हो सकती है जब उसके उपयुक्त 'प्रतिपादक' शब्दों का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार का शब्द-प्रयोग केवल वही कर सकता है जिसकी प्रज्ञा में घटनानुकूल शब्द-योजना की स्फूर्ति हो। वस्तुतः काव्य का स्वरूप शब्दमूर्तिधर विष्णु के समान अनंत और व्यापक है अतः अनुकूल शब्द योजना करने के कार्य में कवि का दायित्व कितना अधिक बढ़ जाता है, इसके विवेचन की तो कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। सच तो यह है कि पंडितराज ने काव्य-लक्षण में शब्द का पक्ष प्रधान माना है, जिसके विशाल क्षेत्र में वाचक शब्द के साथ-साथ लक्षक और व्यंजक शब्द भी समाविष्ट हो जाते हैं। प्रतिभासम्पन्न कवि ही शब्दों की प्राणशक्ति से सुपरिचित होने के कारण उनका समुचित प्रयोग करने की क्षमता रखते हैं क्योंकि अपनी

काव्य-साधना के द्वारा उन्हें अलौकिक शब्द सिद्धि प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'कविहि अरथ आखर बल साँचा' का तथ्य निरूपित करते हुए इसी तत्व की ओर संकेत किया है। कवि की प्रतिभा में एक प्रकार की ऐसी सूझ बूझ और शक्ति निहित है जो घटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति करने में सहज समर्थ है। कवि का शब्द-विधान कुशल धनुर्धर के नाराच-नैपुण्य से यत्किंचित न्यूनतर नहीं होता जो यथावसर लक्ष्य-संधान करता हुआ कवि-कृति को सफलता प्रदान करता है। दीक्षितेजी ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए ज्ञान के साहित्य के साथ-साथ शक्ति के साहित्य का भी निरूपण किया है। प्रतिभा के भरत-सौर पर अधिष्ठित कविरूप मारुति मूर्च्छाग्रस्त भाव-सौमित्रि को रस संजीवनी प्रदान कर सकता है। विश्व के इतिहास में कवियों ने अव्यवस्था में व्यवस्था लाते हुए जो चमत्कार प्रदर्शित किए हैं वे इस मान्यता के सजीव प्रमाण हैं। यदि ऐसा न होता तो महाराज भोज अपने राज्याश्रित कवियों को 'प्रत्यक्षर लक्ष ददौ' की उक्ति सफल नहीं बनाते तथा छत्रपति शिवाजी महाकवि भूषण से एक ही छंद को बार-बार सुनाने के लिए अनुरोध नहीं करते। वस्तुतः प्रतिभा के कारण ही काव्य-कृतियों में रमणीयता आती है जिसे ध्यान में रखते हुए 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' जैसी काव्योक्ति सुप्रसिद्ध हो गई है।

केवल कविगत प्रतिभा ही काव्य का कारण है

पंडितराज ने केवल कविगत प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है। प्राचीन आचार्यों ने नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा अथवा बुद्धि को प्रतिभा कहा था, किन्तु पंडितराज ने उसका लक्षण 'काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति' निर्धारित किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य की संघटना अथवा रचना के अनुकूल शब्दों और अर्थों की उपस्थिति करना प्रतिभा का कार्य है। उनके मतानुसार प्रतिभा में रहने वाला प्रतिभात्व एक प्रकार का जातिविशेष है जिसकी सिद्धि 'अनुमानाकार प्रतीति' से न होकर द्रव्यत्व आदि जाति की 'अनुमान प्रतीति' की भाँति होती है। प्रतिभा का समवाय सम्बन्ध से काव्य के प्रति कारण कहा जा सकता है। उसे धर्ममात्र मानने से तो उसकी अनित्यता भी स्वीकार करनी पड़ती है, किन्तु उसे नित्य जाति मानने पर किसी प्रकार की कोई क्षति नहीं होती। पंडितराज ने काव्यकारणता को अवच्छेदकता से उसे सिद्ध जाति विशेष और खंड उपाधिरूप भी कहा है। उनका मत है कि काव्य की हेतुभूत प्रतिभा के दो कारण हैं जिनमें देवता अथवा महापुरुषों की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट पुण्यविशेष, विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यासआदि तीनों हेतुओं का संयोग होता है। यह आवश्यक नहीं है कि ये तीनों मिलकर ही प्रतिभा के प्रति कारण बनें। काव्यानुशीलन से प्रकट है कि ये तीनों पृथक्-पृथक् रूप से भी काव्य के कारण

रहे हैं। उदाहरणार्थ काव्य-संसार में यह एक प्रसिद्ध जनश्रुति है कि पंचवर्षीय कर्णपूर के मुख मे श्रीकृष्णचैतन्य ने अंगुल्यग्रभाग को प्रविष्ट कर उसमें विलक्षण काव्य-शक्ति का प्रादुर्भाव कर दिया था जिसके कारण वह व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव मे भी उत्कृष्ट काव्य-रचनाएँ करने मे समर्थ हुआ। वस्तुतः तपोपूत महात्माओ और सिद्ध पुरुषों की अलौकिक शक्ति और अनुग्रह-महिमा के कारण जब असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं तो फिर किसी जड व्यक्ति मे प्रतिभा का प्रस्फुरण करना उनके लिए कौन सी बड़ी बात है।

'व्युत्पत्तिजन्य' प्रतिभा का सम्बन्ध नाना प्रकार के लोकवृत्त, शास्त्र, काव्य और इतिहास प्रभृति विषयों के पर्यालोचन से प्रसूत निपुणता से है जिसका सतत् अभ्यास कवि-प्रतिभा में काव्यप्रशिक्षाप्रयोज्य विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति करता है। कहने के लिए प्रतिभा के प्रस्फुरण में अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सम्मिलित कारण माना जा सकता है, किन्तु इस मान्यता में कार्यकारणभाव के व्यभिचरित होने की यथेष्ट सम्भावना है। विद्वानों का एक वर्ग इस मत का समर्थक है कि उक्त तीनों कारण अपने-अपने स्वतन्त्र रूप मे काव्य-सर्जना के हेतु निर्धारित किये जाने चाहिए। विश्व में ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने शास्त्रादि का अध्ययन किये बिना भी ऐसे अमर काव्यों की रचनाएँ की हैं जो किसी भी व्युत्पन्न अथवा आभ्यासिक कवि के लिए सम्भव ही न थी। इसके विरुद्ध काव्य-सर्जना के प्रति अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास की त्रयी को सम्मिलित कारण मानने वाले विद्वानों का कथन है कि अदृष्टमात्र को ही प्रतिभा के उद्रेक का कारण मानना पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि कोई कवि किसी एक जन्म में एकमात्र उसी के आधार पर अपनी काव्य- रचना करता है तो भी उसके मन में उसके पूर्व जन्मों के व्युत्पत्तिजन्य और अभ्यासगत संस्कारों की विद्यमानता सभावित की जा सकती है। 'अदृष्ट' को प्रतिभा के प्रस्फुरण का एकमात्र कारण मानने वाले विचारकों का कथन है कि पूर्वजन्मगत व्युत्पत्ति और अभ्यास की सिद्धि केवल अनुमान प्रमाण पर आश्रित है, जिसकी तत्वसंगति मे कोई बहुत बड़ा बल नही है। यदि यह कहा जाय कि उक्त तीनों हेतुओ को कारण माने बिना प्रतिभा की संसिद्धि नही होती, क्योंकि उनके सम्मिलित रूप का एक मुख्य आधार कार्यानुपपत्ति भी है तो भी उचित नही है, क्योंकि जब हम अदृष्टमात्र में कार्य-सिद्धि के दर्शन करते हैं तो कार्यानुपपत्तिरूप प्रमाण के लिए कोई अवकाश नही रह पाता। आस्तिकबुद्धि विद्वानो ने नास्तिक ग्रन्थो मे मंगला-चरण आदि के अभाव मे भी इनकी निर्विघ्न समाप्ति मे उपस्थित व्यभिचार की निवृत्ति के लिए जन्मान्तरीय मंगलाचरण की कल्पना की है, जिसे काव्य-प्रतिभा के प्रस्फुरण मे अभ्यास और व्युत्पत्ति की जन्मांतरीय संगति के साथ संयुक्त नहीं किया जा सकता। पण्डितराज जगन्नाथ ने अदृष्टजन्य प्रतिभा का समर्थन करने

के लिए इस सिद्धान्त का प्रबल शब्दों में उल्लेख किया है कि मंगलाचरण के अभाव में भी ग्रन्थों की निर्विघ्न समाप्ति देख कर जन्मान्तरीय मंगल की कल्पना न करने से वेदविहित प्रमाण का व्यभिचार होने की सम्भावना है, किन्तु प्रतिभा की प्रस्फुरणा में अदृष्ट आदि त्रितय की सम्मिलित कल्पना करना वेदादिबोधित न होकर स्वकल्पित मात्र है। वहाँ पर किसी व्यभिचार की उपस्थिति न होने के कारण जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति और अभ्यास की सिद्धांत-संगति की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। अतः पण्डितराज के मतानुसार काव्य-प्रतिभा के विषय में समुदित कारणता ज्ञान एक प्रकार का भ्रम है, जिसमें कार्यजनन का असामर्थ्य ही मानना चाहिए।

पण्डितराज को त्रितयवाद का सिद्धान्त मान्य नहीं है

पण्डितराज को काव्य-स्फुरण में त्रितयवाद का सिद्धान्त किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है। उन्होंने जिस प्रकार एकमात्र अदृष्ट को प्रतिभा के प्रस्फुरण का हेतु निर्धारित किया है, उसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास की पृथकता में भी प्रतिभा का उद्गम माना है। अदृष्टमात्र को प्रतिभा के प्रति सर्वत्र कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि हमारे सम्मुख ऐसे कवियों के काव्य भी उपस्थित हैं जो *अदृष्टमात्र के हेतुत्व से विरचित न होकर चिरकालिक व्युत्पत्ति और अभ्यास के हेतुत्व से भी निर्मित हुए हैं।* यदि यह कहा जाये कि ऐसे काव्यों की सर्जना में भी प्रतिभा-स्फुरण का अदृष्ट हेतु गुप्त रूप से विद्यमान होता है तो भी उचित नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही प्रति उत्पत्ति का कारण स्वीकार करना युक्तिसंगत हो सकता था, यदि यह कहा जाय कि प्रतिभोद्भव में मूल कारण तो अदृष्ट ही है, किन्तु उसमें किसी-न-किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्धक अंश अपनी विद्यमानता के कारण उसका प्रस्फुरण नहीं होने देता और व्युत्पत्ति और अभ्यास की साधना से उस प्रतिबन्धक का विध्वंस हो जाता है जिससे प्रकाशित अदृष्ट उनके साथ संयुक्त होकर काव्य प्रतिभा का उन्नयन करता है, तो भी इस तर्क में अपने पक्षसमर्थन का आग्रहमात्र है। इस प्रकार की मान्यता में प्रतिभोत्पादक अदृष्ट तथा प्रतिभोत्पत्तिप्रतिबन्धक अदृष्ट नामक दो अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ती है जो व्यर्थ का भारवहन मात्र है। अतः उचित तो यही प्रतीत होता है कि अदृष्ट तथा व्युत्पत्त्यभ्यास को पृथक्-पृथक् रूप में प्रतिभा के प्रकाशन का कारण माना जाए। ऐसी मान्यता में किसी भी प्रकार के दो कार्यकारणभावों का 'व्यतिरेक-व्यभिचार' मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अदृष्टजन्य प्रतिभा के प्रति 'अदृष्ट' तथा व्युत्पत्त्यभ्यासजन्य प्रतिभा के प्रति 'व्युत्पत्त्यभ्यास' नामक दो पृथक्-पृथक् कारण विद्यमान हैं, जिनके दो पृथक्-पृथक् कार्य भी सुनिश्चित कहे जा सकते हैं। यदि हम चाहें तो अदृष्ट-

जन्य तथा व्युत्पत्त्यभ्यासजन्य दो प्रकार की प्रतिभाओं द्वारा काव्यरूप एक ही कार्य की सिद्धि भी कर सकते हैं। उस समय हमें काव्यरूप कार्य की भाँति प्रतिभारूप कारण को भी एक ही मानना पड़ेगा और उसके अदृष्टजन्यत्व तथा व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यत्व नामक दो पृथक्-पृथक् विशेषण न देकर एक ही सामान्य कार्यकारणभाव में यही कहना पड़ेगा कि काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभामात्र अपेक्षित है। ऐसा भी देखा जाता है कि काव्य की हेतुभूत प्रतिभा कभी-कभी व्युत्पत्ति और अभ्यास की निरन्तर साधना से भी प्रस्फुरित नहीं होती जिसका कारण यह है कि उस साधना में अपेक्षित वैलक्षण्य का अभाव रहता है, जिसे विद्वानों ने 'विशिष्ट प्रकार का पाप-प्रतिबन्ध' कहा है। वह पाप-प्रतिबन्धक जब तक दूर नहीं हो जाता, तब तक प्रतिभा शक्ति कुंठित रहती है। वह एक प्रकार का दुरदृष्ट है, जिसे सभी आचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में प्रतिभा का अवरोधक माना है। पण्डितराज ने ऐसे प्रतिभाशाली कवियों का भी उल्लेख किया है जिन्होंने किसी काल-विशेष में उत्तमोत्तम काव्यों की रचना कर उच्चतम गौरव प्राप्त किया था, किन्तु जब उनके प्रतिवादी तान्त्रिकों ने अपने मन्त्रबल से उनकी वाणी को स्तम्भित कर दिया तो उनकी प्रतिभा के विकास में बहुत बड़ा पाप-प्रतिबन्धक सा उपस्थित हो गया। आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के दुरदृष्ट प्रतिबन्धन को कपोल-कल्पना समझ कर उपेक्षित कर दिया जाये किन्तु किसी समय इस प्रकार की धारणाएँ लोकप्रचलित थीं, जिनकी वास्तविकता का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। हमारे कथन का अभिप्राय इतना ही है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभामात्र को काव्य के प्रति कारण माना है जबकि मम्मट आदि अन्य आचार्य 'शक्त्यादि-समुदित कारणतावाद' में विश्वास रखकर काव्य-कारणों का विवेचन करना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

कारयित्री प्रतिभा ही काव्यसर्जना का एकमात्र हेतु है

पण्डितराज जगन्नाथ ने कारयित्री प्रतिभा का वर्णन करते हुए केवल उसे ही काव्य-सर्जना का एकमात्र हेतु अथवा कारण निर्दिष्ट किया है। उनके अनुसार अदृष्ट, व्युत्पत्ति एवम् अभ्यास आदि तो कृतिभोत्पत्ति के केवल कारणरूप हैं। प्रतिभा की अदृष्ट उत्पत्ति के लिए उन्होंने देवता और महापुरुषों के वरदान एवम् प्रसाद आदि को स्वीकार किया है। उन्होंने बतलाया है कि किसी-किसी व्यक्ति में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के बिना भी बाल्यकाल में ही काव्य-सर्जना की प्रतिभा लक्षित होती है, जिससे स्पष्ट है कि अदृष्ट प्रतिभा ही काव्य-सर्जना का मूल हेतु है। सच तो यह है कि सहज कवि के लिए काव्य-सर्जना के मूल में प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपादान की आवश्यकता नहीं होती। संसार में ऐसे अनेक कवि हुए हैं, जिन्होंने व्युत्पत्ति एवम् अभ्यास का आश्रय

लिए बिना ही अलौकिक काव्य-सर्जन किया है, जिससे उनकी प्रतिभा का चारु चमत्कार प्रदर्शित होता है। पण्डितराज ने प्रतिभा के कारण-वर्ग में जिस 'अदृष्ट' शब्द का प्रयोग किया है वह अत्यन्त रहस्यपूर्ण और सार्थक है। मीमांसा दर्शन के अनुसार 'अदृष्ट' शब्द में जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के साथ-साथ देवताओं के वरदान का भी रहस्य अन्तर्निहित है। पंडितराज को मीमांसा-दर्शन का यही अर्थ अभिप्रेत है। उन्होंने तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यम-दृष्टम् 'तथा' बालादेस्तौ विनापि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः' कह कर यही संकेत किया है कि सहज प्रतिभा विशेषतः पूर्वजन्म के अदृष्ट का फल है। उनका विश्वास है कि काव्य-प्रतिभा की प्राप्ति में हमारी पुण्यशालिता बहुत बड़ा कारण है। इसका प्रमाण यह है कि अनेक व्यक्ति व्युत्पन्न तथा आभ्यासिक होने पर भी अपने पुण्यों के अभाव में भगवती वीणापाणि की कृपा के पात्र नहीं हो पाते। इसका यह अभिप्राय नहीं कि पंडितराज प्रतिभा के क्षेत्र में सर्वत्र 'अदृष्ट' का ही गुणगान करते हैं। उन्होंने अदृष्ट के अतिरिक्त व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को भी प्रतिभा की उत्पत्ति के स्वतन्त्र कारण माने हैं जिससे स्पष्ट है कि वे अति-वादी मीमांसक न होकर पर्याप्त अंश में नैयायिक भी थे। यद्यपि वे सहज और अदृष्ट प्रतिभा के प्रबल समर्थक थे, किन्तु उन्होंने यह बात भी स्वीकार की है कि निरंतरकृत साधना से भी काव्यकरण की शक्ति उद्भावित की जा सकती है। उन्होंने बतलाया है कि ऐसा करने पर भी यदि किसी में प्रतिभोदय न हो तो उसका कारण या तो उसके जन्मान्तर का कोई पापात्मक अदृष्ट है या काव्य प्रतिभा के स्तर के अनुरूप व्युत्पत्ति के एक विशिष्ट स्तर की अप्राप्ति। वे प्रतिभा को 'काव्यकारणतावच्छेदकता से सिद्ध जातिविशेष की अखंड' उपाधि कहकर उसकी विविधता के माध्यम से काव्य की विलक्षणरूपता प्रकट करते हुए लिखते हैं —

"प्रतिभात्वं च कविताया कारणतावच्छेदकं प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विल-क्षणकाव्यप्रतीति नात्रापि सा। न च तयोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्विना न प्रतिभोत्पत्तिस्त-त्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्। तत्र तयोस्तादृशवैलक्षण्ये मानाभावेन कारणतावच्छे-दकानवच्छिन्नत्वात् पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकस्य कल्पनादोष।"

प्रतिभा सम्पन्न कवि ही सजीव काव्य का स्रष्टा है

सजीव काव्य का स्रष्टा कवि निश्चय ही प्रतिभासम्पन्न होता है। वह अपनी प्रतिभा के प्रभाव से लौकिक अनुभवों को भी नवीन तथा लोकोत्तर परिष्कार प्रदान करता है। प्रतिभा के ही कारण कवि का व्यक्तिगत बंध अपनी 'परिमित प्रमातृता' का परित्याग कर उसे ऐसी लोकसामान्य भावभूमि पर अधिष्ठित कर देता है जो समस्त विश्व-पर्यन्त व्याप्त हो सके। उसकी प्रतीति 'स्वात्मद्वारेण विश्व तथा परयन्' के रूप में इतनी महनीय या जाती है कि उसकी चर्वणा से

आस्वाद्य बना हुआ उसका अनुभव केवल लौकिक अनुभव न रहकर उसके आत्म-तत्त्व में व्याप्त हो जाता है जिसके कारण उसका भाव-जीवन अपनी सहज क्रिया में अभिव्यक्त होकर सहृदयमात्र का भावालोक बन जाता है। सच तो यह है कि जब तक कवि के भाव-जीवन में इस प्रकार की आत्मविश्रांति नहीं आती, तब तक वह उसे शब्दार्थ रूप काव्य का अभिधान प्रदान कर ही नहीं सकता। उसकी मन स्थिति में निर्मित काव्य के शब्दार्थरूप भले ही लौकिक हों, किन्तु वे कवि की आत्मसहज वाणी का आधार पा कर विश्वव्यापक प्रतीति कराने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। महर्षि वाल्मीकि का 'शोक' जिस प्रक्रिया से 'श्लोकत्व' को समागत हुआ, यह इस कथन का जीवन्त प्रमाण है।

प्रतिभाशाली कवि के लिए काव्य की मौलिक सर्जना सदैव सम्भव है

काव्य-सर्जना की मौलिकता के विषय में विद्वानों में प्रबल मत विरोध है। जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति काव्य-सर्जना के प्रति भी निराशावादी दृष्टिकोण लेकर चलने वाले विद्वानों का कथन है कि प्राचीन कवियों ने अपने प्रतिभा-प्रकर्ष द्वारा काव्यपथ को इतना अधिक प्रक्षुण्ण कर दिया है कि उसकी कोई भी वर्णनीय वस्तु उनके अलौकिक, तीक्ष्ण और सूक्ष्म दृष्टिकोण से अस्पृष्ट नहीं रह सकी है। ऐसे विचारकों के मतानुसार काव्यविषयों के मौलिक प्रतिष्ठान के लिए कोई क्षेत्र ही अवशिष्ट न होने के कारण नवीन कवियों के लिए केवल इतना ही सम्भव है कि वे पुरावर्णित काव्य-वस्तु को अपनी अभिव्यंजन-कला द्वारा सुसस्कृत और सुसज्जित करने के प्रयत्न में ही तत्पर रहें। काव्य की अजस्र और चिरंतन धारावाहिकता का विचार करने पर विचारकों के उक्त कथन में सत्य का अन्वेषण करना कोई कठिन कार्य नहीं है, किन्तु यह मत अपनी एकांगिता का उद्घोषण भी स्वतः कर देता है। वस्तुतः वाणी का स्रोत असीम और अनन्त है और सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अद्यावधि अनेक कवियों द्वारा उसका निरंतर प्रसार किये जाने पर भी उसकी नित्य-नूतनता में कोई क्षति हुई हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। सृष्टि के उद्भव और विकास की भाँति कविप्रतिभा में भी मौलिक प्रस्फुरण के असंख्य रहस्य अन्तर्निहित हैं जिनका व्यावहारिक परीक्षण करना सुगम कार्य नहीं है। तत्त्वदृष्टि से काव्य के वर्ण्य विषयों की इयत्ता तथा परिसीमा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रतिभाशाली कवियों ने वाणी के अविच्छिन्न, निर्बाध और अनादि स्रोत से अनेक प्रकार के मौलिक तत्व ग्रहण किये हैं, कर रहे हैं और भविष्य में भी करेंगे। किसी काव्यकार अथवा विवेचक को काव्य-विषयों की परिसीमा लक्षित होती है तो उसका एक प्रमुख कारण उसका दृष्टि-संकोच अथवा सीमित अनुशीलन है। काव्य-सर्जना की मौलिक स्पृहा लेकर चलने वाले काव्यकारों का कर्तव्य है कि वे अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियों की कृतियों का सम्यक्रीत्या

अध्ययन करें जिससे उनकी प्रतिभा और काव्यशक्ति का अभिनव परिष्कार एवं नूतन उन्मेष हो। हमारे व्यावहारिक अनुभवों से भी सिद्ध है कि अन्य कवियों की रचनाओं का निरन्तर अवगाहन करने से अध्येता कवियों को इस विषय का ज्ञान हो जाता है कि एक ही प्रकार के भावों का भिन्न भिन्न कल्पनाओं और प्रणालियों से किस प्रकार अभिव्यंजन किया जाता रहा है। उक्त अनुशीलन से उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा में कोई मौलिक कल्पना अथवा नवीन संवेदना की भी सृष्टि हो सकती है। इस प्रकार का काव्यानुचिंतन काव्य-निर्माताओं को अनेक नवीन विषयों का उद्बोधन भी करा सकता है। सम्भव है, पुरातन कवियों के भाव-चित्र नवीन कवियों के मानस पटल पर ऐसी रहस्यमयी कल्पना-छवियाँ रेखांकित कर दें जिनके कारण वे अभिनव उद्भावनाओं की क्रिया में सफल हो हो सकें। यों तो तत्त्वद्रष्टा महात्माओं की भाँति सूक्ष्मदर्शी कवियों के चिन्तन में भी समभाव का प्रस्फुरण होना स्वाभाविक है और वे देशकाल की परिधि से विमुक्त होकर विश्वात्मभाव की सी अनुभूति करते हैं जिसमें यद्यपि किसी भी प्रकार का आदान-प्रदान नहीं होता तथापि उनका पारस्परिक विचार-विनिमय अथवा अध्ययन-अनुशीलन किसी-न-किसी प्रकार की नवीन उद्भाविका सामग्री भी प्रदान कर सकता है। ऐसी स्थिति में काव्य सर्जना के प्रति आशामयी आस्था रख कर ही चलना श्रेयस्कर है।

प्रतिभाशाली कवि का सामाजिक दायित्व और गौरव

कहने के लिए हम काव्यकृति को आत्माभिव्यक्ति की परिसीमा में भले ही नियमित कर दें। किन्तु उसकी सामाजिक उपयोगिता की कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार प्रतिभाशाली कवि का व्यक्तित्व सामाजिक पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकता, उसी प्रकार काव्य कृति भी सामाजिक संस्पर्श से विहीन नहीं रह सकती। यही कारण है कि काव्य-रचनाओं का परीक्षण करते समय उनके सामाजिक पक्ष का विचार प्रारम्भ ही से किया जाता रहा है। प्राचीन आचार्यों का तो मत था कि काव्य-प्रबन्ध की समाप्ति के पश्चात् उसका प्रचार ऐसे रूप में होना चाहिए जिससे वह सभा-समाजों, विद्वद्वर्गों और सहृदयजनों के हृदय तक पहुँचे और वे उसका तात्त्विक मूल्यांकन कर सकें। महाकवि कालिदास ने इसी दृष्टिकोण के कारण 'आपरितोषात् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्' लिखा है। अपने काव्य को अधिकाधिक उदात्त और समाजग्राह्य बनाने के लिए कवि को अनवरत साधना करनी पड़ती है। कवियों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसे दुर्व्यसनों से दूर रहें जो काव्य के पुनीत पथ में बाधक हों। काव्य निर्माण के समय कवि की मनःस्थिति किसी भी समाधिस्थ योगी से कम नहीं होती, अतः उसे अपने दायित्व की गुरुता का अनुभव कर काव्य-निर्माण की क्रिया में किसी भी प्रकार

या प्रमाद नहीं करना चाहिए। श्रेष्ठ कवियों की रचनाएँ न केवल विद्वद्समाज के कण्ठों की ही एकावली होती हैं, अपितु वे अपनी प्रकृष्टता के कारण कवियों में भी ऐसी शक्ति का संचार करती हैं, जिनके द्वारा उनकी प्रतिभा का परिष्करण और काव्य-सौंदर्य का संवर्धन होता है। वस्तुतः काव्यनिर्माण भी एक प्रकार की तपस्या है जिसकी सिद्धि के लिए कवि को निरालसभाव से कर्मतत्पर रहना वाञ्छनीय है। जीवन के महासागर का पान करने के लिए कवि को अगस्त्य की भाँति ही आक्रोशपूर्ण उत्तेजना में नहीं आना है अपितु उसके क्षार को भी सहर्ष ग्रहण कर अपनी सर्जना के रूप में अमृत-निष्यंदिनी जीवन-धारा प्रदान करना है। कवि के कण्ठ से उतर कर जीवन का विष भी उसे भगवान शंकर की सी नीलकण्ठता प्रदान करता है। वह अपनी मुक्तक रचनाओं में ही महान् नहीं होता, अपितु प्रबन्ध-काव्यों की व्यापकता में भी विभुतापूर्ण होता है। अपनी दिव्य शक्ति के कारण ही वह 'कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भू:' पद का अधिकारी बना है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही से उसे समाज ने अमर सम्मान प्रदान किया है। उसे न केवल राजसमाजों में ही प्रतिष्ठा मिली है अपितु वह जनता-जनार्दन के हृदय-सिंहासन पर प्रीतिपूर्ण समादर प्राप्त कर सका है। भारतीय समाज ने उसके गुणों की परीक्षा करने के उपरांत उसे सृष्टिकर्ता विधाता के समकक्ष माना है। भारत में लिंग और वय की ओर ध्यान न देते हुए गुण ही को पूजास्थान माना गया है और इसी नीति के आधार पर कवियों को भी अलंकृत किया है। राजशेखरकृत काव्यमीमांसा में प्रकट है कि प्राचीन काल में उज्जयिनी में काव्यकारों की परीक्षा होती थी तथा पाटलिपुत्र में शास्त्रकारों की। उन परीक्षाओं में उत्तम कोटि की सफलता प्राप्त करने के कारण ही कालीदास, आर्यसूर, भारवि, हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त जैसे कवि काव्यकारों की महिमामयी श्रेणी में प्रतिष्ठित किए गये थे तथा उपवर्ष, पाणिनि पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि को शास्त्रकारों की परीक्षा में सफलता प्राप्त करने का गौरव उपलब्ध हुआ था।

प्रतिभासम्पन्न सारस्वत कवि सर्वत्र वरेण्य है

प्रतिभाशाली कवि का दृष्टिकोण अत्यंत गम्भीर और व्यापक होता है। उसके लिए न तो काव्योचित वर्ण्य विषयों की कमी है और न अभिव्यंजना-शिल्पों तथा कल्पना-चमत्कारों की ही न्यूनता है उसके कर्तृत्व-कौशल को देखते हुए न तो यह कथन ही उचित प्रतीत होता है कि काव्य का जो कुछ भी वर्ण्य है, वह प्राचीन कवियों ने चित्रित कर दिया है और न यह मान्यता ही युक्तिसंगत लगती है कि केवल दूसरों की कृतियों का आकलन करने से ही काव्यशक्ति का उन्मेष होता है। हमारा तो विश्वास है कि जगन्नियन्ता परमेश्वर ने कवि को ऐसा ज्ञानमय सारस्वत चक्षु प्रदान किया है। जिसके द्वारा वह मन और वाणी

से अगोचर समाधि लगा कर इस विषय का सहज बोध कर लेता है कि काव्य के लिए कौनसा विषय अस्पृष्ट है। भारतीय जीवन की आस्तिक भावना ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि भगवती वीणापाणि के असीम और अलौकिक अनुग्रह से उसके कृपापात्र महाकवियों को सुषुप्ति अवस्था में भी काव्यरचनानुरूप शब्दों और अर्थों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति दिव्य कवित्वशक्ति से विहीन हैं, वे जाग्रत अवस्था में भी अप्रचक्षु हैं। सारस्वत कवियों की यह अद्वितीय विशेषता होती है कि जिन विषयों पर अन्य कवियों ने लिखा है उन्हें वे उच्छिष्ट तथा दूषित समझ कर त्याग देते हैं और उनकी दिव्य दृष्टि ऐसे-ऐसे नवीन तत्वों की ओर प्रभावित होती है जिनकी कल्पनाएँ करना भी अन्य कवियों के लिए सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि अपनी सृजन-वेला में रससिद्ध कवि महर्षि बन जाते हैं और भगवान शंकर की भाँति उनका ज्ञानमय तृतीय नेत्र सांसारिक परिलिप्तताओं और स्वार्थमय बन्धनों को छिन्न कर ऐसी दिव्य आभा विकीर्ण करता है जिससे योगियों की समाधि और मधुमती भूमिका की स्थिति आ जाती है। महाकवियों के मतिदर्पण में समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है और उनके सम्मुख शब्द और अर्थ परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना रख कर अहंपूर्विकावृत्ति से उपसर्पण करते हैं। वस्तुतः जिन विषयों को समाधिसिद्ध योगी दिव्य दृष्टि से देखते हैं, उन्हीं विषयों में हमारे रससिद्ध कवि-जन वाणी द्वारा विचरण करते हैं। प्रतिभासम्पन्न महाकवियों की इन अलौकिक विशेषताओं का पूर्ण विवेचन करना असम्भव सा है, अतः हम उन्हें सभी स्थितियों में वन्दनीय समझ कर उनके प्रति अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करके ही सन्तोषलाभ करना पर्याप्त समझते हैं।

15

भारतीय जीवन-दर्शन और काव्य

'दर्शन' शब्द के मूल में 'दृश्' धातु है जिसका अर्थ है देखना। सामान्यतया दर्शन शब्द इन्द्रियजन्य निरीक्षण का वाचक है, किन्तु उसके अंतर्गत हमारे प्रत्यय ज्ञान अथवा अंतर्दर्शन का भाव भी सन्निहित है। उसका सम्बन्ध घटनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण, तार्किक परीक्षण तथा आत्मदृष्टि से भी है। तथाकथित दर्शन-शास्त्र की आलोचनात्मक प्रवृत्तियों तथा पद्धतियों के साथ-साथ जीव, जगत् प्रकृति, माया, आत्मा और परमात्मा आदि से सम्बद्ध अनेक प्रकार की धारणाओं का विवेचन भी उसके अंतर्गत आता है। उसका तात्विक सम्बन्ध हमारे अन्तर्दृष्टि-जन्य अनुभव से विशेष रूप में है जिसकी पुष्टि तार्किक प्रमाणों द्वारा की जाती है। द्वैत से अद्वैत की ओर अग्रसर होने के जितने भी मार्ग हैं, वे सब दर्शनशास्त्र की विशाल परिधि में समाविष्ट होते हैं। सभी देशों के वाङ्मय में दर्शन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं। इस क्षेत्र में भारतीय दृष्टि का महत्व सर्वोपरि कहा जा सकता है। यहाँ के धर्मनिष्ठ महात्माओं ने प्राचीन काल से ही परब्रह्म का साक्षात्कार करने की भावना से जीवन और जगत् की जिन समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा की है, वह उनके आत्मतत्व का एक ऐसा उज्ज्वल प्रकाश है जो विश्वात्मरूप के साथ तादात्म्य स्थापित करने की दिशा में सफल हो सका है। यहाँ के धार्मिक अनुष्ठानों और क्रिया-कलापों ने दर्शनशास्त्र की विविध सरणियों को स्फूर्तिदायिनी प्रेरणाएँ प्रदान की हैं। यहाँ का दर्शन जीवन की अंत:सलिला के साथ प्रवाहित रहा है जिसकी प्रबुद्धता और आत्म-चेतना शतशः वंदनीय है। उसे प्रारम्भ ही से तर्कमिश्रित आस्था का बल प्राप्त है जिसका प्रसार अनेकविध दार्शनिक प्रवृत्तियों में हुआ है। सांख्य, योग, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा, न्याय और वेदांत के अतिरिक्त जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शनों की गम्भीर तथा व्यापक रहस्यमयता की अनुभूति जिन प्रमाताओं ने की है, वे इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि भारतीय मनीषा ने जीवन के लौकिक तथा पारलौकिक तत्वों का अनुसंधान करने में अपनी साधना का सदुपयोग कितनी दृढ़ता और निष्ठा के साथ किया था। यहाँ के धार्मिक जीवन ने न केवल सामाजिक आदर्शों का निर्माण करने में ही अपना सहयोग दिया है अपितु वह उदार दृष्टिकोण से भी परिप्लावित रहा है जिसकी व्यापकता में इसी प्रकार के मत-

वादियों को अभीष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। जो लोग भारतीय जीवन-दृष्टि को संकुचित और एकांगिता मानते हैं, वे इस तथ्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं कि उसके अनेकत्व में भी एकत्व तथा विविधता में भी एकात्मता के भाव सन्निहित हैं। यदि ऐसा न होता तो यहाँ की दिव्योपम भूमि में आस्तिक तथा नास्तिक, भौतिकवादी और आनन्दवादी, हेतुवादी और स्वतन्त्र तथा समन्वयवादी और विधर्मी आदि सभी प्रकार के विचारकों को समानुपातिक रूप से एक सा महत्त्व और गौरव प्राप्त नहीं होता।

भारतीय जीवन में दर्शन अथवा तत्वमीमांसा का स्वतन्त्र एवं प्रमुख स्थान रहा है। प्राकृतिक परिस्थितियों की अनुकूलता तथा जीवन-संग्राम की सरलता ने यहाँ के तत्ववेत्ता महर्षियों को गूढ़ार्थ चिन्तन के प्रति विशेष आकृष्ट किया है। यूनान तथा रोम आदि पश्चिमी देशों के विशेष कालों में जहाँ दर्शन को राजनीति, नीतिशास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान तथा परमार्थ विद्या की विविध सरणियों में विवेचित किया गया था, वहाँ भारतीय विचार धारा में वह सर्वथा आत्म-निर्भर, स्वतन्त्र और ज्ञान-विज्ञान की अनेकविध शाखा-प्रशाखाओं के लिए मार्गदर्शक बनकर उपस्थित हुआ। मुण्डकोपनिषद् में उसे 'ब्रह्म विद्या' के नाम से व्याख्यात कर समस्त विज्ञानों का आधार अथवा सम्पूर्ण विद्याओं का प्रतिष्ठापक कहा गया है जिसके द्वारा उसका सर्वोपरि स्थान स्वत: ही सिद्ध हो जाता है। भारत के महान् नीतिकार चाणक्य ने आन्वीक्षिकी के नाम से दर्शनशास्त्र की विवेचना करते हुए उसे अन्य सम्पूर्ण विषयों का प्रदीप तथा समस्त कर्तव्य-कर्मों का पथ-प्रदर्शक माना है जिसका समर्थन श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा भी किया जा सकता है। वस्तुत: दर्शन किसी भी देश अथवा जाति के सांस्कृतिक विकास का नवनीत अथवा अमृतोपम निष्यन्द है जिसके द्वारा हम उसके बौद्धिक तथा आध्यात्मिक स्तर का परीक्षण कर सकते हैं। भारतीय जीवन के विकास-क्रम का आलोचनात्मक अध्ययन करने से यह तथ्य स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के 'दर्शन' की आध्यात्मिकता ने भारतीयों को कठोरतम परिस्थिति में भी धैर्य-स्खलित होने से रोका तथा बड़े-बड़े राजनीतिक विप्लवों और सामाजिक आन्दोलनों के वात्याचक्रों से भी वे प्रकम्पित होने से बचे रहे। असत्य का बहिष्कार तथा 'सत्यमेव जयते' की प्राण-प्रतिष्ठा करने में यहाँ की दार्शनिक उपलब्धि किसी भी सशक्त चेतना से कम स्फूर्तिदायिनी नहीं रही है। पराधीनता के वातावरण में जिस भक्ति-साधना की अजस्र पयस्विनी ने यहाँ के गुरुग्राम मानस में आशा की जिन आनन्दलहरियों का सञ्चार किया, वे यहाँ की दार्शनिक प्रतिपत्तियों का मूल रस लेकर के ही तो उद्वेलित हुई थी। गीता और उपनिषदों का तत्वज्ञान तथा पुराणों और महाकाव्यों के आख्यान अपनी ऊर्ध्वमुखी कल्पनाओं द्वारा जिन रूपों में भारतीय मानस का आह्लादन

करते रहे हैं, वे सब यहाँ के दर्शन के आत्मचिंतन के ही तो सुफल हैं। यहाँ के सांस्कृतिक आन्दोलन और सामाजिक सुधार भी दर्शन की भूमिका से अस्पृष्ट नहीं हैं। यहाँ तक कि भारतीय जीवन में जिस प्रकार की सहिष्णुता, सर्वभूत-हितैषणा तथा कर्मवादी विचारधारा का प्रावल्य सचारित है, वह सब यहाँ की दर्शनशास्त्रीय मान्यताओं का ही प्रसाद है। कुछ विद्वानों ने भारतीय धर्मसाधना को रूढ़िग्रस्त तथा हठवादितापूर्ण कहकर उसे दुराग्रहमूलक सिद्ध करने की चेष्टा की है, किन्तु जो तत्वमीमांसक उसके प्रकृत स्वरूप से परिचित हैं, वे इस बात को भली-भाँति जानते हैं कि यहाँ की धर्मसाधना कभी भी एकांगी और पूर्वाग्रही नहीं रही अपितु यहाँ की तत्वमीमांसा में 'धर्म' एक ऐसा युक्तियुक्त संश्लेषण रहा जिसने दार्शनिक प्रगति के साथ-साथ अपने अंतर्जीवन में नित्य-नूतन विचारों का अभिनवेश करने में सकोच नहीं किया। यहाँ के धार्मिक आन्दोलन केवल वायवी कल्पनाओं अथवा निराधार आस्थाओं के प्रतिफल न होकर ठोस तर्कभूमि पर अधिष्ठित रहे हैं, जिनके मूल में कोई-न-कोई दार्शनिक विचारधारा अनुप्राणित रही है। सच तो यह है कि यहाँ की धर्मसाधना में जब-जब जड़वादी दृष्टिकोण का प्राधान्य हुआ तब-तब बुद्ध, महावीर, व्यास और शंकर प्रभृतियुग पुरुषों ने भारत वसुधरा पर अवतीर्ण होकर यहाँ के धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में नवीन उत्क्रांतियों की जिनके फलस्वरूप यहाँ का सांस्कृतिक जीवन पुन-रुत्थान की लहरियों से आन्दोलित हो उठा। गीता के महान् उपदेशक भगवान श्रीकृष्ण ने धर्म की ग्लानि तथा अधर्म के अभ्युत्थान की वेला में अवतारवाद के जिस सिद्धान्त का समर्थन किया है, वह इस तथ्य का प्रतीक है कि भारत में धर्म का स्वरूप मानवकर्तव्यों का निर्देशक और लौकिक अभ्युदय के साथ-साथ निःश्रेयस सिद्धि का प्रतिष्ठापक रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय जीवन के सांस्कृतिक निर्माण में धर्म, समाज और दर्शन की दिव्योपम त्रिवेणी ने जो सहयोग प्रदान किया है, वह यहा के काव्य-साहित्य के शब्दार्थों में प्रवाहित है और जब तक उसका अतर्बोध नहीं किया जाता, तब तक भारतीय वाङ्मय की मूल चेतना सहज भाव से आत्मसात् नहीं की जा सकती।

यों तो भारतीय मस्तिष्क तथा जीवन-दर्शन की प्रखर रश्मियाँ ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों के बाह्य तथा आभ्यंतर स्वरूप को आलोकित करने की दिशा में प्रयासतत्पर रही हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा उसने जीवन का चरम लक्ष्य 'आत्मज्ञान सिद्धि' के सिद्धान्त में ही स्वीकार किया है। तर्क शास्त्र, व्याकरण, अलंकार, भाषा-विज्ञान, ज्योतिष, आयुर्विज्ञान, प्राणिशास्त्र, भौतिकी तथा कलाओं के विविध आयामों में परिभ्रमण करने के पश्चात् भारतीय दृष्टि ने ब्रह्मविद्या अथवा दर्शनशास्त्र की अध्यात्म-चेतना को ही जीवन का परम साध्य निर्णीत कर उसे अपने ज्ञान-चक्र का केन्द्र माना है। यहाँ का कोई भी शिल्प, ज्ञान कला-

कौशल तथा विषय ऐसा नहीं कहा जा सकता जिसका पर्यवसान आत्मविद्या में न हुआ हो। ज्ञान, कर्म और उपासना का अन्तरतम रहस्य उसी के तत्वबोध में सफलतामयी चरितार्थता प्राप्त करता रहा है। मन की चेतन, अचेतन और अवचेतन क्रियाओं के साथ-साथ बुद्धि और अन्तःकरण की जितनी भी स्थूल और सूक्ष्म वृत्तियाँ हो सकती हैं, वे सब उसके परिपार्श्व में सन्निहित होकर ही अपनी जीवनगत उपयोगिता सिद्ध कर सकी हैं। पश्चिम के मानस-विज्ञान द्वारा प्रस्तुत आधार-सामग्री में इतनी शक्ति अथवा क्षमता नहीं जो उसके अनंत प्रसार का अन्तर्विरोध कर सके। जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति का जो अंतर्विज्ञान भारतीय मस्तिष्क ने प्रस्तुत किया है, वह अद्भुत और विस्मयकारी है। गणित, यन्त्र, भौतिकी और ज्योतिष के चमत्कारों की समता में विश्व का कौन-सा प्राचीन देश भारत के अतीतकालीन गौरव में प्रतिष्ठित किया जा सकता है ? यहाँ के मस्तिष्क की विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक प्रक्रियाओं ने विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में जो उपलब्धियाँ की हैं, वे देश-विदेश के मूर्धन्य विद्वानों द्वारा प्रशंसित और प्रस्तुत हुई हैं। यहाँ हमें इस विषय का व्यापक और गम्भीर विवेचन करना अभीष्ट नहीं है कि भारतीय मस्तिष्क ने स्थूलातिस्थूल विषयों से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों तक अपनी उर्वरा शक्ति का प्रभाव और प्रसार कितनी चमत्कृति के साथ प्रदर्शित किया था। हम तो इस प्रसंग में केवल इतना संकेत करना ही पर्याप्त समझते हैं कि भारतीय काव्य-साहित्य तथा वाङ्मय का अध्येता जब तक भारतीय हृदय और मस्तिष्क की मूल वृत्तियों से परिचित नहीं हो जाता, तब तक न तो वह यहाँ के काव्य-साहित्य के निर्माण की सहज प्रेरणाओं को ही मानसगम्य कर सकता है और न उसके आस्वाद-विमर्श के मर्म को ही जान सकता है। भारतीय काव्य के स्वरूप-बोध की विवेचना के पूर्व भारतीय ज्ञान-विज्ञान और जीवन-दर्शन की विविध प्रक्रियाओं और प्रणालियों का जितना अधिक निकटवर्ती अभिज्ञान हमें प्राप्त होगा उतना उतना ही अधिक सुस्पष्ट अन्तर्बोध करने में हम समर्थ हो सकेंगे।

भारतीय काव्य के रूप-निर्माण में यहाँ की प्राकृतिक स्थिति ने पर्याप्त योगदान किया है। यहाँ की दिव्योपम प्रकृति ने यहाँ के निवासियों को न केवल जीवन-निर्वाह के भौतिक साधनों की प्रचुर सामग्री ही प्रदान की है, अपितु उन्हें एक सुदीर्घ काल-पर्यन्त विदेशी आक्रमणों से अनाक्रान्त भी रखा है जिसके कारण वे अपना शांत और निर्द्वन्द्व जीवन व्यतीत करने में समर्थ हुए हैं। नगाधिराज हिमालय अपनी सघन पर्वतमालाओं और उत्तुंग शिखर-राशियों से जहाँ उदीची दिशा में एक अटल प्रहरी के रूप में देश का संरक्षण करता रहा है तो दक्षिण की ओर अनंत लहर में विस्तीर्ण महासागर उसके चरणों का प्रक्षालन करता हुआ एक कर्मनिष्ठ सेवक की भाँति अपने कर्त्तव्यपालन में सतत जागरूक रहा है।

प्रकृति की सहज उदारता और अनुकम्पावश यहाँ के निवासियों के लिए न तो खाद्य पदार्थों का अभाव रहा और न वे कठोर परिश्रम और जीवन-संघर्ष के जटिल प्रश्नों में ही संग्रस्त हुए। यहाँ के स्वर्णिम अतीत काल में लोगों को इस बात का विशेष अनुभव ही नहीं हुआ कि संसार भी एक ऐसा युद्ध-क्षेत्र है जिसमें शक्ति, सम्पत्ति और प्रभुत्व की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना पड़ता है। यहाँ के मनीषियों का उर्वर मस्तिष्क प्रकृति के गर्भ से अधिकाधिक लाभसाधन प्राप्त करने तथा संसार की शक्तियों को नियंत्रित रखने की दिशा की ओर किसी भी प्रकार की लोभवासना से आकृष्ट नहीं हुआ तथा वे भौतिकता की नश्वर तथा ससीम मृग-मरीचिका के चंगुल में फँस कर अपनी आत्म-शक्ति के प्रस्फुरण में ही विशेषतः दत्तचित्त रहे। वस्तुतः यहाँ की सभ्यता और संस्कृति का विकास प्रेमापगा सरिताओं के सुरम्य पुलिनों पर अधिष्ठित उन वन-प्रदेशों में हुआ है, जहाँ के सघन कुंजों और उन्मुक्त पर्यावरणों ने उन्हें आत्मविश्रांति के क्षणों में श्रेयसवलित आत्मचिंतन की प्रभूत प्रेरणाएँ प्रदान की हैं। निश्चय ही प्रकृति का वह पुनीत प्रांगण शोकविदग्ध मानसों के प्रात्यर्थ सुशीतल वारिधारा का अजस्र प्रवाह बन कर उनके लिए आनन्ददायक अनुलेपन का रूप रहा है, जहाँ पर उन्होंने बलात जीवन की कर्मसंकुलता से परित्राण प्राप्त किया है। भारतीय संस्कृति के क्रोड में सन्निहित तीर्थयात्राओं का यह भी तो एक मूलवर्ती रहस्य है, जिसे सुसम्पन्न कर यहाँ के निवासी 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' का स्तोत्र-निनाद करते हुए समस्त देश का परिभ्रमण करने में जीवन की सार्थकता और पुरुषार्थ-चतुष्टय की उपलब्धि का श्रेय प्राप्त करते रहे हैं। प्रकृति का शुचितापूर्ण वाता-वरण और उसकी साधन-सम्पन्नता, जीवन की सुरक्षित स्थिति और चिन्ता-विमुक्ति तथा दायित्व निर्वाह की सरस विवृति तथा परमार्थ-भावना ने यहाँ के जीवन-दर्शन पर जो अमिट छाप अंकित की है, वह भारतीय काव्य-साहित्य की आधाररागिनी कही जा सकती है।

आज के भौतिक संघर्ष और वस्तुपरक दृष्टिकोण ने भारतीय जीवनदर्शन के विविध रूपों को भले ही अभिभूत कर लिया हो, किन्तु यह एक सुदृढ़ सत्य है कि उसकी मूल चेतना और आभ्यंतरिक शक्ति निश्चय ही अध्यात्म-परक है। यहाँ के वाङ्मय के अनन्त विस्तार में जिन दार्शनिक प्रतिपत्तियों का अनुगुम्फन सहज वृत्ति से उपलब्ध होता है, वह इस तथ्य का संसूचक है कि भारतीय मनीषियों का अधिमानस केवल क्षुधा और काम की भौतिक तृप्ति पर्यन्त ही सीमित न रह कर उस लोकोत्तर भूमि में भी विचरण करने के लिए सदैव लालायित रहा है जो जीवन का परम प्राप्य और प्रेयमय श्रेय प्रदान करने में उपजीव्य निधि का कार्य करती रही है। भारतीय जीवन-दर्शन के आन्तरिक तत्वों से अपरिचित अथवा अर्द्धपरिचित व्यक्ति उसे केवल मिथ्यापरक तथा

अकर्मण्य कहकर उसका उपहास कर सकते हैं, किन्तु जिन विचारकों ने उसकी आन्तरिक व्यवस्थाओं को बुद्धिगम्य एवम् हृदयगम किया है, वे उसकी अद्भुत उपलब्धियों के प्रति श्रद्धावनत हुए बिना नहीं रह सकते। यहाँ का काव्य-साहित्य तो भारतीय दर्शन की तत्वमीमांसा की सुविज्ञता के बिना पूर्णरूपेण स्पष्ट किया ही नहीं जा सकता। वस्तुतः भारतीय दर्शन की इस मौलिक विशेषता का परीक्षण उसके वेदकालीन वाङ्मय से लेकर आधुनिककालीन काव्य-साहित्य के विकासानुक्रम की परम्परा के आधार पर किया जा सकता है। सच तो यह है कि भारतीय विचारधारा में बौद्धिक दर्शन अथवा आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि का उदात्त स्वरूप ऐसी गरिमा से अभिमंडित है जिसकी समता के उदाहरण मिलने विरल हैं। मैंने इस तथ्य का सर्वेक्षण सांभिप्राय दृष्टिकोण से करते हुए इस बात का उल्लेख करना आवश्यक समझा है कि वाङ्मय के अनुक्रम से विकसित भारतीय साहित्य का स्वरूप तब तक वैशद्यपूर्वक विधि से स्पष्ट नहीं किया जा सकता, जब तक यहाँ की अध्यात्म चेतना का सम्यक् ज्ञान उसके जिज्ञासु अध्येताओं को न हो। निश्चय ही वैदिक ऋषियों की देवोपम वाणी, उपनिषदों की रहस्यमयी सूक्तियाँ तथा महाकाव्यकाल की व्यापक जीवन दृष्टि में जो लोकोत्तर चमत्कार विद्यमान है, वह परवर्ती काव्य-साहित्य के विकास-चरणों के लिए सतत प्रेरणा का विषय रहा है। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व है, जिसका चिन्तनपूर्ण बोध किये बिना भारतीय जीवन-दर्शन और काव्य-साहित्य की भूमिका स्पष्ट की ही नहीं जा सकती।

